हिमाचल के मंदिर और उनसे जुड़ी लोक-कथाएं

एस० आर० हरनोट

मिनर्वा बुक हाउस
शिमला

प्रथम संस्करण 1991

ISBN 81—85573-01—8

प्रकाशक :
मिनर्वा बुक हाऊस
46, दा माल
शिमला

मुद्रक : संगीता प्रिन्टर्स
मौजपुर, दिल्ली-53

हिमाचल के मन्दिर
और
उनसे जुड़ी लोक-कथाएं

पिताजी के लिए

जो अब नहीं रहे

प्राक्कथन

किसी भी क्षेत्र के लोगो के बारे में जानकारी हासिल करने का सबसे अच्छा तरीका उनकी कला और स्थापत्य का सांगोपांग अध्ययन होता है। लेकिन कलात्मक अतीत की पहचान हम तभी कर सकते हैं जब किसी भी तरह का पूर्वाग्रह हममें न हों वस्तुत: कला को उसके गम्भीर प्रयोजन के प्रकाश में ही देखा जाना चाहिए।

हिमाचल प्रदेश के लोगों की सृजनात्मक शक्ति का परिचय हमें उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति में मिलता है जिसका सम्प्रेषण प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल में भारत के मैदानों और मध्य एशिया से पहाड़ों की ओर आने वाली जातियों ने किया। किसान जब हिमाचल की घाटियों में बसे तो अपने साथ सिन्धु घाटी की समृद्ध कला परम्पराओं को लाए और मध्य एशिया से आने वाले खश अपने साथ मध्य एशिया के प्रकरण। इनके बाद शक, कुषाण, हुण, गुज्जर और कई अन्य लोग आए। आक्रान्ताओं की हर लहर अपने पीछे जाति, धर्म, भाषा और रीति-रिवाजों के चिह्न छोड़ती गई जो कालान्तर में इस भूमि के सांस्कृतिक जीवन से एकाकार होते चले गए। इस तरह हर बात ने, चाहे वह बाहर से ग्रहण की गई हो अथवा यहाँ की मौलिक हो, अपनी धरती पर जड़ें पक्की कर दीं, और जैसे-जैसे समय बीतता गया, एक परम्परा के रूप में वह पुष्पित और पल्लवित होती गई।

हिमाचल प्रदेश आदिकाल से ही बाहरी आक्रमणों से बचा रहा, जिसके फलस्वरूप यहाँ का इतिहास, मूल संस्कृति, कला और वास्तुशिल्प अपने मूल रूप में सुरक्षित रहे। आंशिक परिवर्तन के उपरान्त यहाँ की वास्तुकृतियां आज दो हजार सालों के बाद भी वैसी-की-वैसी ही हैं। इनका अति प्रारम्भिक स्वरूप हमें प्राचीन मन्दिरों में मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसमें जहां हिमाचल प्रदेश के लगभग 180 से भी अधिक मन्दिरों के स्थापत्य पर प्रकाश डाला गया है वहां इनसे जुड़ी लोक-कथाओं ने इस कृति को अत्यधिक रोचक बना दिया है।

—मिया गोवर्धन सिंह

भूमिका

सांस्कृतिक धरोहर से जुड़े कुछ सवाल

पुस्तक-शीर्षक से जुड़े तीन शब्दों—'हिमाचल', 'मन्दिर' और 'लोक-कथाएँ' का यदि एक व्यापक परिदृश्य में मूल्यांकन करें तो इनमें हिमाचल प्रदेश की समग्र कला, संस्कृति और इतिहास समाहित हैं। यह कतई सम्भव नहीं है कि एक ही पुस्तक में एक साथ सांस्कृतिक धरोहर के इस विशाल समुद्र को उड़ेला जा सके। इन विषयों पर कई शोधात्मक कृतियाँ लिखी जा सकती हैं। लेकिन इतना अवश्य है कि जिस किसी के हाथ भी यह पुस्तक जाएगी वह अपने अध्ययन और शोध के लिए एक मार्ग अवश्य चुन सकेगा। उसके मन में एक साथ हिमाचल प्रदेश की कला, वास्तु शिल्प, संस्कृति, इतिहास, रीति-रिवाज और इसके प्राकृतिक सौन्दर्य को लेकर अनेकों सवाल उठ जाएँगे।

—और इन सवालों के उत्तर ढूंढना सहज नहीं है। क्योंकि यदि आप इस प्रदेश के सौन्दर्य का अवलोकन करना चाहते हैं तो आपको निरन्तर, लाहौल-स्पिति और मणिमहेश जैसे दुर्गम स्थानों की यात्राएँ करनी पड़ेगी और यदि इस प्रदेश की कला, शिल्प, इतिहास और संस्कृति का अध्ययन करना चाहते हैं तो इसके लिए बहुत से सन्दर्भ ग्रन्थों इत्यादि की आवश्यकता होगी। लेकिन यह सभी कुछ हद तक दुर्लभ है। ऐसा नहीं कि इन विषयों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं हैं परन्तु उसकी उपलब्धता आसान नहीं है। इन्हें प्राप्त करना 'मणिमहेश झील में मणियों को ढूंढने' जैसा है। उदाहरण के लिए यदि आप राहुल सांस्कृत्यायन की 'किन्नर देश' या कृष्णनाथ जी की 'किन्नर धर्मलोक' पढ़ना चाहें तो इन्हें प्राप्त करने के लिए शोध जैसा कार्य ही करना पड़ेगा। और भी कई ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं जो सहजता से मिल ही नहीं पाएँगी। यदि कुछ हैं भी तो आम लोगों के लिए उनकी कीमत चुकाना आसान नहीं है। आज जिस अधिक मात्रा में 'सस्ता साहित्य' उपलब्ध है उस मात्रा में कोई शोध पुस्तक नहीं मिलेगी। क्योंकि किसी ने भी यह प्रयास नहीं किया है कि ऐसी जरूरी और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें आम लोगों को मिल सकें। वैसे इन विषयों पर काम भी बहुत कम हुआ है।

विद्वानों का मानना है कि यदि प्राचीन भारतीय संस्कृति और कला का अध्ययन करना हो तो हिमाचल इसके लिए उपयुक्त और बेहतर उदाहरण है। मैं यहां पर कुछ व्यक्तिगत विचार/अनुभव अवश्य देना चाहूँगा जिनसे कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल इस दिशा में अवश्य ही उठते हैं कि हम आज विरासत में मिली इस अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं और इस सन्दर्भ में हम कितने पारंगत 'पण्डित' हैं।

मैं इस पुस्तक के सिलसिले में जगह-जगह घूमा हूँ। मुझे यह लगा कि जो-जो मन्दिर पुरातत्व विभाग की देख-रेख में हैं मूलतः वही अपनी छवि नष्ट कर रहे हैं।

वहां अक्सर वीरानियां सी छाई रहती है। इन स्मारकों के बरामदों इत्यादि का प्रयोग केवल स्थानीय लोग धूप सेकने, ताश खेलने या विश्राम करने के लिए ही करते देखे गए हैं। इनमें कोई एक आध ही ऐसा होगा जिसकी देखरेख स्थानीय समितियां उचित प्रकार से कर रही होंगी। मैं एक दिन जब चम्बा के खज्जयार में स्थित खजी नाग मन्दिर देखने गया तो यह देखकर हैरान हो गया कि उसके लिए सही रास्ता भी नहीं है। मन्दिर के बाहर निजी दूकानों और कुछ सरकारी भवनों के कारण गन्दगी पड़ी है। मन्दिर के भीतर पहुँचकर और भी हैरानी हुई जब मन्दिर के मण्डप की दीवारों पर आठ-दस लोग बीड़ियां पी रहे थे और काष्ठ की प्रतिमाओं के सहारे उन्होंने अपने सब्जियों के किल्टे खड़े कर रखे थे। इसी तरह जब चम्बा के हरिराय मन्दिर में गया तो भीतर जाने के लिए प्रवेश द्वार के सामने 6-7 लोगों को गहरी नींद से निवेदन करवाकर उठाना पड़ा। क्योंकि वे इसके प्रांगण में धूप सेकने सोए हुए थे। सही मायनों में लाहौल में स्थित मृकुला देवी के मन्दिर के सिवा मुझे किसी भी मन्दिर में पूजारी तक नहीं मिला जो पुरातत्व विभाग की देखरेख में हैं।

प्रत्येक जिले में आज भाषा अधिकारी भी तैनात हैं। फिर लोक सम्पर्क विभाग की ओर से जिला लोक सम्पर्क अधिकारी भी प्रत्येक जिले में नियुक्त हैं — लेकिन उनका कार्य यह नहीं है कि आपको स्थानीय मन्दिरों के सन्दर्भ में कोई जानकारी उपलब्ध करवा दें ? मैं अपने भ्रमणों के दौरान कई कार्यालयों में गया हूँ—लेकिन निराशा के सिवा हाथ कुछ नहीं लगा। कुछ व्यक्ति है जो इस बात के धनी हैं लेकिन उनके पास कागजों पर कुछ नहीं है।

जिला प्रशासन का यही कर्त्तव्य होता है कि वे अन्य कार्यों के साथ सम्बन्धित क्षेत्र पर कुछ सामग्री तो अपने पास रखें लेकिन ऐसा नहीं है। हाँ, प्रति वर्ष जिन स्थानों पर जिला और प्रदेश के स्तर पर मेलों का आयोजन होता है, उनके नाम पर एक स्मारिका अवश्य प्रकाशित होती है। लेकिन आश्चर्य यह होता कि उन स्मारिकाओं में क्षेत्रीय कला और संस्कृति के ऊपर सामग्री नाममात्र की होती है। उदाहरण के लिए यदि स्मारिका मिंजर पर निकाली जा रही है तो उसमें मिंजर मेले या चम्बा की सांस्कृतिक धरोहर का जिक्र नाममात्र का होगा—लेकिन उसमें कुत्तों के पालने की पूरी विधियां अवश्य मिल जाएँगी। फिर यदि किसी मन्त्री का संदेश न छपे तो हाय-तोबा मच सकती है और यह भरोसा कतई नहीं कि उस संपादक महोदय की नौकरी रहती है या नहीं। उसमें सम्बन्धित मेले के मनाने का प्रयोजन हो या नहीं इससे कोई सरोकार नहीं।

बहुत से प्राचीन मन्दिर पुरातत्व विभाग के संरक्षण में हैं लेकिन इन मन्दिरों का रख-रखाव वहां केवल एक नीले रंग के छोटे-से बोर्ड पर लिखित 'क्षति पहुँचाने पर सजा की हिदायतें' देने से ही हो रहा है। वहां न कोई विभाग का व्यक्ति ही मिलेगा और न कोई सुरक्षा कर्मी। और तो और पूजारी महोदय भी नहीं। आपको केवल मन्दिर के बाह्य ढांचे के दर्शन करके ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा।

अक्तूबर के प्रथम सप्ताह वर्ष 1989 में मैं एक दिन नीरथ के सूर्य मन्दिर

देखने गया। पहुँचा तो मन्दिर परिसर बन्द था। मेरे साथ कुछ सैलानी भी थे। यह मन्दिर पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के संरक्षण में है। जब इधर-उधर भाग-दौड़ की तो एक युवक घास के मैदान में कांच की गोलियां खेलते हुए दिखाई पड़ा। उसके पास गया तो पता चला कि वह विभाग का ही व्यक्ति है। लेकिन यह जानकर दुख हुआ कि उसके पास मन्दिर की चाबियां नहीं हैं। पूजारी महाशय का पता किया तो वह अपने व्यापार के सिलसिले में कहीं बाहर गए हुए थे।

यही कुछ हुआ दत नगर में, दत्तात्रेय मन्दिर में। बाहर कुछ युवक फुटबाल खेल रहे थे। स्थानीय थे। उनमें से एक को पूछा तो उत्तर मिला, "बाबू जी अब तो यह मन्दिर श्मशान है।" पूजारी का पता किया वह भी घर नहीं था। बाहर से मन्दिर का हाल देखा तो दुख हुआ। सोचता रहा कि यह मन्दिर श्मशान आखिर बनाया किसने? क्या विभागों के अतिरिक्त स्थानीय लोगों का इस अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा हेतु कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं है?

अगस्त के अन्तिम सप्ताह में यानि वर्ष 1990 के दौरान मणिमहेश यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लेकिन यात्रियों को जो असुविधा हुई उसका जिक्र करना ही फजूल है लेकिन एक ऐसा स्थान जिसे संसार के कुछेक स्थानों में एकमात्र शिव का निवास मानते हैं वहां की पवित्रता को बरकरार रखने के लिए हमने आज तक क्या किया है? वर्ष में यह मेला एक बार लगता है। जिसमें लाखों लोग जाते हैं। लेकिन मैंने इस भीड़ में एक भी सुरक्षाकर्मी यहां नहीं देखा। और मणिमहेश झील के आसपास जिस तरह की गन्दगी इन दिनों में फैलती है उसे देखकर मन बहुत दुखी हो जाता है। इसमें लोग कई सौ बकरों को झील के आसपास काटते हैं। यह पशु बलि भगवान शिव के नाम पर दी जाती है। लेकिन शिवजी को बलि की बात महज एक मानव द्वारा बनाई गई प्रथा या परम्परा के सिवा कुछ नहीं है। यह विषय शोध या चर्चा का हो सकता है। और प्रसिद्ध धार्मिक स्थान पर खाना तो क्या पीने का पानी भी लोगों को उपलब्ध नहीं हो सका।

बहुत प्रयास किया कि उस यात्रा पर कोई सामग्री मिले। हड़सर में जब एक स्टाल देखा तो खुशी हुई कि एक व्यक्ति मणिमहेश मेले की स्मारिका का स्टाल लगाए बैठा है। नजदीक गया और एक स्मारिका उलट-पलटकर देखी—मन्त्रीगणों के सन्देशों और विज्ञापनों के सिवा कुछ नहीं मिला। कीमत पूछी तो बताया कि बीस रुपये एक प्रति। पुन: पूछा यह किसकी ओर से है, तो उत्तर मिला, "जिलाधीश चम्बा की ओर से।" उसे वहीं छोड़कर चला आया।

अब भरमौर चौरासी परिसर में पहुँचता हूँ। प्रवेश द्वार से ऐसा लगता है मानो कोई विवाहोत्सव हो रहा हो। पूरे परिसर को नकली रंगीन कागजों और चमकीली रस्सियों से सजा रखा है। मन्दिर की छतों से इन्हें बांधे हुए हैं। तरह-तरह की दूकानें मन्दिर परिसर में हैं। चाय और रोटियों की ढेरों दूकानें भी यही हैं। कुछ मन्यारी वाले लक्षणा, गणेश इत्यादी सातवीं शताब्दी पूर्व के मन्दिरों के दरवाजों पर वस्तुएं बेच रहे

हैं। सोच रहा हूँ कुछ चित्र खींचूं भी तो कहां से। फिर उस महानुभाव से निवेदन करता हूँ कि इस दरवाजे से अपनी गठरी और गुब्बारों के डण्डे को लेकर कुछ पल के लिए हट जाए लेकिन वह नहीं सुनता। पांच रुपये का नोट निकालता हूँ और उसे थमा कर उसे कुछ दूर उठाने में सफल हो जाता हूँ। यात्रियों की भीड़ लगी है। हजारों यात्री —लेकिन न पुलिस कर्मी वहां है और न पुरातत्व विभाग का कोई सुरक्षा गार्ड। ··· आप ही बताइए इन जगहों पर उम्र में संयोगवश एक ही बार आदमी जा सकता है और यदि उसे मन्दिर के किवाड़ तक बन्द मिलें तो इस प्रश्न का उत्तर कौन दे सकेगा··?

अगर मैं कुछ और उदाहरण यहां दूं कि हमारी इस पुरातात्विक धरोहर की किस तरह से सुरक्षा हो रही है तो आपके रोंगटे खड़े हो जाएंगे—लेकिन कुछ सीमाएं तो हर जगह होती हैं। परन्तु ऐसे प्रयास तो होने ही चाहिए कि इन विषयों पर अधिक-से अधिक लोग शोध करें। लेकिन आज के सन्दर्भ में पहला विषय तो यह लेना होगा कि हम अपने विरासत में मिले संस्कारों को अनदेखा क्यों कर रहे हैं। किसी शोध के लिए उस विषय के प्रति आस्था और रुचि का होना नितान्त आवश्यक है और यह तभी सम्भव है यदि सरकार या उसके विभाग ऐसी जागरूकता पैदा करें। यहां यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन पर भी एक ऐसा 'कोकस' हावी होता है जो अपनी मर्जी के मुताबिक काम करवाता है। वह चाहे धर्म का हो या संस्कृति का। इतिहास का हो या कला का। मैंने सराहन का भ्रमण करने के उपरान्त एक विस्तृत लेख श्री भीमाकाली मन्दिर पर लिखा और एक सम्पादक को भेज दिया। दूसरे सप्ताह उनका पत्र आया। लिखा था, "भाई हरनोट भीमाकाली मन्दिर पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। फिर वह मन्दिर इतना प्रसिद्ध भी नहीं··कांगड़ा के मन्दिरों पर लिखो।" आश्चर्य हुआ·· क्या अब भीमाकाली मन्दिर का महत्व इसलिए कम हो गया है कि ऊपरी शिमला से कोई मुख्यमन्त्री नहीं। आश्चर्य होता है कि इस दरबारी संस्कृति की बास न विभागों ने त्यागी और न ही हम-आपने।

हम दूर क्यों जाएं. शिमला की ही बात लीजिए। ढेरों नये-पुराने लेखक हैं। लेकिन इन विषयों की ओर रुचि किस की है, यह भलीभांति अनुमान लगाया जा सकता है। नयी पीढ़ी के लोगों का रूझान अखबारों में छपने तक सीमित रह गया है। शायद ऐसा उचित मार्गदर्शन की कमी भी हो सकती है। और जो बड़े लोग हैं वे सदा दिल्ली की तरफ आंख लगाए रहते हैं, राष्ट्रीय स्तर के लेखक। लेकिन यदि आप उनमें से किसी से यह पुछें कि शिमला में धानू देवता का मन्दिर कितनी दूर है तो वह नहीं बता पाएंगे। शायद उन्हें यह भी मालूम न हो कि जिस श्यामा काली की प्रतिमा से शिमला का नामकरण हुआ वह किसे सबसे पहले यहां मिली थी और आज किस दिशा में कहां प्रतिष्ठित है। मैं इस वेदना को झेल चुका हूं। आज इन तथ्यों की ओर बहुत कम रुझान है लेकिन आप यदि इन महानुभावों से यह पूछें कि अमुक व्यक्ति किस गुट का है तो झट बता देंगे।

आज हमें अधिकतर विदेशी लेखकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जब हिमाचल प्रदेश में सड़कें नहीं बनी थीं उस वक्त इन विदेशी यात्रियों ने हिमालय की इन कंदराओं में पैदल चलकर यहां की पुरातन अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर का पता लगाया और इस प्रदेश के इतिहास लेखन के लिए एक मार्ग प्रशस्त कर दिया। हमें इन विदेशी लेखकों का हृदय से आभारी होना चाहिए जिनका हमारे प्रदेश के पिछड़े गांव में बसे देवी-देवताओं से इतना स्नेह था। तो क्या आप जहां रहते हैं वहां की माटी आपको इस ओर प्रेरित नहीं करती ?

मैंने प्रकृति से लिखने की प्रेरणा पाई है और इस प्रयास में लगा रहता हूं कि कुछ नया काम कर सकूं। लेकिन यहां के कई लेखकों को मुझसे इसलिए शिकायत रहती है कि मैं मन्दिरों पर लिखता हूं। उनके विचार में यह अन्धविश्वास को जन्म देता है। इस आशय से कईयों ने तो कुछ अखबारों में पत्र भी लिखे। मैं उनका आभारी हूं क्योंकि उन्होंने एक नया विषय मुझे लिखने को दे दिया। लेकिन आश्चर्य यह होता है कि उन्होंने अपने संस्कार आखिर छोड़ क्यों दिए। निःसन्देह आज हम अपने पूर्वजों से अधिक जानते हैं और उनसे कहीं अधिक कई तरह के काम कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि हमारे से पहले जो संस्कृति का भवन बन चुका है उसमें हम नई-नई मंजिलें जोड़ते जाते हैं, लेकिन यदि कोई इस भवन को नींव से इसलिए उखाड़ने पर अमादा हो कि इसमें हमारे बाप-दादाओं के अंधविश्वास और रूढ़ियों की बास है तो कोई क्या कर सकता है। राह चलते एक मन्दिर आपके सामने आता है। यह बात आप पर निर्भर करती है कि आप उसके आगे नतमस्तक होते हैं या उसकी देहरी पर पान थूकते हैं। यही संस्कार हैं।

किसी प्रदेश का इतिहास इन प्राचीन अवशेषों के अध्ययन से बनता है। हिमाचल में जो भी प्राचीन मन्दिर हैं, उनमें जो मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं और जहां-जहां से शिलालेख और ताम्रपत्र मिले हैं उन्हीं से हमें इस प्रदेश के इतिहास का अवलोकन होता है। फिर इन मन्दिरों के साथ मिथकों का प्रयोग हुआ है, जो इतिहास जानने का मूल स्रोत माना गया है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत यहां जितने भी पूजागृह हैं उन्हें मन्दिर कह कर पुकारा जाता है। इनमें ईश्वर के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित मूर्तियां रखने तथा उनकी पूजा करने की प्रथा कालान्तर से चली आ रही है। संसार भर में देवी-देवताओं की पूजा वहां की परम्परानुसार होती है। फिर भारत, यूनान और मैक्सिको के देवी-देवता मिलते-जुलते हैं और इनके पूजा के अनुष्ठानों में भी काफी समानता है। हिमाचल को देव भूमि इसलिए ही कहा गया है। यहां प्रचलित ग्राम-देवता प्रथा रोम तथा ग्रीक साम्राज्य में प्रचलित पूजा-प्रथा से भी पुरातन है। ये देवता केवल कल्याण करने वाले ही नहीं है अपितु हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के रक्षक भी हैं। वे शासक हैं जो हर समय अपनी प्रजा के बीच उपस्थित रहते हैं और अदृश्य रूप से उनके सुख-दुख में शामिल होते हैं। ये जहां दयालु है वहां दण्ड देने में भी पीछे नहीं रहते। अर्थात् मनुष्य को एक ऐसी सीमा के भीतर बांधे हुए हैं जहां उसे अच्छे-बुरे की पहचान

रहती है। इसलिए आज हम किसी न्यायालय या संस्था विशेष के निर्णय के खिलाफ कहीं भी चुनौती दे सकते हैं लेकिन अपने देवता द्वारा सुनाए गए किसी निर्णय को अनदेखा करने का साहस लोगों में नहीं। यहीं से परम्पराएं शुरू होती हैं और उनमें व्याप्त अंधविश्वास भी। लेकिन आज हमारी सोच युग के साथ परिवर्तित हो रही है। यह हमें सोचना है कि क्या हमारे में ऐसी क्षमता है कि हम इन देवी-देवताओं की प्रेरणा लेकर अपनी सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखकर एक नये और स्वच्छ समाज का निर्माण करें ? इनसे बुरा निकाला जा सकता है।

यदि हमारे पूर्वजों ने किसी मन्दिर या मेले से मानव बलि की बात जोड़ी है तो यह हमें अवश्य जानना चाहिए कि इसकी प्रासंगिकता कहां तक है। मुण्डा पर्व इसका सूचक माना जाता है। लेकिन कोई भी विद्वान किसी भी पर्व में मानव बलि की बात साबित नहीं कर सका है। निर्मण्ड में मुण्डा पर्व के दौरान वर्ष 1856 में अवश्य रस्सा टूटकर एक व्यक्ति की मौत हुई थी और अंग्रेजी प्रशासन ने उसी दिन से रस्से पर किसी मनुष्य को फिसलने के खेल पर पूर्णतया पाबन्दी लगा दी थी। मैं नहीं समझता कि ऐसा करने से वहां कोई अनर्थ हुआ हो, काल पड़ा हो या देवता रुष्ट हुआ हो। उसके बाद मुण्डा में रस्से पर जीवित बकरे को छोड़ा जाता है—लेकिन पशुबलि भी तो अच्छी बात नहीं है। जब एक मानव के फिसलने की प्रथा बन्द होने से कोई उपद्रव देवता ने नहीं मचाया तो यदि आज हम तमाम मन्दिरों में दी जाने वाली पशुबलि को समाप्त करने में एक सामाजिक संघर्ष छेड़ें तो कौन-सा पहाड़ टूट जाएगा। हमारे सामने एक संविधान है जिसमें फांसी तक की सजा निहित है। यह संविधान किसने बनाया—हम-आप जैसे लोगों ने। फिर मन्दिरों के साथ जो परम्पराएं जुड़ीं वह किसी देवी-देवता या ईश्वर ने नहीं बनाई, वहां के सम्बन्धित कारदारों ने ही बनाई हैं। निःसन्देह इन परम्पराओं में गहरा अंधविश्वास भी हो सकता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि नई पीढ़ी भी वैसा ही करे। मैं यह नहीं कहता कि देवी-देवताओं से सम्बद्ध सारी परम्पराएं, रीति-रिवाज समाप्त हो जाने चाहिए। इनकी समाप्ति हमारे समाज की नींव की 'मौत' है, लेकिन जो अच्छा है, उसे अपनाने में बुरा भी क्या है।

कई मन्दिरों में आज भी भैंसों की बलि देने की प्रथा है। करसोग के कामाक्षा देवी मन्दिर में माता के नाम से नवरात्रों के दौरान कई भैंसे काटते हैं। शिमला से 28 किलोमीटर दूर हलोग-धामी नामक स्थान पर दीवाली के दूसरे दिन 'पत्थर का खेल' नामक मेला होता है, जिसमें दो टोलियां एक-दूसरे पर पत्थर बरसाते हैं और जब तक किसी का सर न फट जाए यह खेल समाप्त नहीं होता। उधर मणिमहेश, जिसे भगवान शिव का निवास स्थल माना जाता है, मेले के दौरान हजारों बकरे झील के आसपास काटे जाते हैं और रात-भर लोग उन्हें वहीं पकाकर खाते रहते है। भगवान शिव के नाम से पशु बलि देना—पता नहीं कहां तक सार्थक है। यहीं मानव बलि की बात भी प्रमाणित होती है। मेरे सामने 28 अगस्त, 1990 को जब चेलों ने झील पार करने हेतु छलांगें लगाई तो उनमें से एक चेला बाहर नहीं आया। उसके बीवी-बच्चे झील के एक

किनारे बिलखते रहे। काफी देर बाद हमने यह सुना कि उस चेले की मां काली ने बलि ले ली क्योंकि अन्य कोई भी चेला उसे निकालने में समर्थ नहीं हो सका। यह भी बताया गया कि पिछले वर्ष वही चेला तीन दिनों बाद झील से निकला था। हमें इस बात को लेकर विश्वास उस वक्त हुआ जब हमारे सामने एक घण्टा पूर्व एक चेला इसी झील के पानी में कहीं खो गया था और वह एक घण्टे दस मिनटों बाद निकल गया। लोगों ने उसका विजयी जुलूस निकाला। लेकिन जो झील में डूब गया वह बलिदान नहीं अपितु जान-बूझकर एक आदमी को मौत के मुंह में झोंकना है ? क्योंकि यहां प्रशासन की ओर से कोई प्रबन्ध नहीं होते। यदि इस घटना का उत्तरदायित्व व्यवस्था पर डाला जाए तो कोई अनुचित नहीं। जब भुण्डा पर्व में रस्से पर किसी व्यक्ति विशेष के फिसलने के रिवाज पर पाबन्दी लगाई जा सकती है तो मणिमहेश झील को इस तरह पार करने पर प्रशासन कुछ क्यों नहीं करता। लेकिन आज पहाड़ों के लोगों की अपने देवी-देवताओं पर जो आस्था है उसकी कदर करते हुए हम जैसे लोगों को एक ऐसा रचनात्मक अभियान छेड़ना होगा जिससे हम किसी बात को हटाने के लिए उसकी प्रासंगिकता को बता सके। क्या आज तक किसी गांव में स्थानीय लोगों की राय के आधार पर कोई आयोजन हुए हैं। यह आयोजन मलाणा, निरमण्ड या किन्नौर जैसे दुर्गम स्थानों के मध्य होने चाहिए। देवता क्या है, वह एक व्यक्ति में प्रवेश कैसे होता है ? वह भूत-प्रेत से किस तरह लोगों की रक्षा में सहयोगी है—इन विषयों पर देवता से सम्बद्ध व्यक्ति ही बता सकता है।

प्रश्न पैदा होता है कि इन देवी-देवताओं की कथाएं काल्पनिक हैं। निःसन्देह यह सत्य है लेकिन जो व्यक्ति इन किवदन्तियों को मात्र एक मनघड़न्त मानता है, मैं समझता हूं उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। हमारे समक्ष वेद, पुराण और इतिहास ग्रन्थ हैं। इनमें इस बात को स्पष्ट किया गया है। आदिम समाज का विकास अत्यन्त धीमी गति से हुआ और इसके ज्ञान-भण्डार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो संवृद्धि होती थी, वह इसके सदस्यों के लिए नगण्य थी। वास्तविक ज्ञान के अभाव की पूर्ति में लोग अपनी कल्पनाओं से कथाएं गढ़ते थे, जिनमें प्रकृति और सामाजिक जीवन की व्याख्या मूर्त बिंबों के रूप में की जाती थी। इन कथाओं को ही किवदन्तियां कहा गया और अंग्रेजी में मिथ—जिससे बना मिथक शब्द, जिसका प्रयोग आज हिन्दी में भी किया जाता है। यूनानी भाषा के माईथास शब्द से, जिसका अर्थ है आप्तवचन, कथा, किवदंती इत्यादि। हिन्दी में इसका अर्थ कल्प कथा, पुराकथा और पौराणिक कथा है। वास्तव में इन्हीं मिथकों की सम्पदा से संस्कृति की नींव बनी है और इसी मिथक के कारण विज्ञान के पहले अंकुर भी फूटे हैं। सैकड़ों पीढ़ियों ने जो जीवन में अनुभव संचित किया उसे मिथकों में ही संजोए रखा है।

किसी ने भगवान के रूप को नहीं देखा है। जिस मन्दिर में जिस देवता की प्रतिमा स्थापित है उस देवता को न हमारे दादा-पड़दादा ने देखा है और न हम देख सकते हैं। लेकिन आज यदि हमारे समक्ष सभी देवी-देवताओं की तस्वीरें रख दी जाएं और पूछा जाए कि इनमें मां सरस्वती कौन-सी है तो हम झट से उसे पहचान लेंगे।

क्योंकि उस देवी को किसी कलाकार ने अपनी कल्पना शक्ति से वह मूर्त रूप दिया है। मुझे यहाँ रूसी लेखक निकोलाई जाबोलोत्स्की की एक कविता की पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

"मानव के हैं दो संसार।
एक ने रचा मानव को,
दूसरे को रचता आया है मानव—
अपनी शक्ति और सामर्थ्य लगाता
आदिकाल से।"

इसलिए हमारे समक्ष हमारी प्राचीन परम्पराएं हैं, रीति-रिवाज हैं, धर्म और संस्कृति हैं और आज हम इस काबिल भी हैं कि उन्हें देखें और परखें, गहराई से समझने का प्रयास करें ताकि अपने जीवन को हम ऐसे संस्कार में ढाल सकें जिन संस्कारों के दीपक से हजारों स्नेह और आपसी सद्भावना के दीपक जलते जाएं और सही मायनों में हम अपने समाज को कुछ सृजनात्मक दे सकें।

इस पुस्तक में यह प्रयास किया गया है कि आप एक साथ बारह जिलों के महत्त्व-पूर्ण मन्दिरों के बारे में अवलोकन कर सकें। हालांकि जैसा मैं पहले कह चुका हूं यह मेरा शोध नहीं है लेकिन में यह भी मानता हूं कि यह कार्य शोध से कम भी नहीं है। इसे तीन प्रकार से संचित किया गया है। पहले जो देखा है, दूसरा जो पढ़ा है, तीसरा जो कुछ बाकी है। इसी कारण हिमाचल प्रदेश के कोने-कोने में भ्रमण भी किया है और फोटोग्राफी भी। यहाँ के धर्म-स्थलों को एक पुस्तक में एकत्र करना सम्भव नहीं है। यहां तो एक-एक मन्दिर ही ऐसा है जिस पर कई पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। इसलिए बौद्ध गोम्पाओं और अन्य धर्म-स्थलों को इसमें देना सम्भव नहीं था। इस पुस्तक में जो मन्दिर आए हैं वह यहां के मन्दिरों का एक अंश ही माना जा सकता है। आज हिमालय की कंदराओं में हमारी ऐसी अमूल्य धरोहर छुपी है जिस पर शोध करना जरूरी है। कई मन्दिरों का तो कहीं उल्लेख तक नहीं मिलता। मेरा अगला प्रयास रहेगा कि ग्रामीण स्तर पर कुछ कार्य करूं। ये मन्दिर, देवी-देवता और मेले-त्योहार ही हमारी संस्कृति के मूलाधार हैं— इनकी सुरक्षा का दायित्व बहुत कुछ हम-आप पर है। हम ही इनकी सुरक्षा कर सकते हैं क्योंकि गांवों-कस्बों में हम इनसे निकटता बनाए हैं।

मेरी यह तीसरी पुस्तक है। इसके लिखने की प्रेरणा भी पूर्व पुस्तकों की तरह डॉ० कुमार कृष्ण जी ने दी है। एक दिन जब उन्होंने मेरे संचित आलेखों की फाईल देखी तो यह सुझाव दिया कि इससे एक पुस्तक बन सकती है। उसके बाद से मैं श्रद्धेय मिया गोवर्धन सिंह जी के सम्पर्क में आया और उन्होंने न केवल मुझे प्रोत्साहित ही किया लेकिन सभी आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध करवाई जो इस सन्दर्भ में जरूरी थी। मैं डॉ० कुमार कृष्ण जी और मिया गोवर्धन सिंह जी का आजीवन ऋणी रहूंगा।

मैं हिमाचल प्रदेश पर्यटन विकास निगम के समस्त अधिकारीगणों और कर्म-चारियों का हृदय से आभारी हूं जिनके मध्य रहकर मुझे निरन्तर स्नेह मिला है और

लिखने की प्रेरणा भी। निगम के पूर्व प्रबन्ध निदेशक श्री सुरेन्द्र नाथ वर्मा जी का भी हृदय से आभारी हूं। वर्तमान प्रबन्ध निदेशक श्री बी०के० चौहान जी ने तो इस पुस्तक-लेखन के लिए न केवल प्रोत्साहित ही किया परन्तु लाहौल-स्पिति और मणिमहेश जैसे दुर्गम स्थानों की यात्रा इन्हीं के आशीर्वाद से सम्भव हो पाई है। डॉ० एन० के० शर्मा जी का भी सदैव धन्यवादी रहूंगा। साथ ही उन सभी विद्वानों का जिन्होंने आज तक इस क्षेत्र में शोध किया है और महत्वपूर्ण सामग्री हमें दी है। साथ अपनी अर्धांगनी श्रमिती शीला का भी, जिनके सहयोग से यह सम्भव हो पाया है।

मेरा विश्वास है कि पर्यटन की दृष्टि से भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

छायाचित्रों के लिए भाषा एवं संस्कृति विभाग के श्री हाकम शर्मा का भी आभारी हूं।

इस प्रयास में मैं कहां तक सफल हो पाया हूं, यह तो पाठक ही तय कर सकते हैं। मुझे पाठकों के सुझाव और मार्गदर्शनों की अभिलाषा रहेगी। मैं जानता हूं कि इस कार्य में बहुत-सी त्रुटियां रह गई हैं, लेकिन मुझे विश्वास है कि पाठक उनके प्रति मेरा ध्यान अवश्य ही आकृष्ट करेंगे।

—एस० आर० हरनोट
चन्द्रगिरि भवन,
गांव व डाकखाना—चनावग,
वाया धामी, जिला शिमला,
हिमाचल प्रदेश

10 मार्च, 1991

अनुक्रम

1. लक्ष्मीनारायण मन्दिर समूह, चम्बा
2. हरिराय मन्दिर, चम्बा
3. मां सूही देवी प्रतिमा, चम्बा
4. लक्षणा देवी भरमौर
5. चौरासी मन्दिर परिसर, भरमौर
6. खज्जी नाग मन्दिर, खज्जजयार
7. बैद्यनाथ मन्दिर, बैजनाथ, कांगड़ा
8. ब्रजेश्वरी देवी, कांगड़ा
9. ज्वालामुखी मन्दिर, कांगड़ा
10. ममलेश्वर महादेव मन्दिर, करसोग
11. टारना देवी मन्दिर, मण्डी
12. विशेश्वर महादेव, बजौरा (कुल्लू)
13. त्रिपुड़ा सुन्दरी, नगर (नयी छत)
14. हिडिम्बा देवी, मनाली
15. धानू देव, शिमला
16. हाटेश्वरी देवी, हाटकोटी
17. भीमाकाली मन्दिर, सराहन
18. बलग मन्दिर (शिमला)
19. माहूनाग मन्दिर नालदेहरा
20. चूड़ेश्वर महादेव, चूड़धार
21. चण्डिका देवी, कोठी किन्नोर
22. कामरू किला, सांगला
23. बेरिंग नाग परिसर, सांगला
24. त्रिलोकीनाथ, लाहौल

1

हिमाचल : एक परिचय

अतीत के स्मृति चिन्ह

हिमाचल प्रदेश का अतीत ही इसका इतिहास और सांस्कृतिक धरोहर है। यह धरोहर आज हमारे समक्ष शिलालेखों, प्राचीन मन्दिरों, किलों और पुस्तकों के रूप में विद्यमान हैं। वेदों और पुराणों में इस प्रदेश को देव भूमि से अलंकृत किया गया है। यही वह प्रदेश है जहां एक प्रलय के बाद मनाली नामक स्थान में मनु ने पुन: सृष्टि की रचना का कार्यभार सम्भाला था।

विद्वानों ने जो प्रमाण एकत्रित किए हैं उसके अनुसार यह माना जाता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता 3000 ई० पू० से 1750 ई० पू० तक थी। इसने अरब सागर से लेकर गंगा के मैदानों तक का क्षेत्र प्रभावित किया हुआ था। सिन्धु घाटी की सभ्यता पूरे पंजाब, उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर उत्तर-पूर्व में यमुना और इसकी सहायक नदियों की भीतरी घाटी तक फैली हुई थी। इसकी संस्कृति केवल शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि बहुत बड़े क्षेत्र तक विस्तार ले चुकी थी। उस समय सिन्धु घाटी से दूर हिमालय की तलहटी में जो जाति रह रही थी वह कोल जाति थी। इस जाति को वेदों में दास, दस्यु और निशाद के नाम से जाना जाता था। इस जाति के लोगों को नव पाषाण कालीन मानव के वंशज माना जाता था। शायद किन्नौर, लाहौल व स्पिति में रह रहे कोलों, हाली, डोम, चुमंग और डोमंग इसी प्राचीन जाति अथवा वंश से हैं। ऋग्वेद के अनुसार इस जाति के लोग पहाड़ों के स्वामी माने जाते थे इसी कारण इनके राजा शम्बर के व्यास और यमुना नदियों के मध्य निनानवे किले थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह राजा कितना शक्तिशाली रहा होगा।

इसी दौरान आर्य जाति की एक शाखा ने उत्तर-पश्चिम की ओर से हिमाचल के क्षेत्रों में प्रवेश किया। ये लोग खश भी कहलाते थे जो कोल जाति के लोगों से अधिक शक्तिशाली माने गए हैं। जब आर्यों ने अपना मध्य एशिया में स्थित क्षेत्र छोड़ा तो उनकी एक शाखा पामीर से होती हुई कश्मीर में प्रवेश कर गई और धीरे-धीरे हिमाचल परिक्षेत्र के मध्य भाग की ओर बढ़ते हुए उन्होंने वहां बसे लोगों पर अपना अधिकार जमा लिया और कश्मीर से लेकर नेपाल तक अपनी बस्तियां निर्मित कर लीं। किन्नर-किरात देश

खश देश में बदल गया। यहां के परिवारों को अपने साथ मिला कर यहां के सामाजिक ढांचे को नया रूप दिया।

महाभारत के अनुसार और पांचवीं सदी ई० पू० जैसा कि पाणिनी द्वारा भी प्रमाणित किया जा चुका है इस क्षेत्र के मुख्य जनपद त्रिगर्त, औदुम्बर, कुलूत और कुलिन्द आदि थे। इसका प्रमाण अलग-अलग जगह से प्राप्त सिक्कों से मिलता है। ये सिक्के कांगड़ा के ज्वालामुखी क्षेत्र और पठानकोट तथा होशियारपुर से मिले हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक समय औदुम्बरों ने आधुनिक कांगड़ा जिले का पश्चिमी क्षेत्र, होशियारपुर और गुरदास पुर का पूर्ण क्षेत्र जो गंगा और तक्षशिला तक एक बड़े व्यापारिक मार्ग पर स्थित था, अपने आधिपत्य में ले लिया था। औदुम्बरों ने तांबे और चांदी के सिक्के समुदाय और राजा के नाम पर प्रारम्भ किये थे। ये प्रथम सदी ई० पू० के हैं।

त्रिगर्त का संस्कृत साहित्य में बार-बार उल्लेख किया गया है। यह राज्य रावी व्यास और सतलुज की भूमि से मिलता है। पाणिनी द्वारा त्रिगर्त का उल्लेख पांचवीं सदी ई० पू० किया गया है।

कुलूत का वास्तविक नाम रामायण और विष्णु पुराण में मिलता है। इनका राज्य ऊपरी व्यास घाटी में स्थापित था और ये लोग औदुम्बरों की तरह सिक्के चलाया करते थे। कुलिन्दों का वर्णन महाभारत और पुराणों में भी है। ये पहाड़ी लोग माने जाते हैं। इनका निवास स्थल व्यास, सतलुज और यमुना नदियों का कुछ क्षेत्र था। इनके सिक्के होशियारपुर, सहारनपुर और अम्बाला तथा शिवालिक की पहाड़ियों में पाए गए हैं। कुलिन्द ही कनैत जाति के लोग हैं। कालन्तर में इन्होंने कुलिन्द के नाम से राज्य स्थापित किया और वर्तमान में शिमला की पहाड़ियों, कुल्लू और सिरमौर की पहाड़ियों में बड़ी एक अपनी जनसंख्या को स्थापित किया है। इनकी परम्परा यह दर्शाती है कि कनैत और खश आर्यों के यहां आने से पूर्व पहाड़ों के स्वामी थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य जो 324-300 ई० पू० में हुए हैं, मौर्य शासन के संस्थापक थे। इन्होंने हिमालय के लोगों के साथ अपने राज्य को स्थापित करने का समझौता किया था। उनके प्रपौत्र अशोक ने अपने राज्यों की सीमाओं को हिमालय तक फैलाया। इसी दौरान उन्होंने बहुत से स्तूप भी बनवाए। इनमें से एक स्तूप का वर्णन चीनी यात्री ह्यून-सांग ने भी किया है। यह स्तूप कुल्लू घाटी में था।

इसके बाद सुंगा शक्ति में आए। इनका काल 187-75 ई० पू० माना गया है। वे पूर्व जाति के गणतन्त्र को अपने अधीन न रख पाए लेकिन कुषाणों ने सुंगा का अनुसरण किया और उन्होंने भारत तथा बाहर दक्षिण में मध्य एशिया से मथुरा तक और पूर्व में बनारस तक एक शक्तिशाली शासन की स्थापना की। कुशाण जब शक्ति विहीन हुए तो गुप्त नामक एक शक्ति उभर कर सामने आई जिनके महान राजा समुद्र गुप्त (335-375 ई० पू०) और चन्द्रगुप्त (375-414 ई० पू०) ने इस क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया। यह गुप्त शासन 569 ई० पू० में समाप्त हो गया और

स्थानीय सामन्त, जो राणा और ठाकुर के नाम से जाने जाते हैं शक्ति में आए और स्वतन्त्रतापूर्वक शासन चलाने लगे।

सातवीं सदी के आरम्भ में हर्ष का शासन हुआ। भारत वर्ष में इन्होंने एक शक्तिशाली शासन की स्थापना की। कन्नौज इनका मुख्यालय था। जलन्धर, कुलूत, और त्रिगर्त इत्यादि अनेक पहाड़ी शासकों ने हर्ष के शासन का स्वागत किया। हर्ष के शासन के बाद मैदानी इलाकों में राजनैतिक उथल-पुथल मच गई और राजपूत नामक एक नई जाति उभर कर सामने आई। आठवीं से बारहवीं शताब्दी के काल को राजपूत काल कहा जाता है। ये राजा बहुत शक्तिशाली थे और इन्होंने राणाओं के छोटे-बड़े राज्यों को जीत लिया और उन्हें अपने अधीन करके राज्य चलाने लगे। इनके राज्यों में त्रिगर्त, कुल्लू, क्योंथल, बघाट, बाघल, सिरमौर और कई अन्य छोटे पहाड़ी राज्य प्रमुख थे। त्रिगर्त इनमें प्राचीन था। इस राज्य की स्थापना सुशर्म चन्द्र ने महाभारत के अन्त में की थी। कालान्तर में यह राज्य जसवां, गुलेर, सिब्बा और दतारपुर जैसी छोटी-छोटी रियासतों में विभाजित हो चुका था।

दूसरा सबसे बड़ा राज्य कुलूत माना जाता है। इस राज्य का समय प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० माना जाता है। कुल्लू के नये राज्य का संस्थापक राजा विहंगमणि था।

निरमण्ड से प्राप्त एक ताम्रपत्र के अनुसार उस समय स्थिति में समुद्रसेन हिन्दू राजा राज्य किया करता था। ऊपरी सतलुज घाटी में बुशहर सबसे पुरानी रियासत थी जिसे सम्भवत: ईसा काल से पूर्व प्रदुमन नामक राजा ने स्थापित किया था। चम्बा की स्थापना छठी शताब्दी के मध्य राजा मेरू वर्मन द्वारा की गई थी। सुकेत को वीरसेन ने और क्योंथल को उसके भाई गिरीसेन द्वारा स्थापित किया गया माना जाता है। इनकी स्थापना बारहवीं शताब्दी में की गई। मण्डी सुकेत का एक हिस्सा था और यह भी पन्द्रहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। प्राचीन रियासत सिरमौर की स्थापना राठौर राजकुमार अदित ने छठी और सातवीं शताब्दी के मध्य की थी। बिलासपुर जिसे कहलूर नाम से जाना जाता था, की स्थापना 900 ई० पू० में चन्देल राजकुमार वीर चन्द द्वारा की गई थी। अन्य रियासतों में बाघल, बघाट, कुमारसेन, भज्जी, मेहलोग, कुठाड़, दरकोटी, बलसन, कुनिहार, मांगल, धरोच, कोटी, ठियोग, मधान, घुण्ड, दलाश इत्यादि थी। इस काल में राजपूतों में कनौज के शासन को जीतने की होड़ लगी हुई थी। इसलिए इन छोटी-छोटी पहाड़ियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया। मुसलमान शासकों ने भी इन पहाड़ी सामन्तों को उनकी अपनी स्थिति पर छोड़ दिया था। एक-दो रियासतों पर उन्होंने अवश्य कब्जा करने का प्रयत्न किया लेकिन इन रियासतों के राजाओं ने उन्हें नजदीक नहीं फटकने दिया। 1009 ई० पू० में महमूद गजनवी नगरकोट तक चला गया था। मुगल बादशाह अकबर और जहांगीर ने भी कांगड़ा को जीतने का प्रयास किया लेकिन कटोच राजाओं ने उनका डट कर मुकाबला किया।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हिमालय के इतिहास में एक और जाति उभरी जिसे गोरखा के नाम से जाना गया। इन्होंने कांगड़ा सहित पूरे पश्चिमी हिमालय तक का क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया था। 1809 ई० पू० में कांगड़ा के राजा संसार चन्द ने महाराजा रणजीत सिंह की सहायता से गोरखाओं को सतलुज नदी के पार तक धकेल दिया। इसके बाद सतलुज के पूर्वी क्षेत्रों पर उन्होंने अपनी पकड़ मजबूत कर ली। ये गोरखा बहुत निर्दयी और अत्याचारी थे। लोग इनके कुशासन से तंग आ चुके थे। इसके बाद अंग्रेजों ने यहां के रियासतों के राजाओं को मदद की और गोरखाओं के विरुद्ध डट गए। कुछ ही समय में गोरखाओं को देश छोड़ने पर विवश कर दिया। दूसरी तरफ यहां के राजाओं को दी गई अंग्रेजों की मदद आफत बन गई और धीरे-धीरे शासनाधिकार अंग्रेजों के हाथ में चला गया।

पंजाब के मैदानी हिस्सों में गुरु नानक देव जी के अनुयायियों ने सिर पर लोहे की टोपी पहन ली। उनके सिकन्दर महाराणा रणजीत सिंह पीछे नहीं रहे और सतलुज और सिन्ध का मध्य भाग अपने अधिकार में ले लिया। लेकिन 1846 में सिख युद्ध के दौरान पंजाब का पहाड़ी क्षेत्र भी अंग्रेजों के अधीन हो गया। इस तरह कांगड़ा, कुल्लू, नूरपुर, लाहौल-स्पिति अंग्रेजों के अधीन चले गए जबकि चम्बा, मण्डी और सुकेत रियासतों को उनके शासकों को वापिस कर दिया गया। इससे कटोच और पठानिया शासकों के मध्य एक दरार पैदा हो गई और 1857 में इन शासकों ने कुछ अन्य राजाओं के साथ मिलकर विद्रोह का बिगुल बजा दिया। इस बार हालांकि अंग्रेज इस विद्रोह को दबाने में तो कामयाब हो गए लेकिन यहां के लोगों के दिल में उनके विरुद्ध जो नफरत की ज्वाला पैदा हो चुकी थी वह धीरे-धीरे फैलती रही। इस ज्वाला ने स्वतंत्रता की लहरों के रूप में जन्म लिया और प्रजा मण्डल की स्थापना हो गई।

आखीर में यह ज्वाला इतनी भड़की कि अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर विवश होना पड़ा और 15 अगस्त, 1947 की मध्य रात्रि को ऐतिहासिक लाल किले पर तिरंगा झण्डा लहरा दिया गया। एक लम्बे संघर्ष के बाद भारत में स्वतन्त्रता का जो सूर्य उदय हुआ उसने हर घर में एक ऐसी रोशनी दी जिससे लोगों का हृदय चमचमा उठा और उन्होंने चैन की सांस ली।

राष्ट्रीय नेताओं ने अपना ध्यान पहाड़ी रियासतों की ओर आकृष्ट किया और उन्हें देश के लोगों के साथ मिलने का न्यौता दिया इसके बाद सभी ने पहाड़ी रियासतों का त्याग कर दिया और एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस तरह अपना सदियों पुराना शासन लोगों को सौंप दिया गया। हिमाचल प्रदेश एक ईकाई के रूप में 15 अप्रैल, 1948 को अस्तित्व में आया। सन् 1950 में कोटखाई, कोटगढ़, भरौली आदि को मंजोली के बदले हिमाचल को सौंप दिया गया जो पंजाब को दे दी गई थी। बिलासपुर रियासत जो पहले एक स्वतन्त्र रियासत थी को सन् 1954 में हिमाचल में विलय कर दिया गया। सन् 1966 को विशाल हिमाचल का गठन हुआ जिसमें पंजाब को दिये गए क्षेत्र कांगड़ा, कुल्लू, लाहौल-स्पिति और शिमला जिले को इसमें शामिल कर

लिया गया। बारह जिलों से गठित इस प्रदेश को 25 जनवरी, 1971 के दिन पूर्ण राजत्व प्राप्त हो गया। यह राजत्व जिस दिन मिला उस दिन ऐसा लग रहा था मानों शिमला रिज मैदान पर प्रकृति सफेद बर्फ रूपी पुष्पों की वर्षा कर रही हो। इस दिन तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी यहां पधारी थीं। हजारों लोगों को हिमाचल प्रदेश के कोने-कोने से आए देवी-देवताओं ने अपना आशीर्वाद दिया था क्योंकि कई जिलों के देवी-देवताओं को इस अवसर पर यहां आमन्त्रित किया गया था। एक ओर जहां पहाड़ के लोगों के मन प्रसन्नता से खिल उठे थे वहां डा० यशवन्त सिंह परमार, जो हिमाचल केपूर्ण अस्तित्व के लिए एक लम्बा संघर्ष कर चुके थे, के जीवन का यह सबसे महत्वपूर्ण दिन था। इसलिए उन्हें आज भी हिमाचल निर्माता के रूप में जाना जाता है। इस विशाल समारोह में अपने रथ-छतर और पालकियों में सुशोभित देवी-देवताओं ने जिस तरह अपना आशीर्वाद लोगों को दिया उससे लग रहा था मानों इनका भी इस लम्बे संघर्ष में महत्वपूर्ण योगदान रहा हो। वास्तव में यह तथ्य नकारा नहीं जा सकता है, क्योंकि हिमाचल प्रदेश में स्थान-स्थान पर जो प्राचीन मन्दिर स्थित हैं उनसे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि इस धरती पर जो भी जाति आई, जिन शासकों ने राज्य किया उन्होंने सबसे पहले यहां के देवी-देवताओं की लोक-सत्ता को स्वीकारा। और जिन्होंने इस सत्ता का अपमान किया उनके पांव कुछ ही अर्से बाद उखड़ गए। आज कई महत्वपूर्ण धार्मिक स्थलों पर कई खण्डित मन्दिर इस अनादर के साक्षी हैं। मुस्लिम, गोरखा और अंग्रेजी शासकों ने यहां की देव—संस्कृति की परवाह नहीं की। यही नहीं मन्दिरों और किलों की सम्पत्ति को भी उन्होंने लूटा। लेकिन यह लूटपाट और अनादर उन्हें महंगा पड़ा जिसके परिणामस्वरूप हिमाचल की धरा को त्यागना पड़ा।

25 जनवरी, 1971 का वह शुभ दिन मुझे भी स्मरण हो रहा है—जैसे यह कल ही की बात हो। मैं उस समय काफी छोटा था। पहली बार अपने गांव से देवता श्री हरशिंग के साथ शिमला आया था। कई घण्टों रिज पर हम खड़े रहे। हजारों लोग यहां मौजूद थे—जैसे सारा हिमाचल ही यहां पहुंच गया हो। आसमान से बर्फ की तितलियां एकसी ऐसी लग रही थीं मानों प्रकृति के स्वर्ग द्वार से पुष्प वर्षा से देवी-देवताओं का स्वागत हो रहा हो—परन्तु मेरे लिए उस उम्र में यह महज एक मेला था, जिसके स्पष्ट मायने आज तो समझ आते हैं, उस समय नहीं।

आज हिमाचल प्रदेश बारह जिलों का प्रदेश है। प्रकृति ने इसे लाखों वरदान दिए हैं। इस प्रदेश की जलवायु, भौगोलिक स्थिति, पहाड़ों की विशालकाय चोटियों से निकलती मैदानों की ओर दौड़ती नागिन-सी नदियां और असंख्य उछल-कूद करते झरनें, विशाल घने जंगल, जिनकी शाखाएं सदैव मन्द समीर के झोंकों में नृत्य करती दिख पड़ती हैं, यहां के भोले-भाले लोग, उनकी संस्कृति, मेले और त्यौहार तथा पूजित देवी-देवता कुछ ऐसे आकर्षण हैं जो सदैव देश-विदेश के लोगों को अपनी ओर खींचते

रहते हैं। यह प्रदेश एक शान्त और सुन्दर प्रदेश है यहां आकर कोई भी मनुष्य धन्य हो जाता है। मुझे किसी पहाड़ी गायक के गीत के ये शब्द याद आ रहे हैं—

डुगियां-डुगियां नदियां ऐतीरीं, ऊंचियां ऊचियां धारा हो,
सभी देशा थे शोबटा म्हारा हिमाचल प्यारा हो।

भौगोलिक स्थिति

55,658 वर्ग कि०मी० क्षेत्रफल वाले हिमाचल प्रदेश को यदि देव भूमि से अलंकृत किया जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह प्रदेश जहां उत्तर की ओर जम्मू-काश्मीर, दक्षिण-पूर्व में उत्तर प्रदेश, दक्षिण में हरियाणा और पश्चिम में पंजाब तक फैला है, वहां पूर्व में तिब्बत के साथ भारत की सीमा को निर्धारित करता है। 30°22' से 33°12' उत्तरी अक्षांश और 75°47' से 79°4' पूर्वी रेखांश के मध्य स्थित यह प्रदेश पूर्णतया पर्वतीय है जिसकी ऊंचाई समुद्र तल से 350 से 7,000 मीटर तक चली गई है। यह क्षेत्र मुख्यत: तीन खण्डों में विभाजित है—पहला बाहरी हिमालय [illegible]

कांगड़ा घाटी, बल्ह और पांवटा आदि क्षेत्र आते हैं। दूसरे खण्ड में वर्षा बहुत कम होती है। औसतन वर्ष भर में 700 मि०मी० तक। लेकिन यह क्षेत्र घने देवदार के जंगलों से ढका है। आलपिन जोन वर्ष में 5-6 महीनों तक बर्फ से ढका रहता है। इस क्षेत्र का जीवन अति संघर्षमय है।

हिमाचल प्रदेश की भूमि से पांच प्रमुख नदियां बह रही हैं जो सदैव अपने पवित्र जल से इस देव वसुन्धरा को सींचती हैं। इन नदियों का जहां पौराणिक महत्व माना गया है, वहां प्रदेश की अर्थव्यवस्था में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन नदियों में सबसे विशाल नदी सतलुज मानी गई है जिसे पौराणिक नदी शताद्रु का सम्मान प्राप्त है। इस नदी को किन्नर देश के असुर राजा बाणासुर ने कालान्तर में कैलाश पर्वत की दक्षिणी ढलान से लाया था। यह क्षेत्र भारतीय सीमा के साथ है। कैलाश पर्वत को भगवान शिव का निवास स्थल भी माना जाता है। राकसताल से लगभग 320 कि०मी० तक बहने के बाद यह हिमाचल के पूर्वी भाग में शिपकी (समुद्रतल से 6,608 मीटर की ऊंचाई पर) के स्थान पर प्रवेश होती है। वृहद् हिमालय और जांस्कर के बीचो-बीच बहती सतलुज उत्तर-पश्चिम में खाब नामक स्थान पर स्पिति को किन्नौर जिले में अपने साथ ले लेती है। आगे चलकर बास्पा नदी सतलुज की संगिनी बन जाती है। रामपुर के ठीक नीचे इस नदी के साथ नोगली खड्ड मिल जाती है। इस तरह किन्नौर, शिमला और बिलासपुर जिलों से बहती सतलुज भाखड़ा में हिमाचल प्रदेश से विदाई ले लेती है और पंजाब की धरा में प्रवेश कर जाती है। भाखड़ा में संसार का सबसे विशाल डैम इस नदी पर निर्मित किया गया है। इसके अतिरिक्त भावा हाईडल प्रोजेक्ट, नाथपा-

भाखड़ी हाईडल प्रोजेक्ट, इस नदी पर बनाए गए हैं जिनसे प्रदेश को भारी मात्रा में बिजली मिल रही है। बिलासपुर की घाटी में इसी नदी पर एक सुन्दर विशाल झील भी निर्मित की गई है। यह गोविन्द सागर झील के नाम से विख्यात है जो नौका विहार और मछली के शिकार हेतु लोकप्रिय होती जा रही है।

पूर्वी दिशा में बहने वाली नदी यमुना है। यह हिमालय के गढ़वाल परिक्षेत्र के यमुनोत्तरी नामक स्थान से निकलकर पूर्व में उत्तर प्रदेश के साथ सीमा निर्धारित करती है। तौंस, पब्बर, गिरी गंगा इसकी सहायक नदियां हैं। पब्बर रोहड़ू क्षेत्र से बहती है जिसका उद्गम स्थल चन्सल पहाड़ की चोटि पर स्थित चन्द्रनाहन झील है। गिरी जुब्बल क्षेत्र के ठीक ऊपर कुप्पड़ नामक पहाड़ी की चोटी से बहती है।

रोहतांग ज्योत में स्थित व्यास कुण्ड से व्यास नदी जन्मती है। यहां इस नदी का शिशु रूप देखा जा जा सकता है। यह कुण्ड 4115 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। इस स्थान को ऋषि व्यास से जोड़ा जाता है। यह नदी दक्षिण की ओर मार्ग बनाते हुए लारजी और तत्पश्चात् पश्चिम की ओर बहती चली जाती है। यह नदी कुल्लू और कांगड़ा घाटी का निर्माण करती है। पूर्व में इसकी सहायक नदियां पारवती, स्पिन, मलाणा तथा पश्चिम में सोलंग, मनालमु, मुज्वोंई, फोजल और सरवरी हैं। बजौरा में यह नदी मण्डी जिले में प्रवेश कर जाती है जो बाईं ओर मण्डी शहर के साथ-साथ बहती आगे निकल जाती है। यहां ऊहल, लूणी, राना व बीना उत्तरी सहायक नदियां और दक्षिण में हंसा, तीरथन, बाखली, जिउंणी, सरकेती, पनोड़ी, सोन और बथेड़ इसके आकार को वृहद् और तीव्र बना देती है। इसके बाद ब्यास सन्धोल नामक स्थान में कागड़ा जिले में प्रवेश कर जाती है जहां उत्तरी ढलानों की ओर से बिनवा, न्योगल, बाण गंगा, गज, डेहर और चक्की तथा दक्षिण की ओर से कुन्हा व मान नदियां इसमें मिल जाती हैं। मानसून के दौरान इस नदी का प्रवाह अति विशाल हो जाता है और इसमें बाढ़ भी आ जाती है। उत्तरी और पूर्वी ढलानों से जो नदियां इसमें मिलती हैं वे अधिकतर बर्फ के पिघले पानी से भरी होती हैं।

चौथी प्रमुख नदी रावी है जो धौलाधार की पहाड़ियों में स्थित बड़ा भंगाल से निकलती है। पहले यह नदी पश्चिम की ओर तथा बाद में पीर पंजाल को धौलाधार से अलग करके दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। एक गहरा मार्ग घाटियों के बीचो-बीच बनाते हुए रावी चम्बा जिले में प्रवेश करती है। 130 किलोमीटर दूरी चम्बा की तय करके खेड़ी नामक स्थान पर इससे अलग हो जाती है। पंजाब में प्रवेश करने से पूर्व रावी अपने बाएं छोर से धौलाधार की पहाड़ियों से निकलने वाली केवल एक नदी चिरचिण्ड को अपने साथ लेती है जो छतराड़ी नामक स्थान पर इसमें मिलती है। दक्षिण की नदियों में बुढील, टुण्डा, बेलजेड़ी, साहो और सिऊल इत्यादि हैं। चम्बा शहर जो ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, रावी के दाहिने किनारे पर बसा है।

अन्तिम नदी चन्द्रभागा है जिसे चनाव भी कहा जाता है। चन्द्रभागा दो नदियों का नाम है जो समुद्रतल से 4,891 मीटर की ऊंचाई पर स्थित बारालाचा दर्रे से दो

विपरीत दिशाओं की ओर निकलती हैं। चन्द्रा दक्षिण-पूर्व से और भागा उत्तर-पश्चिम से बहती हुई लाहौल में तांदी नामक स्थान पर मिल जाती हैं। इस संगम को धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। यह स्थल समुद्रतल से 2,286 मीटर की ऊंचाई पर है। यहां यह नदी एक विशाल रूप ले लेती है और उत्तर की ओर मध्य हिमालय के समानान्तर बहती चली जाती है। भुजिन्द नामक स्थान से कुछ आगे यह नदी जिला चम्बा की पांगी घाटी में प्रवेश कर जाती है। संसारी नाला के पास चम्बा से बिछुड़कर काश्मीर की पडार घाटी में चली जाती है।

झीलें, ग्रीष्म जल स्रोत और भूमि

हिमाचल प्रदेश नदियों और झीलों का प्रदेश है। यहां स्थित झीलें अधिकतर पहाड़ की चोटियों पर स्थित हैं। ये न केवल प्राकृतिक सुन्दरता से परिपूर्ण हैं लेकिन धार्मिक दृष्टि से भी इनका महत्व है। वर्ष भर इन झीलों पर कोई-न-कोई पर्व लगा रहता है। अनेक कथाएं और मान्यताएं इन झीलों के जल में समाहित हैं। कई झीलें ऐसी भी हैं जो अधिक दुर्गम और ऊंचाई वाले क्षेत्र में होने के कारण सामान्य जन-जीवन से अछूती हैं।

चम्बा जिले में मणीमहेश झील अत्यन्त प्रसिद्ध है। मणिमहेश कैलाश पर स्थित इस झील का धार्मिक दृष्टि से बड़ा महत्व माना गया है। चम्बा से यह 92 किलोमीटर की दूरी पर समुद्र तल से 3,950 मीटर की ऊंचाई पर है। प्रतिवर्ष मणिमहेश यात्रा का आयोजन किया जाता है जिसमें हजारों लोग शामिल होते हैं। महाकाली झील दूसरी बड़ी झील है जो चम्बा से 45 किलोमीटर दूर समुद्रतल से 3,657 मीटर की ऊंचाई पर है। यहां से 24 किलोमीटर दूर घड़ासरू झील है। खज्जयार झील चम्बा और डलहौजी के मध्य खज्जयार नामक स्थान पर है। इसके चारों ओर सुन्दर देवदार के वृक्ष हैं। लामा झील भी प्रसिद्ध है जो धौलाधार परिक्षेत्र में चम्बा से 45 किलोमीटर की दूरी पर है।

कांगड़ा की झीलों में धर्मशाला के स्थान पर डल झील स्थित है। यहां से यह 11 किलोमीटर की दूरी पर है। धर्मशाला से 35 कि०मी० की दूरी पर कावेरी झील समुद्रतल से 3,045 मीटर की ऊंचाई पर है।

मण्डी में भी कई झीलें स्थित हैं। इनमें पराशर, रिवालसर और कुमारवाह प्रमुख हैं जिनकी धार्मिक दृष्टि से बहुत मान्यता है। रिवालसर मण्डी से 24 किलोमीटर दूर है। इसमें छोटे-छोटे टापू तैरते नजर आते हैं। इसके किनारे बौद्ध मठ, गुरुद्वारा और हिन्दू मन्दिर बने हैं जिससे स्पष्ट है कि यह स्थल हिन्दुओं, बौद्धों और सिक्खों का धार्मिक स्थल है। कहा जाता है कि बौद्धों के गुरु पद्मसम्भव ने यहां कई सालों तक शिक्षा दी थी। कुमारवाह मण्डी से 40 किलोमीटर दूर है। पराशर झील मण्डी नगर से 40 किलोमीटर की दूरी पर है। लगभग 32 कि०मी० के बाद 8 किलोमीटर पैदल

रास्ता है। इसके किनारे पर ऋषि पराशर का मन्दिर है। यह भी धार्मिक तीर्थ स्थल माना जाता है।

कुल्लू जिले में सरकुण्ड और भृगु नामक झीलें काफी ऊंचाई पर हैं। सरकुण्ड को दशहर झील भी कहा जाता है। यह झील रोहतांग पास से लगभग पांच सौ फुट दूर एक पहाड़ी पर है। वर्ष में एक बार यहां विशाल मेला लगता है। लोगों की मान्यता है कि इस झील में स्नान करने से कई शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं। कहा जाता है कि यही वह झील है जिसके जल से बादशाह अकबर की पुत्री की टांग ठीक हुई थी। इसी क्षेत्र में भृगु झील भी स्थित है।

लाहौल-स्पिति की झीलें समुद्रतल से काफी ऊंचाई पर हैं। इन झीलों में बर्फ का पानी भरा रहता है। चन्द्रताल चन्द्रा नदी का उद्गम स्थल है। समुद्र तल से यह झील लगभग 4,890 मीटर की ऊंचाई पर है। इसके चारों तरफ ऊंची बर्फ की चोटियां हैं। कुन्जम पास से इस झील के लिए पैदल मार्ग लगभग 17 किलोमीटर का है। यह झील ट्रैकिंग के शौकीनों के लिए प्रसिद्ध है। इसके लिए अब सड़क का निर्माण भी हो रहा है। सूरज ताल इस जिले की दूसरी प्रमुख झील है।

शिमला जिले में अधिक झीलें नहीं हैं। केवल रोहड़ू तहसील में एक झील है जिसे चन्द्रनाहन के नाम से जाना जाता है। यही पब्बर नदी का जन्म स्थल भी है। समुद्र तल से लगभग 4,300 मीटर की ऊंचाई पर यह झील चांशल चोटी पर है जहां के लिए पैदल मार्ग है।

किन्नौर जिले के नाको गांव में नाको झील स्थित है। यह गांव हंगरंग घाटी का सुन्दर और प्रमुख गांव है। समुद्रतल से 3,662 मीटर की ऊंचाई पर स्थित यह झील बर्फ के पानी से भरी रहती है जो सर्दियों में पूर्णतया जम जाती है और लोग स्केटिंग के लिए यहां दूर-दूर से आते रहते हैं। हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर रिकांग पिओ से 91 किलोमीटर दूर यंगथग जगह है। इसी स्थान से नाको के लिए कच्ची सड़क चली जाती है। इस जिले में और भी बर्फ की झीलें हैं लेकिन वे अधिक ऊंचाई पर होने के कारण भ्रमणीय नहीं हैं। किन्नर कैलाश चोटी पर पारवती कुण्ड है। यह एक मोटी बर्फ की झील है जहां आज तक कोई नहीं जा सका है। बारह महीने यह क्षेत्र बर्फ से ढका रहता है। हालांकि लोग गर्मियों में किन्नर-कैलाश परिक्रमा तो करते हैं परन्तु इस झील के दर्शन नहीं कर पाते।

सिरमौर में श्री रेणुका झील धार्मिक दृष्टि से विख्यात है। नाहन से यह 38 किलोमीटर की दूरी पर सुन्दर पहाड़ियों की गोद में ऐसी लगती है मानो किसी सोई स्त्री का रूप हो। धार्मिक मान्यता है कि ऋषि जमदग्नि ने जब अपने पुत्र श्री परशुराम से अपनी पत्नी रेणुका जी का वध करवाया था तो परशुराम ने पिता से अपनी मां को पुन: जीवित करने का वरदान मांग लिया था। इस पर वे उसे जीवित तो न कर सके लेकिन झील के रूप में अमर अवश्य कर दिया। वर्ष में नवम्बर के महीने में यहां एक विशाल मेला लगता है जिसमें लोग यहां आकर स्नान करते हैं। डेढ़ किलोमीटर के

क्षेत्र में फैली इस झील के किनारे कई मन्दिर निर्मित हैं। इसी के साथ परशुराम ताल स्थित है, जिसे हम छोटी झील कह सकते हैं।

बिलासपुर में मानव निर्मित गोविन्दसागर झील सतलुज नदी पर है। यह झील विश्वविख्यात भाखड़ा डैम के कारण बनी है।

झीलों के अतिरिक्त हिमाचल की भूमि से कई जगह गर्म पानी निकल रहा है। जहां जहां यह पानी निकला है उस स्थान को धार्मिक दृष्टि से प्रसिद्ध माना गया है और लोग इन स्थानों पर जाकर विशेष आयोजनों पर स्नान करना धर्म मानते हैं। इनमें जिला मण्डी में तत्तापानी, कुल्लू में मणिकर्ण, कसौल, विशिष्ट और जिला शिमला में ज्यूरी के समीप अन्नु नाला के किनारे गर्म पानी के चश्में मुख्य हैं। मणिकर्ण में पानी इतना गर्म है कि वहां कुछ ही समय के भीतर चावल और दाल पक जाते हैं। लोग दिन भर यहां आकर स्नान करते रहते हैं। आज इस स्थान का धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्व हो गया है। गुरुद्वारा और कई प्राचीन हिन्दू मन्दिर यहां निर्मित हैं। यह स्थल पारवती नदी के छोर पर स्थित हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि पानी रेडियो-धर्मी हैं। यह पानी गठिया, निमोनिया, सांस नली की सूजन, जोड़ों की पीड़ा के उपचार हेतु प्रयोग किया जाता है।

मनाली से 6 किलोमीटर की दूरी पर धार्मिक स्थल वशिष्ठ है। यहां ऋषि वशिष्ठ का प्राचीन मन्दिर हैं जिसके पीछे से गर्म पानी निकल रहा है। इसमें स्नान करना धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हिमाचल पर्यटन निगम ने इस पानी को लाकर स्नानागृह बनाए हैं। यहीं पर कुछ निजी संस्थानों ने होटलों में भी इसी पानी का प्रयोग शुरू किया है। इसी जिले में भुन्तर से 32 किलोमीटर दूर कसौल नामक जगह है, यहां भी गर्म पानी है। खीर गंगा में भी गर्म पानी के स्त्रोत हैं।

जिला मण्डी में स्थित तत्तापानी नामक स्थान पर सतलुज नदी के किनारे भी गर्म पानी के सल्फरयुक्त चश्में हैं। यह स्थान समुद्रतल से 656 मीटर की ऊंचाई पर हैं। शिमला से यहां की दूरी 51 किलोमीटर हैं। यहां वर्ष में कई बार मेले लगते हैं जिसमें दूर-दूर से लोग आकर स्नान करते हैं। मानसून में जब सतलुज का पानी चढ़ता है तो यह पानी भी साथ-साथ ऊपर चला जाता हैं।

हिमाचल प्रदेश में भूमि कई तरह की हैं जिसमें तरह-तरह की फसलें और फल उगाए जाते हैं। भौगोलिक आधार पर इस प्रदेश की भूमि को पांच खण्डों में बांटा जा सकता है। समुद्रतल से 1000 मीटर की ऊंचाई तक का क्षेत्र निम्न पर्वतीय भूमि खण्ड के अन्तर्गत लिया जाता है। इसमें सिरमौर जिले की नाहन तहसील और पांवटा घाटी, सोलन का कुनिहार क्षेत्र, मण्डी की बल्ह घाटी और चम्बा जिले का निचला भटियान क्षेत्र आता है। यह भूमि गेहूं, मक्की, गन्ना, धान, अदरक और नींबू के लिए उपयुक्त है।

मध्य पर्वतीय भूमि खण्ड समुद्रतल से 1000 से 1500 मीटर की ऊंचाई वाला है। यह भूमि अधिक उपजाऊ है जिसमें आलू, मक्की और सख्त किस्म के फल पैदा

होते है। सिरमोर में पछाद का निचला भाग, सोलन और अर्की तहसीलें, जोगिन्द्र नगर का क्षेत्र, कांगड़ा और पालमपुर तहसीलें, चम्बा, डलहौजी तहसीलें इस खण्ड में आती हैं।

समुद्रतल से 1500 मीटर से 3000 मीटर तक का क्षेत्र ऊपरी पर्वतीय भूमि खण्ड माना गया है। मिट्टी रेतीली और चिकनी है। यह (हरा भूरा रंग लिए होती है। इस क्षेत्र में रेणुका तहसील, पछाद तहसील का ऊपरी भाग, शिमला की ऊपरी पहाड़ियां, मण्डी जिले की चच्योट और करसोग तहसीलें, कांगड़ा और पालमपुर तहसीलों का ऊपरी भाग, चम्बा में चुराह का ऊपरी भाग आता है। इसमें बीज आलू और अच्छी किस्म के फल उगाए जाते हैं।

चौथा खण्ड पर्वताकार भूमि खण्ड है जो समुद्रतल से 3000 से 3500 मीटर तक की ऊंचाई वाला है। इसमें शिमला, सिरमोर तथा चम्बा जिले के ऊपरी भाग आते हैं। कृषि हेतु यह भूमि काफी उपयोगी होती है।

पांचवां शुष्क पहाड़ी खण्ड है। जिला किन्नौर, चम्बा की उप-तहसील और लाहौल-स्पिति के कुछ भाग इस क्षेत्र में आते हैं। यहां वर्षा बहुत कम होती है। वर्ष में लगभग 8 महीने तक यह क्षेत्र बर्फ से ढके रहते हैं। सूखे फलों की काश्त के लिए यह उपयोगी भूमि हैं। लाहौल घाटी आलुओं के लिए काफी उपयुक्त है। स्पिति में जौ और मटर काफी उगाए जाते हैं।

जहां तक इस प्रदेश की जलवायु का प्रश्न है उसमें काफी विविधता रहती है। क्योंकि हिमाचल एक पर्वतीय क्षेत्र है जिसमें 350 मीटर से 7000 मीटर तक ऊंचे पहाड़ हैं। क्यारदा, शिवालिक, व्यास और कांगड़ा घाटी की जलवायु गर्मियों में काफी गर्म और सर्दियों में काफी सुहावनी होती है। इन क्षेत्रों में बर्फ नहीं गिरती केवल वर्षा अधिक होती है। मध्य और निचले हिमालय क्षेत्र सर्दियों में काफी सर्द हो जाते हैं। इन दिनों इस क्षेत्र में काफी बर्फ गिर जाती है। गर्मियों में जलवायु ठण्डा हो जाता है। यह मौसम अति सुहावना लगता है। किन्नौर और लाहौल-स्पिति का जलवायु अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक भिन्न रहता है। आठ महीनों तक यह क्षेत्र बर्फ से ढका रहता है। बाकी दिन गर्मियों के होते हैं। यहां गर्मी भी अधिक नहीं पड़ती। रात और दिन के जलवायु में काफी अन्तर पड़ जाता है।

यह प्रदेश खनिज पदार्थों का भण्डार हैं। वन सम्पदा के लिए अधिक धनी। इसके पहाड़ों पर विभिन्न औषधियुक्त जड़ी-बूटियां पाई जाती है। फलों में सेब यहां का प्रमुख फल माना जाता है। प्रकृति ने इस प्रदेश को वास्तव में ही अनेक आभरणों से संवारा है जिसके मिश्रण से आज हिमाचल प्रदेश विश्वभर में प्रसिद्ध हैं। सैलानियों के लिए यह स्वर्ग हैं। यात्रियों के लिए एक तीर्थ।

मन्दिर कला और शैली

हिमाचल प्रदेश जहां प्रकृति की क्रीड़ा-स्थली माना जाता है वहां इसे देव भूमि

का गौरव भी प्राप्त है। एक अनुमान के अनुसार हिमाचल प्रदेश में पांच हजार से भी अधिक मन्दिर तथा देवालय हैं। इनमें विभिन्न शक्तियों की स्थापना है जिनमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव और स्थानीय देवी-देवता प्रमुख हैं। यहां भगवान विष्णु को अनेक अवतारों के रूप में पूजा जाता है। विष्णु के मुख्य दस अवतार हैं—मत्स्य, वराह, नरसिंह, कूर्म, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कलियुग के अन्त में होने वाला दसवां अवतार। पुराणों के अनुसार इस अवतार को कल्कि नाम से जाना गया है। विष्णु के इन सभी अवतारों की स्थान-स्थान पर पूजा होती है। इनके कुछ अति प्राचीन और कुछेक नये मन्दिर विद्यमान हैं।

भगवान शिव हिमाचल प्रदेश में अधिक पूजनीय हैं। यहां के पर्वतों पर शिव का वास माना जाता है। इनमें किन्नर कैलाश और मणि महेश मुख्यतः हैं। गर्मियों में किन्नर-कैलाश परिक्रमा का विशेष महत्त्व रहता है जिसमें हजारों यात्री भाग लेते हैं। जिला किन्नौर में कल्पा के बिलकुल समक्ष यह चोटि सदैव बर्फ से ढकी रहती है। यहां विद्यमान शिवलिंग काफी विचित्र है। यह दिन में सात रंग बदलता है। इस पर बर्फ नहीं टिकती। इस स्थान को शिव का मूल स्थान माना गया है। सिराज का क्षेत्र शिव-भूमि माना जाता है। महासू इनकी तपोभूमि है। हिमाचल में शिव भी कई रूपों में विराजमान हैं। जगह-जगह अनेक नामों से निर्मित मन्दिर भव्य और प्राचीन हैं।

ब्रह्मा की पूजा प्रायः हमारे समाज में कम होती जा रही है लेकिन हिमाचल प्रदेश में आज भी श्रद्धापूर्वक ब्रह्मा की पूजा का महत्त्व है। यहां की भूमि पर कई जगह ब्रह्मा के मन्दिर इसके प्रमाण माने जा सकते हैं।

भगवान के इन अवतारों के उपरान्त अब लोक देवता आते हैं जो हिमाचल की सांस्कृतिक धरोहर हैं और इसके मूलाधार भी। सत्य पूछा जाए तो यही देवी-देवता यहां के लोगों के दुःख-सुख के साथी हैं। पहाड़ी जनजीवन में इनका अत्यन्त महत्त्व है। पहाड़ों का अति कठिन संघर्षमय जीवन इन्हीं देवताओं की प्रेरणा से चलता है। इन लोक देवी-देवताओं में अनेक तरह के देवता और देवियां विद्यमान हैं। असुर देवता और देवियां भी इन्हीं में आते हैं। देवताओं की अपेक्षा देवी पूजा यहां अधिक प्रचलित है। देवी यहां तीन प्रमुख रूपों में देखी जा सकती हैं। इनमें पार्वती, दुर्गा और काली हैं। देवी की कई नामों से पूजा होती है। किन्नौर में असुर देवता बाणासुर की पुत्रियां देवी रूप में पूजनीय हैं। वहीं इन देवियों की माता हिरमा की भी कम मान्यता नहीं।

हिमाचल की धरती को ऋषि-मुनियों की तपोभूमि भी कहा जाता है। इसलिए स्थान-स्थान पर प्राचीन ऋषि-मुनियों के तपो-स्थल और मन्दिर विद्यमान हैं। लोग इन्हें आज अपने इष्ट देवता के रूप में पूजते हैं। नाग पूजा का महत्त्व भी कम नहीं है। नाग देवता को भी अनेक रूपों में पूजा जाता है।

मूलतः यहां की संस्कृति को देव संस्कृति कहा जाता है। यह इसलिए है कि यहां हर गांव का कोई न कोई अपना देवी-देवता होता है। यही नहीं प्रत्येक परिवार का एक उपास्य इष्ट देव होता है। इसे हम कुल देव या देवी के नाम से भी पुकार सकते

हैं। परिवार के भीतर जहां इस कुल देवता की परम्परानुसार किसी मूर्ति या चिह्न के रूप में नियमित पूजा-अर्चना होती है वहां गांव में इस इष्ट देवता का मन्दिर भी होता है।

वास्तव में यहां अनेक संस्कृतियों का सामंजस्य देखने को मिलता है क्योंकि इस धरा पर सदियों से विभिन्न धर्मों, जातियों और सम्प्रदायों के लोग आकर बसे हैं। यहां वैदिक देवी-देवता, स्थानीय देवी-देवता, ऋषि-मुनियों, महापुरुषों आदि की मान्यता और इनकी अराधना की जाती है जिनके अलग-अलग मन्दिर और पूजा स्थल होते हैं। इन मन्दिरों की विशिष्ट बनावट और अराधना के अलग-अलग ढंग व परम्पराएं होती हैं। इन पर लोगों को इतनी आस्था है कि वे किसी प्रशासनिक अथवा न्यायिक संस्था के नियमों को चुनौती तो दे सकते हैं लेकिन अपने देवी-देवता द्वारा दिए गए किसी भी आदेश या निर्णय को सर-माथे मानना उनका धर्म है। हालांकि यह आस्था आज की मौजूदा पीढ़ी के लिए मात्र एक अन्धविश्वास लगती हो लेकिन इस बात को झुठलाया नहीं जा सकता कि यही देवी-देवता हमारी संस्कृति के मूलाधार हैं जिन पर अधारित हैं यहां के अनेक मेले और त्योहार। इन पुरानी परम्पराओं से जुड़ी कई बातें अन्ध-विश्वास हो सकती हैं, जिनका पालन मानव हित में नहीं हो सकता। भुण्डा जैसे नरमेध यज्ञ इसके उदाहरण हो सकते हैं लेकिन इन परम्पराओं में से यदि हम इन अन्धविश्वासों के मूल तत्त्वों को निकाल देते हैं तो हमारे समक्ष एक ऐसी अमूल्य धरोहर रह जाती हैं जो हमारे संस्कारों को दृढ़ करने में सक्षम हैं। यह संस्कार हमारे विरासती हैं जिन्हें अपना कर हम अपनी माटी को नहीं भुला सकते। अपनी माटी से जुड़ना देश की एकता को मजबूत करना है क्योंकि हर वह व्यक्ति जो अपनी संस्कृति और परम्पराओं का आदर करता है वही देश की एकता और अखण्डता के सही मायने समझ सकता है।

देवी-देवताओं के इन अनेक मन्दिरों में आज हमारी समृद्ध और अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित है। हमारा इतिहास, मान्यताएं और प्रदेश की विशिष्ट सभ्यता इन्हीं में छिपी हैं। यही कारण है कि मन्दिर सम्बन्धित प्रदेशों की सभ्यता और संस्कृति के इतिहास को सामने लाने के महत्त्वपूर्ण माध्यम माने गए हैं। एक ओर जहां इन मन्दिरों की वास्तुकला से हमें लोगों की क्रियाशीलता का परिचय मिलता है वहां दूसरी ओर मन्दिरों की विशिष्ट कलात्मक अभिव्यक्ति से इन पहाड़ी अंचल में भारत के मैदानों और मध्य एशिया से आकर बसी पृथक्-पृथक् जातियों के धर्म, भाषा और परम्परा के ऐसे चिह्नों की कहानी भी मिलती है जो कालान्तर में इस धारा के सांस्कृतिक जीवन से एकाकार होते चले गए। समय के गुजरने के साथ-साथ यही परम्परा हिमाचली कला के रूप में पुष्पित और पल्लवित होती गई। हिमाचल प्रदेश में जो कला और स्थापत्य का अमूल्य भण्डार विद्यमान हैं वह प्राचीन और मध्य युगीन है। यह आज तक इसलिए सुरक्षित है क्योंकि मैदानी इलाकों की अपेक्षा यह प्रदेश बाहरी प्रभावों से अधिक प्रभावित नहीं हुआ।

पर्वतीय स्थापत्य का अति प्रारम्भिक रूप प्राचीन मन्दिरों में मिलता है। यह कला हमारी अमूल्य निधि है, धरोहर है। यह कई रूपों में आज हमारे समक्ष विद्यमान हैं। कहीं इसका स्वरूप लकड़ी पर की गई नक्काशी के रूप में देखा जा सकता है, कहीं पत्थर और धातु मूर्ति कला में तो कहीं चित्रकारी और मन्दिर निर्माण में सुरक्षित और अवलोकनीय है। मूलतः यहां मन्दिर निर्माण में प्रयुक्त कला और उसकी शैलियों पर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

मन्दिर शैलियों का वर्गीकरण विद्वान और विशेषज्ञ कई तरह से करते हैं। हिमाचल के मन्दिरों के निर्माण में वास्तव में एक जैसी शैली का प्रयोग नहीं हुआ है। कुछ विद्वान मन्दिरों की छः शैलियां मानते हैं—इसमें शिखर, पैगोडा, मण्डप (डोम), चौरस, गुफा और गोम्पा हैं। लेकिन अधिकतर मान्यता तीन शैलियों की रही है जिसमें मन्दिर की सभी शैलियां आ जाती हैं। ये तीन वृहद् शैलियां हैं—देशज अथवा खश शैली, भा-आर्य अथवा नागर शैली और तीसरी भा-तिब्बती शैली। नीचे इन शैलियों का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया जा रहा है—

देशज शैली

दूसरी और तीसरी शती के दौरान ओदुम्बरों द्वारा जो सिक्के चलाए गए इस शैली का उदाहरण उनमें देखने को मिलता है। इनकी मुद्राओं पर निर्मित मन्दिर में ध्वज, त्रिशूल और परशु उत्कीर्ण विद्यमान हैं। इसे अधिकतर विद्वान शैव-मन्दिर भी मानते हैं। यह केवल शैली विशेष ही है कोई भवन नहीं है। इसमें चौकोर धरातल की एक ओर दो पादानें हैं और मन्दिर के चारों ओर परिक्रमा पथ भी बना है। इस तरह के पर्वतीय मन्दिरों के सुन्दर उदाहरण व्यास घाटियों के मन्दिरों में देखे जा सकते हैं। देवदार की लकड़ी से निर्मित इन मन्दिरों की कला अति विशिष्ट और अवलोकनीय हैं। पर्वतीय शैली में बनी इन इमारतों का निर्माण काल निर्धारित करना सम्भव नहीं है। इन मन्दिरों के स्थापत्य को चार शैलियों में विभक्त किया जा सकता है जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार हैं—

(क) ढलवां छत और बरामदे वाले मन्दिर

इस शैली के मन्दिर एक ओर से ढलवां छत और बरामदे से सुसज्जित पत्थर और लकड़ी के मिश्रण से निर्मित किए गए हैं। ये चौकोर मन्दिर हैं तथा बहुत प्राचीन हैं। इन मन्दिरों का ऊपरी भाग जहां मुरम्मत किया लगता है वहां इनका धरातल अति प्राचीन है। इन मन्दिरों की शृंखला में चम्बा जिले में छतराड़ी की शक्ति देवी, भरमौर की लक्षणा देवी, लाहौल के उदयपुर गांव में मृकुला देवी, कुल्लू घाटी में बिजली महादेव मन्दिर उल्लेखनीय है। ऊपरी सतलुज और पब्बर घाटियों में इस शैली के अनेक मन्दिर मिलते हैं। निरमण्ड में परशुराम और अम्बिका देवी, सराहन में

भीमाकाली मन्दिर, चौपाल में सराहन स्थित बिजट महादेव मन्दिर पहाड़ी वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

(ख) पिरामिड आकार वाले मन्दिर

पिरामिड आकार वाले मन्दिर पत्थर और लकड़ी के ही चकोर मन्दिर हैं। इस शैली के छतों वाले मन्दिर जुब्बल घाटी में देखने को मिलते हैं। इस तरह के मन्दिर आमतौर पर एक वर्गाकार कुर्सी पर बनाए जाते हैं। इनकी एक या दो मंजिले हो जाती हैं। सबसे ऊपर कलश या फिर लकड़ी का छत्र बना होता है। जिला शिमला में स्थित हाटकोटी का हाटेश्वरी मन्दिर इस शैली का संजीव उदाहरण है।

(ग) पैगोडा शैली के मन्दिर

ये मन्दिर लड़की और स्लेट से निर्मित छतों वाले पत्थर और लकड़ी के चकोर मन्दिर होते हैं। इन पर लकड़ी की गोल छतें एक के ऊपर दूसरी बनी होती है। दूर से ये मन्दिर छतरी जैसे लगते हैं। पैगोडानुमा स्थापत्य अन्य स्थापत्य शैलियों में सबसे *ज्यादा सुन्दर है। कुछ लोगों का विचार है कि यह शैली चीनी शैली से प्रभावित है,* लेकिन कुछ विद्वानों का मानना है कि पैगोडा शैली भारत से नेपाल और तिब्बत होती हुई चीन और जापान पहुंची है। एक अन्य मान्यतानुसार ईसा के आरम्भ में यह शैली भारतीय मैदानों से इधर आई । यह तथ्य औदुम्बरों के सिक्कों से भी स्पष्ट होते हैं। मण्डी, कुल्लू, शिमला और किन्नौर जिलों में इस शैली के अनेक मन्दिर हैं। मनाली का हडिम्बा देवी मन्दिर, मण्डी का पराशर ऋषि मन्दिर, नगर में त्रिपुरा सुन्दरी मन्दिर, दयार का त्रिजुगी नारायण और खोखन का आदि ब्रह्म मन्दिर इस शैली के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं।

(घ) ढलानदार और पैगोडा आकार के मन्दिर

ढलवां और पैगोडा शैली की छत के मिश्रण से निर्मित इन मन्दिरों को सतलुज घाटी शैली के नाम से भी जाना जाता है। यह शैली पब्बर घाटी में भी प्रचलित रही है। ये मन्दिर शिव, दुर्गा, नाग और अन्य अनेक स्थानीय देवताओं की पूजा के परिचायक हैं।

2. भा-आर्य शैली

भा-आर्य शैली के अन्तर्गत हिमाचल प्रदेश में निर्मित विभिन्न स्थानों पर शिखर शैली के मन्दिर आते हैं। इन मन्दिरों का निर्माण काल 8वीं से 15वीं शताब्दी के मध्य का बताया जाता है। ऐसे मन्दिर घनी आबादी में देखे जाते हैं जिस कारण इन्हें नागर शैली के मन्दिर भी कहते हैं। नागर मन्दिरों की दो उप शैलियां मानी जाती हैं—पहली शैली में ऐसे मन्दिर आते हैं जिनमें एक गर्भगृह होता है। इसमें इष्ट

देव की प्रतिमा स्थापित की जाती है। इस तरह के मन्दिरों में मण्डप नहीं होता लेकिन दो स्तम्भों पर निर्मित एक सुन्दर द्वार मण्डप अवश्य होता है। जिला कुल्लू के बर्जोरा गांव में स्थित विश्वेश्वर महादेव मन्दिर इस शैली का सुन्दर उदाहरण माना जाता है। दूसरी शैली में मण्डप बना होता है। कांगड़ा में बैजनाथ और मण्डी में पंचवक्त्र महादेव, लाहौल के त्रिलोकपुर गांव में स्थित त्रिलोकी नाथ मन्दिर इस दूसरी उप शैली के उत्कृष्ट स्तम्भ हैं। ये मन्दिर 15वीं और 16वीं शताब्दी के बने हैं। हिमाचल के पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित नागर शैली के मन्दिरों में आमलक के ऊपर तथा चारों ओर लकड़ी अथवा जस्त का एक छत्राकार शिखर चोटि पर होता है। कांगड़ा घाटी में ही स्थित मसरूर मन्दिर इस शैली का उत्कृष्ट नमूना है। इस मन्दिर को एक ही चट्टान से तराश कर बनाया गया है। ये आठवीं शती के आसपास के हैं। शिला में बनाई गई उत्कीर्ण वेदियां जो कि दक्षिण में आम देखी जा सकती हैं, हिमाचल प्रदेश में केवल इसी मन्दिर में देखी जा सकती है। यह भा-आर्य कला की शिखर शैली के 15 मन्दिरों का विशाल समूह है। मुख्य वेदिका को ठाकुर द्वारा कहते हैं। उक्त मन्दिरों के अतिरिक्त नीरथ का सूर्य भगवान मन्दिर, चम्बा में मणिमहेश, नगर में गौरी शंकर, जगतसुख का सन्ध्या देवी मन्दिर भी इस शैली के सुन्दर उदाहरण हैं।

3. भा-तिब्बती शैली

लाहौल-स्पिति तथा किन्नौर का क्षेत्र भा आर्य और मंगोल जातियों की मिलन स्थली माना गया है। ऐसा माना जाता है कि प्राचीन काल में स्पिति पर सेन-कुल नाम वाले राजाओं का शासन रहा था। इनमें समुद्रसेन नामक राजा की ताम्रपट्टिका जो सातवीं शती की है, निर्मांग में मौजूद है। अशोक तथा कनिष्क काल में बौद्ध-धर्म के प्रसार के माध्यम् से भी यह धर्म सम्बन्धी कला उत्तरी भारत में नदी-घाटियों के माध्यम् से लद्दाख, लाहुल-स्थिति तथा किन्नौर तक पहुंची। सातवीं शती में तिब्बत के राजा ने अपने कुछ विद्यार्थियों सहित तिब्बती लिपि का रूप निर्धारण करने हेतु काश्मीर भेजा जो ऊपरी सतलुज घाटी, स्पिति और चन्द्रभागा चोटियों से गुजरे। अनेक मन्दिरों और मठों के निर्माण की कहानी इस समय से जुड़ी हैं। इनमें से एक रिन-चेन्-साग-पो लामा हुए हैं जिन्होंने अनेक मठों और मन्दिरों का निर्माण करवाया है। इनमें तावो, कानम, गेमूर तथा विभिन्न स्थानों पर अन्य मन्दिर और मठ प्रमुख हैं। इन दो जिलों में हिन्दू मन्दिरों के साथ बौद्ध मन्दिर भी स्थापित हैं। मठों में अनेक सभा भवन होते हैं। दीवारें सूखी ईंटों से बनाई गई होती हैं। ये गांव से दूर ऊंचे स्थानों पर होते हैं। इस पुस्तक में बौद्ध मन्दिरों को नहीं लिया गया है।

मन्दिरों की इन निर्माण शैलियों में हालांकि विभिन्न वास्तुकला का मिश्रण तो है लेकिन यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनेक संस्कृतियों से सम्बद्ध कलाएं अपनी मूल विशेषताओं को संजोए हिमाचली जनजीवन, यहां की कला और संस्कृति के साथ इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि इन्हे अलग करना सम्भव नहीं। यह वास्तुशिल्प जहां

पुरातात्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं वहां हमारी संस्कृति को गहराई से समझने का भी सुनहरा अवसर प्रदान करता है। प्राचीन काल में राज महाराजा कला के प्रेमी हुआ करते थे इसलिए ही वे इस कला को भवनों, महलों, दीवारों और मन्दिरों में सुरक्षित रख लिया करते थे। हिमाचल प्रदेश में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां यह प्राचीनतम कला मौजूद हैं। बताया जाता है कि पुराने जमाने में लगभग 35 चित्रकला केन्द्र हिमाचल प्रदेश में मौजूद थे इनमें से कुछ प्रमुख केन्द्र गुलेर, कांगड़ा, चम्बा, नूरपुर, मण्डी, कुल्लू, बिलासपुर और अर्की प्रमुख माने जाते हैं। इन्हें पहाड़ी चित्रकला के स्कूलों के रूप में जाना जाता था। चित्रकार अपनी कला से बेजान वस्तुओं में जान डाल देते थे।

आज यह प्राचीन कला हमारे समक्ष किसी न किसी रूप में विद्यमान तो हैं लेकिन कलाकारों और उसके पारखियों का अक्सर अभाव खलता है। आज हम इस अमूल्य दुर्लभ सांस्कृतिक धरोहर को यदि केवल सुरक्षित भी रखें तो यही बात हमारे लिए महत्त्वपूर्ण और गौरवमयी है। क्योंकि आज के युग में जगह-जगह सिनेमाघर और वीडियो पार्लर तो मिल सकेंगे लेकिन हजारों मील चलने पर भी एक कला केन्द्र का मिलना मुश्किल है। इसलिए इस धरोहर की सुरक्षा और परख हम सभी का पहला कर्त्तव्य हो जाता है।

2

चम्बा

छठी शताब्दी के मध्य में मरु नामक एक सूर्यवंशी राजा हिमालय की पहाड़ियों से भ्रमण करता हुआ ब्रह्मपुर पहुंचा। यही ब्रह्मपुर आज "भरमौर" के नाम से जाना जाता है। बताया जाता है कि यह राजा सूर्य वंशी परिवार का मुखिया था जो पहले कल्पा आया और वहाँ कुछ दिन रुकने के बाद किसी अन्य स्थान की तलाश में निकल पड़ा। इसके साथ कुछ ओर पुरुष और एक बेटा भी था। ब्रह्मपुर में उस समय राणाओं का शासन चल रहा था लेकिन ये राणा भी आपस में विभक्त थे। मरु जिसे मारुत भी कहा गया है, ने इस आपसी फूट का लाभ उठाकर अपनी शक्ति के बल पर उन्हें अपने अधीन कर लिया और इस तरह ये राणा शासक मरु को अपना राजा मानने लग गए। यह राजा जहां वीर पुरुष और कूट राजनीतिज्ञ था वहां एक भक्त, तपस्वी और योगी भी था। देव भक्ति जैसे उसके अंग-अंग में कूटी हुई थी। यह राज्य मरु राज्य के नाम से विख्यात हुआ लेकिन इसकी राज्य सीमा बहुत कम क्षेत्र तक फैली हुई थी। फिर भी इस राज्य में वर्तमान भरमौर तहसील, रावीघाटी, बड़ा भंगाल, बुद्धल और तुंदाह घाटियाँ तथा छतराड़ी तक का क्षेत्र शामिल था।

अपनी रियासत का कामकाज सुचारु रूप से चलते देखकर मरु ने अपने पुत्र जय स्तम्भ को इस रियासत का राजा नियुक्त कर लिया और स्वयं संसारिक सभी बंधनों से मुक्ति लेकर हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं में सन्यास लेकर ईश्वर भक्ति में लीन हो गया। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि मरु नामक यह मुखिया कल्पा से यहां आया था और पुनः अपने बेटे का राज्यभिषेक करके कल्पा ही लौट कर संन्यासी बन गया। मरु राजा के बाद उसके पुत्र ने कुशलता से ब्रह्मपुर का शासन चलाया। इस तरह जयस्तम्भ के बाद जलस्तम्भ, महा स्तम्भ और आदि वर्मन राजाओं ने इस शासन प्रणाली की कड़ी को जोड़े रखा लेकिन इनके राज्य काल का विशेष प्रमाणिक वर्णन उपलब्ध न होने के कारण इन राजाओं के कार्यकाल के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। लेकिन जयस्तम्भ की वंशावली में राजा आज्य वर्मा हुआ जो भगवान शिव का अनन्य भक्त माना गया है। लेकिन अधिक समय यह राजा भी शासन न कर सका। अतः इसके बाद आज्य वर्मा ने अपने पुत्र मेरु वर्मा को इस रियासत का राज्य सौंप

दिया । मेरु जयस्तम्भ की पीढ़ी का दसवां राजा माना जाता है । बचपन से ही मेरु वर्मा शिव भक्त था और इस राजा ने अपना राज्य भगवान शिव की प्रेरणा के साथ देवी-देवताओं की अराधना से ही चलाया । यह राजा अपने वंश के अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक बलवान, प्रतापी, तपस्वी, कलाभक्त, नीतिनिपुण, देवोपासक और अत्यन्त धार्मिक प्रवृति का था । बताया जाता है कि इस राजा ने अपनी शक्ति से रियासत की सीमा को बढ़ाना शुरू कर दिया और कुल्लु तक का क्षेत्र ब्रह्मपुर में शामिल कर लिया । कई महत्वपूर्ण मन्दिरों का निर्माण भी इसी काल में हुआ है । इनमें भरमौर के चौरासी परिसर में भगवान शिव का शिखराकार मन्दिर सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है जिसे मेरु वर्मन ने सातवीं शताब्दी में निर्मित करवाया । यह मन्दिर आज मणिमहेश मन्दिर के नाम से विख्यात है । देवी शक्ति का प्रतीक छतराड़ी का शक्ति देवी मन्दिर भी मेरु वर्मन की ही देन है जिसकी कलात्मकता को देखने के लिए आज भी देश-विदेश से लोग छतराड़ी में पहुँचते हैं । भरमौर में ही मां लक्षणा देवी का मन्दिर एक अन्य उदाहरण है जो इसी समय बनाया गया

भगवान शिव और देवी शक्ति की प्रेरणा से मेरु वर्मा ने अपनी रियासत को एक शक्तिशाली रियासत का दर्जा प्रदान कर दिया जो अपने आप में एक उदाहरण था । राजा मेरु वर्मा के बाद तीसरी पीढ़ी में सुजन वर्मा ने इस रियासत को अति कुशलता से चलाया । इससे पूर्व के राजा सार वर्मा, सेन्य वर्मा इत्यादि ने विशेष ध्यान इस राज्य की ओर नहीं दिया और जो कुछ राजा मेरु वर्मा ने संचित किया था उसी में उन्होंने संतोष कर लिया । लेकिन सुजन वर्मा के पुत्र शैल वर्मा ने जब राज्य सम्भाला तो इस रियासत का भाग्य ही जैसे जाग उठा । शैल वर्मा जिसे बाद में साहिल वर्मा के नाम से जाना गया उसने नौवीं शताब्दी में अपनी राजधानी ब्रह्मपुर/भरमौर से रावी के तट पर वर्तमान चम्बा शहर के लिए स्थानान्तरित कर दी । बताया जाता है कि चम्बा शहर इससे पूर्व भी एक सुन्दर फला-फूला हुआ शहर था । निःसंदेह साहिल वर्मा को यह स्थान पसन्द आया हो और उसने तभी अपनी राजधानी यहां बदली हो । उस समय यह नहीं माना जा सकता कि इसका नाम चम्बा ही हो । क्योंकि राजा साहिल वर्मा ने अपनी पुत्री चम्पावती के नाम पर ही इसका नाम, चम्पा रखा । चम्पावती को यह स्थान अति प्रिय था और हो सकता है कि अपनी बेटी की ही जिद्द पर साहिल वर्मा ने भरमौर से यहां अपनी राजधानी भी बदली हो । कुछ लोग यह तथ्य अस्वीकार कर लेते हैं कि चम्बा नगर की नीव ही साहिल वर्मा ने रखी थी क्योंकि चम्बा राज्य की वंशावली और कुछ पुरातत्व अवशेषों से यह प्रमाण मिलते हैं कि चम्बा नगर इससे पूर्व भी एक अच्छा-सुन्दर आवाद था और उस समय भी इसका नाम चम्पा ही था । एक अन्य धारणा यह भी रही है कि चम्बा में चम्पा नामक वृक्षों से ही "चम्पा" नाम लोगों ने रखा हो और जब साहिल वर्मा की पुत्री ने इस सुन्दर स्थल को देखा तो उसे यह बहुत पसन्द आ गया हो । तदोपरान्त साहिल वर्मा ने अपनी बेटी का

नाम ही चम्पावती रख लिया हो और यहाँ अपनी राजधानी बदल कर इस नगर को नया रूप देने के लिए विशेष कार्य किया हो ।

कुछ भी हो, चाहे चम्पा से चम्पावती हुआ हो या चम्पावती से चम्बा लेकिन इतना अवश्य है कि आज चम्बा का जो विशेष स्थान इतिहास में हैं उसका श्रेय साहिल वर्मा को ही जाता है। क्योंकि इस राजा ने मानों अपनी अविस्मरणीय कल्पना से इस नगर को सजाया-संवारा हो । साहिल वर्मा ने अपने राज्य काल में कई महत्वपूर्ण कलात्मक मन्दिरों के निर्माण करवाए जो अतीत की स्मृतियों के लिए आज भी शहर के मध्य धर्म और इतिहास के प्रचुर प्रमाण हैं। यही नहीं चम्बा नगर के लिए राजा साहिल वर्मा ने अपनी रानी तक का बलिदान दे दिया था जिसका स्मृति चिन्ह शहर के ऊपर माता सूही का मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। रानी सुही की याद में प्रति वर्ष जो मेला लगता है उसके परिदृष्य देखकर स्वत: ही आँखे आसूओं के अम्बारों से भर आती है ।

लगभग दस शताब्दियों तक चम्बा राजा साहिल वर्मा के वंशजों की राजधानी रहा। साहिल वर्मा ने खुद 920-940 ई० तक चम्बा पर शासन किया। इसके बाद कई शासक आए लेकिन मेरु वर्मा और साहिल वर्मा द्वारा जो कुछ भी यहाँ अपनी शक्ति और सूझ-बूझ से बनाया गया उसका संरक्षण करना ही उनके लिए एक चुनौती बन गया। 16वीं शताब्दी अर्थात् 1678 ई० में राजा चत्तरसिंह चम्बा के शासक थे। औरंगजेब ने एक बार इस राजा को धमकी दी कि चम्बा के सभी मन्दिरों को गिरा दे। यदि ऐसा नहीं किया गया तो वह खुद चम्बा के मन्दिरों को गिरा देगा। लेकिन बताया जाता है कि यहाँ के देवी-देवताओं की शक्ति के कारण उसकी यह योजना सिरे न चढ़ सकी। हालांकि 1905 में आए भारी भूकम्प ने यहाँ कुछ मन्दिरों को काफी क्षति पहुंचाई थी। उसके बाद महाराजा रणजीत सिंह के शासन काल में सिक्खों ने यहाँ की रियासतों पर अपना कब्जा जमाने के प्रयास शुरू कर दिए थे। इस कारण चम्बा रियासत का कुछ भाग अवश्य चला गया। सन् 1846 ई० में जब सिक्खों की पहली लड़ाई हुई तो यह रियासत भी अन्य रियासतों की तरह अंग्रेजों के अधीन आ गई लेकिन अंग्रेज भी इस देवभूमि में अधिक देर न टिक सके और 15 अगस्त 1947 में उन्हें यह देश ही छोड़ना पड़ा तथा उसके बाद यहाँ के लोगों और शासकों ने भी चैन की सांस ली। 15 अप्रैल, 1948 को चम्बा रियासत कुछ अन्य रियासतों के साथ हिमाचल में शामिल हुई और तभी से चम्बा एक जिले के रूप में विकसित हो गया। प्रमुख शहर चम्बा के नाम पर ही पूरे जिले का नामकरण किया गया है।

समुद्रतल से 966 मीटर की ऊँचाई पर स्थित यह शहर रावी नदी के दोनों छोर पर बसा है। डलहोजी से 53 कि० मी०, पठानकोट से 118 किलोमीटर और शिमला से 422 कि० मी० की दूरी पर स्थित एक सुन्दर ऐतिहासिक शहर है। उच्च पर्वत श्रृंखलाएं सदैव इस शहर की चारों ओर से रक्षा कर रही है। चारों तरफ हरे-भरे वन्य क्षेत्र हैं, मानों इसे जैसे इन्होंने अपनी बाहों में समेटे रखा हो। रावी नदी में सदैव यह शहर अपनी उत्कृष्ट कला से सुसज्जित छवि को जैसे सदा निहारा करता हो।

6528 वर्ग किलोमीटर में फैले इस जिले की सीमाएं उत्तर में जम्मू-काश्मीर, पूर्व में लाहौल-स्पिति, पश्चिम में पंजाब के गुरदासपुर व जम्मू-काश्मीर तथा दक्षिण में कांगड़ा जिला से लगती हैं। भरमौर मणिमहेश, डलहौजी, खज्जयार इत्यादि इस जिले के प्रमुख दर्शनीय और धार्मिक स्थल हैं। जगह-जगह शहर के अतिरिक्त कई प्राचीन ऐतिहासिक कलात्मक मन्दिर स्थापित हैं जिनकी कला देखते ही बनती है। इनमें स्थापित कांस्य प्रतिमाएँ यहां की मूर्ति कला की संजीव उदाहरण मानी जाती हैं। शिखराकार मन्दिरों के अतिरिक्त दो लकड़ी के मन्दिर इस जिले में स्थित हैं जिन्हें उत्तरी भारत में महत्व-पूर्ण माना जाता है। ये मन्दिर भरमौर में लक्षणा देवी और छतराड़ी में शक्ति देवी के नाम से विख्यात हैं। लाहौल में स्थित उदयपुर गांव में मृकुला का मन्दिर भी पहले चम्बा का ही एक भाग था। इसके अतिरिक्त कई अन्य पहाड़ी शैलियों के मन्दिर विद्यमान हैं जिनकी छतें प्रायः सलेटों से छवाई है। छत के नीचे छोटा सा गर्भगृह निर्मित होता है। इनमें पहाड़ी शैली में उत्कृष्ट लकड़ी पर नक्काशी मौजूद हैं।

मूर्तिकला चम्बा की प्राचीन परम्परा रही है। यहां की धातु-मूर्तियाँ आज भी आश्चर्य चकित कर देती हैं। ऐसी विचित्र उत्कृष्ट प्रतिमाएं शायद ही आज उत्तरी-पश्चिमी भारत में विद्यमान हों। चम्बा शहर के मध्य स्थापित भूरिसिंह संग्रहालय में चम्बा की अमूल्य कला और सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखा गया है। इसमें प्राचीन लेख, ताम्र पत्र, धातुओं, लकड़ी और पत्थरों की प्रतिमाएं, लकड़ी पर की गई विचित्र नक्काशी, चम्बा रूमाल और पहाड़ी चित्र कला शैलियाँ सुरक्षित हैं।

शहर के मध्य एक विशाल हराभरा सार्वजनिक विहार स्थल है, जिसे चौगान के नाम से पुकारा जाता है। इसके एक छोर से जहां आप रावी के कल-कल का मधुर संगीत सुन सकते हैं वहां दूसरे छोर से विशाल पर्वत श्रृंखलाओं का अवलोकन भी कर सकते हैं। इस चौगाना के मध्य कई कालों का इतिहास छिपा है और कई दुखों के सागर। इसके बीच में बैठ कर आपको कुंजू के विरह में भटकती चंचलों के पांव की पद-चाप अवश्य सुनाई देगी। वह दर्दीले बोल भला किसे अपने-अपने विरह में तड़फने को मजबूर नहीं कर देंगे ....

"चम्बे रे चौगाने मेरा डेरा कुंजूआ, बिच पीपल नशाणी हो, मेरिए जिंदे बिच पीपल नशाणी हो।"

मन्दिरों, महलों और लोकगीतों की इस चम्पई वसुन्धरा का एकान्त आश्चर्य-पूर्ण है, अद्वितीय है और अविस्मरणीय भी। वर्ष भर चौगान किसी न किसी मेले से गूंजा रहता है। मिंजर, सुई और दशहरा यहां के अभूतपूर्व मेलें हैं, जो विरह और बलिदानों और साथ विजय के प्रतीक हैं। अगस्त-सितम्बर में मणिमहेश की यात्रा इसी चौगान के छोर से प्रारम्भ होता है जिसमें लाखों लोग शामिल होते हैं।

आप भी इन मेलों त्योहारों और यात्राओं में शामिल होकर यहां की अनमोल संस्कृति में डूब सकते हैं, यहां के मन्दिरों में जाकर अपनी मन्नते पूरी कर सकते हैं और

रावी के तट पर बैठकर किसी विरह में डूबकर एक सुन्दर कविता की रचना कर सकते हैं।

चम्बा में विभिन्न शैलियों के मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें अधिकतर मन्दिर छठी और सातवीं शताब्दी में निर्मित हुए हैं। इनमें कुछ मन्दिरों का विवरण यहां दिया गया है।

लक्ष्मीनारायण मन्दिर समूह

चम्बा के प्राचीन मन्दिरों की शृंखला में लक्ष्मीनारायण मन्दिर का कलात्मक दृष्टि से विशेष महत्व है। यह मन्दिर चम्बा के मध्य शहरी भाग में निर्मित है। चम्बा बस स्टेशन से चौगान की ओर खुली सड़क चली गई है। कुछ दूर आगे चल कर मुख्य सड़क से शहर के मध्य दाईं ओर का रास्ता सीधा मन्दिर परिसर में पहुंचता है। इस रास्ते के दाईं ओर ऊपर पुराना राजमहल है और बाईं ओर नीचे चारों तरफ से ऊंची दीवार के भीतर यह मन्दिर विद्यमान है। सामने की ओर से भीतर जाने के लिए दो गेट हैं। लेकिन पहला गेट बन्द है। दूसरे गेट से लोग दर्शनार्थ जाते हैं। इस गेट के बाहर रास्ते के दूसरी तरफ एक ऊंचा खम्बा है जो पत्थर का बना है। इसके ऊपर एक सुन्दर बाज बैठा लक्ष्मीनारायण मन्दिर की ओर मुंह किए दर्शाया गया है। मन्दिर के बाहर की दीवार के भीतरी भाग में सराए और दफ्तरों के लिए कमरे निर्मित हैं। वास्तव में बाहर से जो दीवार दिखती है यह दो मंजिला इमारत है और यह काफी दिनों पहले जल गई थी। गेट की ओर अब केवल दीवार ही खड़ी है लेकिन दूसरी ओर भवन बना दिये गए हैं। इस दीवार का पुराना कलात्मक ढांचा जल गया था।

गेट से प्रवेश होते ही इस परिसर में निर्मित 6 मन्दिरों के समूह का पहला भव्य और विशाल मन्दिर लक्ष्मीनारायण का है। भीतर पहुंचते ही भगवान विष्णु की विशाल संगमरमर की प्रतिमा के दर्शन हो जाते हैं। पहले बड़ा हाल है। जिसके मध्य एक चबूतरा सा निर्मित किया गया है। उसके बाद मन्दिर का गर्भगृह है। इसमें लकड़ी का बड़ा दरवाजा है। दो खम्बों के गेट के साथ आर-पार पुजारियों के बैठने का स्थान है। विशाल सिंहासन पर निर्मित भगवान विष्णु की भव्य संगमरमर की चतुर्भुज प्रतिमा अवलोकनीय है। सिंहासन के एक ओर भगवान श्री गणेश और दूसरी तरफ भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापित है। सिंहासन के समक्ष वाली चौड़ी पट्टी पर मध्य में गरुड़ है और दोनों तरफ शेरों के मुख दर्शाए गए हैं। मूर्ति के पैरों के दोनों तरफ भी कई प्रतिमाएं हैं। जिनमें चांद-सूरज, बाल-गोपाल दिखाए गए हैं। ये विष्णू की टांगों को पकड़े हुए बताये गए हैं। चरणों के बीच मां लक्ष्मी की छोटी सी प्रतिमा है। प्रतिमा के सर पर सुन्दर ताज और छतर है। कानों में कुण्डल लगे है। पीछे चांदी का तोरण है जिसमें पांच छतर जड़े हैं। इस प्रतिमा के भी चार मुख हैं। सामने विष्णू रूप, दोनों तरफ सिंह और वराह तथा पीछे नरसिंह यानि विराट रूप है। यह विराट रूप देखा नहीं जा सकता है। मूर्ति को सुन्दर आभूषणों और कपड़ों से सजाया गया है। गर्भ गृह

के बाहर जो हाल है उसमें उसमें ऊंचा स्थान बनाया गया है जिस पर एक लकड़ी का आसन रखा गया है। यह बेंच की तरह है जिस पर दो बड़े-बड़े नगाड़े रखे गए हैं।

इसी शैली में इस मन्दिर के बिलकुल साथ इस समूह का दूसरा मन्दिर राधा-कृष्ण का है। यह इस मन्दिर से छोटे आकार का है। गर्भगृह में राधा और भगवान कृष्ण की संगमरमर की सुन्दर प्रतिमाएं स्थापित हैं। ये प्रतिमाएं चांदी के पत्तरों से जड़े सिंहासन पर विद्यमान हैं। भगवान कृष्ण की प्रतिमा चतुर्भुजी है। मन्दिर का दरवाजा प्रायः बन्द रहता है लेकिन दरवाजे में मोटे सरिए लगे हैं जिनके मध्य से ये प्रतिमा स्पष्ट देखी जा सकती है। साथ अन्य कई देवी-देवताओं के निशान भी रखे गए हैं।

राधाकृष्ण मन्दिर इस वर्ग का अपेक्षाकृत नवीन मन्दिर है जिसे राजा चम्बा जीत सिंह की विधवा रानी शारदा ने बनवाया था।

इस समूह का तीसरा मन्दिर चन्द्रगुप्त महादेव का है। यह मन्दिर लक्ष्मी-नारायण मन्दिर के साथ ही निर्मित किया गया है जो दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी का है। यह मन्दिर उस समय भी विद्यमान था जब साहिल वर्मा ने यहाँ अन्य मन्दिरों की स्थापना की। जलहरी में स्थापित शिवलिंग गर्भगृह में सुशोभित है। ऊपर चांदी का छतर है। शिव को समर्पित यह मन्दिर इस समूह का प्राचीनतम मन्दिर है।

चौथा मन्दिर भगवान शिव को ही समर्पित गौरीशंकर महादेव का है। यह मन्दिर प्राचीनता की दृष्टि से तीसरे स्थान पर आता है। गर्भगृह में कांसे की भगवान शिव को समर्पित मूर्ति कला का अभूतपूर्व उदाहरण है। इसमें पीछे नन्दी दिखाया गया है। बताया जाता है कि प्रतिमा राजा साहिल वर्मा के पुत्र युगाकर वर्मन ने 11वीं शताब्दी में बनवाई थी। मूर्ति चतुर्भुजी है जिसके समक्ष शिवलिंग स्थापित है।

पांचवां मन्दिर अम्बकेश्वर महादेव को समर्पित है। इसे त्रिमुक्तेश्वर के नाम से भी जाना जाता है। इसके गर्भगृह में त्रिमुखी शिवलिंग स्थापित है। यह संगमरमर का मूर्तिरूपी शिवलिंग है। शिखर पिरामिड के आकार का है। इसके पीछे दीवार के साथ कई छोटी-छोटी पत्थर की प्रतिमाएं हैं।

अन्तिम छठा मन्दिर लक्ष्मीदामोदर के नाम से विख्यात भगवान विष्णु को समर्पित है। इसके गर्भगृह में भगवान विष्णू की प्रतिमा संगमरमर की बनी खड़ी हुई मुद्रा में दर्शायी गई है। यह चतुर्भुजी है।

इन मन्दिरों के अतिरिक्त कई अन्य मन्दिर भी इन प्राचीन मन्दिरों के साथ छोटे आकार के विद्यमान हैं। अन्तिम लक्ष्मीदामोदर के मन्दिर से वापिस आते हुए सामने की ओर एक खुले ढलवां छत के मन्दिर के भीतर नन्दी की विशाल मूर्ति खड़ी दर्शायी गई है जिसका मुख अम्बकेश्वर महादेव के मन्दिर के समक्ष है। इसके साथ लघु शिव मन्दिर निर्मित है। मध्य भाग में शिवलिंग स्थापित है। श्री महावीर मन्दिर लक्ष्मीनारायण मन्दिर के साथ है जिसका दरवाजा राधाकृष्ण मन्दिर की ओर है। इस मन्दिर की दीवार में सुन्दर कलात्मक रूप से भगवान महावीर की प्रतिमा बनाई गई है।

इस तरह उत्तर से दक्षिण की ओर शिखराकार ये छः मन्दिर क्रमशः श्री लक्ष्मीनारायण, श्री राधाकृष्ण, श्री चन्द्रगुप्त, श्री गौरीशंकर, श्री अम्बकेश्वर और श्री लक्ष्मीदामोदर के हैं जिनमें तीन भगवान विष्णू और तीन भगवान शिव को समर्पित हैं। ये मन्दिर राजा साहिल वर्मा ने दसवीं शताब्दी में बनवाए जिनका 16वीं शताब्दी में राजा प्रताप सिंह ने पुनरुद्धार किया।

श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर परिसर के उत्तर से दक्षिण की ओर स्थापित मन्दिर कला के अभूतपूर्व उदाहरण है। लम्बी कतार में खड़े ये मन्दिर चम्बा नगर के इतिहास और धर्म के मूक साक्षी हैं। हिमाचल प्रदेश में शिखर और नागर शैली के मन्दिरों में लक्ष्मीनारायण मन्दिर विशाल माना जाता है। चम्बा नगर का यह प्रमुख धार्मिक केन्द्र है।

इस मन्दिर में स्थापित भव्य संगमरमर की प्रतिमा के सन्दर्भ में एक रोचक कथा कही जाती है। बताया जाता है कि जिन संगमरमर के पत्थरों से ये प्रतिमाएं बनाई गई हैं उन्हें विन्ध्याचय पर्वत से राजा ने अपने नौ पुत्रों द्वारा मंगवाया था। लेकिन जब मूर्ति निर्माण के समय उन पत्थरों को काटना प्रारम्भ किया गया तो उसमें मेंढक निकल आया। इसलिए विष्णू की प्रतिमा के निर्माण हेतु यह अपशगुन माना गया। इसलिए इन पत्थरों से विष्णू की प्रतिमा न बनाकर अन्य प्रतिमाएं बनाई गई जिनमें भगवान शिव का त्रिमुखी शिवलिंग, जो अम्बकेश्वर महादेव मन्दिर में स्थापित है, भगवान गणेश, लक्ष्मी माता की प्रतिमाएं प्रमुख हैं। इसके बाद साहिल वर्मा ने पुनः अपने पुत्रों को संगमरमर के पत्थरों के लिए भेजा लेकिन दुर्भाग्यवश रास्ते में वे सभी शत्रुओं के हाथों मारे गए। राजा ने इस खबर को जब सुना तो उसे बहुत सदमा पहुंचा लेकिन वह अपने कार्य में पीछे न हटा। उसने अपने सबसे बड़े पुत्र युगाकर वर्मन को इस कार्य हेतु नियुक्त किया। शत्रुओं ने उसका भी घेराव कर दिया लेकिन वह बड़ा वीर था। उसने सभी को मौत के घाट उतार दिया और विन्ध्याचल पर्वत से संगमरमर की विशाल चट्टानों को लाने में सफल हो गया। इन पत्थरों को तराश कर भगवान विष्णू की वह प्रतिमा बनाई गई जो पहले मन्दिर में खड़ी हुई दर्शाई गई है।

मन्दिर परिसर में योगी चरपटनाथ की सराय भी पूजा और धर्मयज्ञ हेतु निर्मित करवाई गई है। इसी परिसर में मन्दिर कमेटी का कार्यालय भी स्थापित है। बहुत पहले यह प्रथा थी कि रोज भगवान विष्णू और भगवान शिव को भोग बनाकर चढ़ाया जाता था। लेकिन अब प्राचीनतम कई परम्पराएं लुप्त हो गई हैं। मन्दिर के बाहर दो पतलों पर कुछ इतिहास लिखा गया है जिससे मन्दिर के बारे में यहां आए लोगों को कुछ जानकारी मिल जाती है। अन्यथा यहां कोई भी प्रमाणिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है।

हरिराय मन्दिर

श्री हरिराय मन्दिर चौगान के अन्तिम छोर पर निर्मित है। यह मन्दिर

शिखराकार है और अपनी कांस्य प्रतिमा के लिए विख्यात है। हरिराय मन्दिर में स्थापित प्रतिमा दुर्लभ प्रतिमाओं में से एक मानी जाती है। चौगान के बांई ओर जो मार्ग जाता है, उसी से इस मन्दिर तक पहुंचा जा सकता है। यहां हालांकि दर्शकों की भीड़ नहीं रहती, लेकिन कला प्रेमी कभी-कभार यहां दूर-दराज से आकर इस मन्दिर और प्रतिमा का सूक्ष्मता से अवलोकन कर जाते हैं। मन्दिर पुरातत्व विभाग की देख-रेख में है लेकिन मात्र एक बोर्ड पर लिखे निर्देशों के अतिरिक्त यहां कोई नहीं होता। कुछ मजदूर या फिर मुहल्ले के लोग मन्दिर के प्रांगण में सोए या बैठे हुए अपनी थकान उतारते देखे जा सकते हैं। कांस्य प्रतिमा गर्भगृह में स्थापित है जिसे बन्द दरवाजे के मध्य से लगे सरियों के बीच से देखा जा सकता है। मन्दिर के बाहर कई खण्डित पत्थर की प्रतिमाएं भी हैं।

श्री हरिराय मन्दिर का निर्माण 11वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा अष्टवर्मन के शासनकाल में युवराज लक्ष्मणवर्मन ने करवाया था। इसकी वस्तुयोजना पांचरथ है। इसका वर्गाकार गर्भगृह वक्ररेखीय शिखर से अलंकृत है। मध्यभाग दो नक्काशी-युक्त स्तम्भों पर स्थित है। अन्तराल में ऊपर शुकनासिका ज्योमितिय रूपांकनों तथा अन्य अलंकरणों से सुसज्जित है। भगवान विष्णू को समर्पित इस मन्दिर में वैकुण्ठ की उत्कृष्ट कांस्य प्रतिमा स्थापित है जो 1·17 मीटर है। यह प्रमाणिक तथ्य मन्दिर के बाहर लगे एक बोर्ड में अंकित है, जिसे पढ़कर दर्शकों को संतोष करना पड़ता है।

प्रतिमा खड़ी हुई दर्शाई गई है। हरिराय के तीन मुख, भगवान विष्णू के तीन अवतारों के द्योतक हैं। इस चतुर्भुजी प्रतिमा के दाहिने हाथ में ऊपर की ओर कमल है और बांए हाथ में शंख दिखाया गया है। अन्य दोनों हाथ दाहिनी और बांई ओर से नीचे दोनों तरफ स्थापित टांगों के साथ प्रतिमाओं के सर पर रखे गए हैं।

इस भव्य प्रतिमा को 7 मई, 1971 को चम्बा से चोरी हो गई थी तथा ईश्वर की अपार कृपा से ही यह प्रतिमा 25 जून, 1971 को बम्बई में जाकर बरामद कर ली गई।

मन्दिर के बाहर कई जगह मूर्तियों के स्थान खाली पड़े हैं। ऐसा लगता है कि ये प्रतिमाएं खण्डित हो गई हैं। मन्दिर चारों तरफ से घनी आबादी से घिर गया है।

बंसी गोपाल मन्दिर

भगवान श्रीकृष्ण को समर्पित बंसी गोपाल मन्दिर लक्ष्मीनारायण मन्दिर से कुछ ही दूरी पर ऊपर की ओर महल के साथ बस्ती के मध्य निर्मित है। यह मन्दिर भी शिखर शैली में ही बना है। पत्थरों की तराशी हुई ईंटों से ऊंचा बना यह मन्दिर पुरा-तात्विक और कलात्मक दृष्टि से अन्य मन्दिरों की भांति महत्वपूर्ण है।

गर्भगृह में राधा-कृष्ण की प्रतिमाएं सुशोभित हैं। इन्हें सुन्दर आभूषणों और रंगीन कपड़ों से सजाया गया है। दिनभर मन्दिर बन्द रहता है लेकिन प्रतिमाओं के

दर्शन दरवाजे में से रखी जगह से किए जा सकते हैं। मन्दिर का गर्भगृह सुबह-शाम पूजा के समय ही खोला जाता है।

इस मन्दिर से आगे चल कर भगवान रामचन्द्र का मन्दिर रास्ते के दाईं ओर है। ऐसा लगता है कि मन्दिर पहले काफी छोटा सा शिखराकार रहा होगा और बाद में श्रद्धालुओं ने उसके आगे हाल बनाकर जहां चारों तरफ बैठने और रहने के लिए स्थान बनाया वहां गर्भगृह का नवीनीकरण भी कर लिया। इसके भीतर छोटी-छोटी प्रतिमाएं रखी हैं। दीवारों पर रामायण की चौपाईयां लिखी गई हैं। मन्दिर परिसर काफी साफ-सुथरा है। इसी तरह के कई मन्दिर जिनमें शिव, विष्णू और कृष्ण के हैं शहर के भीतर बस्तियों में हैं जिनका समय-समय पर लोगों ने निर्माण किया लगता है।

चम्पावती मन्दिर

श्री चम्पावती मन्दिर चम्बा शहर का अति प्राचीन मन्दिर माना जाता है। इसे चामेशनी मन्दिर भी कहते हैं। मन्दिर का निर्माण राजा साहिल वर्मा ने अपनी पुत्री चम्पावती की याद में किया था।

मन्दिर निर्माण के साथ एक रोचक लेकिन हृदय विदारक घटना जुड़ी है। कहा जाता है कि चम्पावती बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति की बालिका थी। एक दिन उसका परिचय एक महात्मा से हो गया जो एक कुटिया में तपस्या किया करता था। चम्पावती महात्मा के गुणों से प्रभावित हुई और रोज कुटिया में उपदेश लेने जाने लगी। यह कार्य वह अपने पिता को बिन बताए किया करती थी।

जब कई दिन इसी तरह उसे आते-जाते हुए तो राजा को उस पर कुछ सन्देह हो गया। एक दिन जैसे ही चम्पावती महल से निकली राजा तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। लेकिन जहां कुटिया में वह गई वह उस समय खाली थी। जैसे ही राजा ने इधर-उधर झांकना शुरू किया उसे किसी की आवाज ने अचम्भित कर दिया। राजा से कहा गया कि उसने व्यर्थ ही अपनी पुत्री पर शक किया है जिससे उसकी पुत्री को उससे छीन लिया गया है। इसलिए राजा उसी स्थान पर चम्पावती के नाम पर मन्दिर बना दें तथा नियमित उसमें पूजा किया करें।

राजा ने जब यह सुना तो उसका हृदय इस पीड़ा से बींध गया लेकिन अब कुछ नहीं किया जा सकता था। राजा ने वैसा ही किया तथा अपनी पुत्री की याद में वहां मन्दिर स्थापित किया और नियमित पूजा करने लग गया। धीरे-धीरे उस मन्दिर की महिमा दूर-दूर तक फैल गई और देवी रूप में चम्पावती को पूजा जाने लगा। राज-परिवार की यह देवी मानी जाती है जिसकी आज भी पूजा-अर्चना की जाती है। प्रति वर्ष चम्पावती की स्मृति में एक मेले का भी आयोजन किया जाता है।

मन्दिर की हालत काफी खराब हो चुकी है। भीतर जाकर प्रतीत होता है कि मन्दिर से लकड़ी इत्यादि भी लोग उठाकर ले गए हैं। मन्दिर का दरवाजा टूट गया

है और यदि इस मन्दिर की देख-रेख न की गई तो कुछ ही समय में यह मन्दिर अवशेष मात्र रह जाएगा।

सिद्ध योगी चरपटनाथ मन्दिर

योगी सिद्ध चरपटनाथ जी का मन्दिर, जिसे उनकी कुटिया के नाम से जाना जाता है, रावी के किनारे चम्बा नगर में स्थित है। इस मन्दिर का हालांकि वास्तुकला इत्यादि को लेकर इतना महत्व नहीं है जितना धार्मिक दृष्टि से। ब्रह्मपुर अर्थात् वर्तमान भरमौर में जिस काल में राजा मेरु वर्मन ने अपनी रियासत की राजधानी स्थापित की उस समय चरपटनाथ जी ने राजा को अपने राजगुरुत्व से सम्मानित किया। अपने जीवन काल के अन्त तक वह चम्बा के राज परिवार में राजगुरू की हैसियत से विराजमान रहे।

आज मणिमहेश की जो विशाल ऐतिहासिक और धार्मिक यात्रा जन्माष्टमी के 15 दिनों के बाद शुरू होती है वह इसी कुटिया से प्रारम्भ की जाती है। इस यात्रा का जुलूस पहले दिन यहां से स्थानीय वाद्य यन्त्रों के साथ निकलता है और यात्री तथा श्रद्धालु इस एक सप्ताह की यात्रा को योगी चरपटनाथ जी के सान्निध्य में कई पड़ाव में मणिमहेश तक पूर्ण करते हैं। प्रारम्भ में चम्बा से लेकर मणिमहेश तक लोग यात्रा में पैदल ही जाते थे लेकिन सड़क निर्माण से अब इसमें लोग मुहल्ला अर्जुन नगर तक पैदल तथा उसके बाद भरमौर तक बस में जाते हैं। उनके साथ चरपटनाथ जी की विशेष छड़ी और अन्य स्मृति चिन्ह भी होते हैं। भरमौर पहुंचने पर उनका मोहरा, और छड़ी इत्यादि प्रसिद्ध भगवती लक्षणा देवी के मन्दिर के बाहर प्रांगण में एक विशाल पुराने देवदार के पेड़ के नीचे रखी जाती हैं। बताया जाता है कि उन्होंने इस वृक्ष के नीचे अपने जीवनकाल में तपस्या की थी और अन्य योगियों के साथ यहां बैठक हुआ करती थी। एक दिन वहां रुकने के बाद यात्रा मणिमहेश के लिए रवाना हो जाती है और स्नान के एक दिन पूर्व वहां पहुंचती है।

यह विश्वास किया जाता है कि चरपट नाथ जी ने ही मणिमहेश झील का मेरु वर्मन के शासन काल में लगभग छठी शताब्दी पूर्व पता लगाया था। कहा जाता है कि राजस्थान के एक नरेश ने मेरु वर्मन को भगवान शिव की एक पिण्डी भेंट की थी जिसे चरपटनाथ जी ने स्वयं मणिमहेश कैलाश के साथ स्थित झील के किनारे प्रतिष्ठापित किया था और उसी समय से इस यात्रा का प्रारम्भ भी माना गया।

चरपटनाथ जी ने संसारिक अनुभवों को अनेक रूपों में कलमबद्ध किया है। वे एक विद्वान भी थे। ब्रह्मपुर में जब उन्होंने कदम रखा तो साम्प्रदायिक ठेकेदारों का डटकर विरोध किया और उन लोगों ने जिस तरह समाज में अलगाव पैदा किया था उसके प्रति उनको सचेत करवाया। वे अपने इस मिशन में सफल हुए। आज चौरासी सिद्ध पुरुषों के उस पवित्र धार्मिक स्थल भरमौर में सिद्धों, शैवों, वैष्णवों, तथा शाक्तों के मन्दिरों की मौजूदगी उनकी विचारधारा की पुष्टि करती है।

मन्दिर में कुछ प्राचीन मूर्तियां और निशान मौजूद हैं। चम्बा के इतिहास औरसंस्कृति में गुरु चरपटनाथ जी और उनके मन्दिर का बहुत महत्व माना गया है।

चामुण्डा मन्दिर

चामुण्डा माता का मन्दिर चम्बा बाजार से एक किलोमीटर ऊपर पूर्व की ओर स्थापित है। मन्दिर को पहला सीधा रास्ता बस स्टेशन से सीढ़ीनुमा है। लगभग 400 से अधिक कच्ची पत्थर की सीढ़ियां मन्दिर तक पहुंचाती हैं। मन्दिर परिसर में प्रवेश करते ही बड़ा आंगन निर्मित है जिस पर सम्पूर्णतया चक्के लगे हैं। पहुंचते ही सबसे पहले सिंह के दर्शन होते हैं जिसे एक चबूतरे पर बनाया गया है। इसका मुख मन्दिर में स्थापित प्रतिमा की ओर है। आंगन में चबूतरे पर विशाल पीपल का वृक्ष है। यहां से पुनः लगभग 18 सीढ़ियां ऊपर तक हैं जो प्रवेश द्वार तक पहुंचाती हैं। प्रवेश द्वार से चारों तरफ परिक्रमा पथ बना है। गर्भगृह के बाहर एक बड़े घण्टे के साथ छत में कई घण्टियां लटकी हैं। ऐसा लगता है कि श्रद्धालु माता को घण्टियां चढ़ाया करते हैं। दरवाजा साधारण है। दरवाजे के दोनों तरफ मां दुर्गा के विराट रूप दर्शाए गए हैं। गर्भगृह में दुर्गा की चतुर्भुज अष्टधातु की प्रतिमा स्थापित है। छत पर अभूतपूर्व नक्काशी है। लकड़ी पर की गई इसी तरह की नक्काशी इस घाटी में बने अन्य शक्तियों के मन्दिरों में भी मिलती है। छत स्लेट से छवाई गई ढलवां है। मन्दिर उत्तर भारतीय नागर शैली में बनाया गया है।

पहाड़ी पर होने के कारण इस मन्दिर को भू-भाग पर बनाए गए एक विशाल आंगन पर पीछे की ओर ऊंची दीवार चारों तरफ लगाई गई है। इस तरह यह दूसरा आंगन बनाया गया है और पीछे की ओर पुनः चारों तरफ से दीवार देकर मध्य में फिर मन्दिर को बनाया गया है। मन्दिर के आंगन से चम्बा का सम्पूर्ण दृश्य मन को उद्वेलित कर देता है। यहां से रावी नदी और उसके दोनों तरफ बसे चम्बा शहर का मनोहारी सौन्दर्य अति आकर्षक लगता है। चम्बा शहर और उसके मध्य चौगान ऐसा लगता है मानों कोई सुन्दर झील हो।

परिक्रमा पथ में सिमेन्ट के खम्बे लगे हैं जिन पर मन्दिर की छत टिकाई गई है। पीछे आवास स्थापित किए गए हैं। सराए भी हैं। इसी के साथ एक प्राचीन लघु शिखराकार मन्दिर भगवान शिव को समर्पित है। यह बाहर सड़क को निकलते हुए दाई ओर है जो टेढ़ा हो गया है। यहां भी दो बड़े पीपल के वृक्ष हैं। चारों तरफ की दीवार ने मन्दिर को सुरक्षित कर लिया है। मन्दिर पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है लेकिन स्थापना सम्बन्धी कोई भी जानकारी यहां नहीं मिलती। न ही कोई व्यक्ति दिन को मन्दिर में मिलता है। पुजारी सुबह-शाम ही पूजा के लिए आता है।

मन्दिर के लिए दूसरा रास्ता पीछे से है। यह रास्ता सीधा बाजार के मध्य निकलता है।

सुही देवी मन्दिर

श्री सुही देवी का प्राचीन मन्दिर बलिदान का द्योतक माना जाता है। रानी सुही राजा साहिल वर्मा की पत्नी थी। रानी के पुत्र योगाकरा ने अपनी माता की स्मृति में चम्बा शहर के ऊपर निर्मित करवाया था। यह तथ्य एक ताम्र प्लेट में भी अंकित है। रानी सुही को सुनैना देवी भी कहा जाता है।

राजा साहिल वर्मा ने दसवीं शताब्दी में भरमौर से अपनी राजधानी चम्बा स्थानान्तरित कर ली थी। वह कुशल प्रशासक के साथ अत्यन्त धार्मिक प्रवृति का राजा था जो किसी भी वक्त जन हित में कोई भी बलिदान देने को तैयार रहता।

इस बलिदान की कथा अति रोचक एवं हृदय-विदारक है। कहा जाता है कि चम्बा रियासत के लिए कोई भी उचित पेयजल योजना उस समय नहीं थी। पानी की समस्या से राजा बहुत चिन्तित रहा करता था। साथ जनता भी परेशान थी। बहुत प्रयास करने पर भी इसका कोई समाधान न निकल पाया। इसके निवारण हेतु राजा ने सरोहता नदी पर एक स्रोत तलाश किया। इस पर कार्य हुआ और पानी निकासन के लिए एक नाला निर्मित हुआ लेकिन उसमें पानी प्रवेश ही न हो पाया जिससे राजा सहित सभी लोग अचम्भित हो गए।

राजा ने ब्राह्मणों से इस सन्दर्भ में विचार-विमर्श किया और बात की तह तक जाने की कोशिश की। उन्होंने सत्य ही कह दिया कि यदि राजा की रानी या उसका पुत्र अपना बलिदान दे दें तो पानी चम्बा आ सकता है। यह सुनकर राजा और भी परेशानी में पड़ गया। बताया जाता है कि इसी रात रानी को भी एक सपना मिला जिसमें उसके बलिदान की बात किसी अदृश्य शक्ति द्वारा कही गई थी। राजा ने यह सोचा कि किसी अन्य की बलि इस कार्य हेतु दी जाए लेकिन रानी ने ऐसा करने से मना कर दिया तथा प्रसन्नता से जनहित हेतु अपने बलिदान को स्वीकृति दे दी। इस बात का सम्पूर्ण रियासत में पता चल गया। लोगों ने इस बात का विरोध भी किया लेकिन रानी ने हठ न छोड़ी। रानी ने कहा कि यदि उसके बलिदान से चम्बा में पानी पहुंच जाता है तो वह अपने आपको धन्य समझेगी। आखिर जनहित में राजा को भी इस बात के लिए राजी होना पड़ा।

जिस दिन बलिदान की तिथि निश्चित हुई रानी को दुल्हन की तरह सजाया गया। जब महल से रानी उस स्थान के लिए चली तो सारी रियासत के लोग आंखों में अश्रु लिए उसके पीछे चल पड़े। लेकिन रानी सुही के चेहरे पर प्रसन्नता उमड़ रही थी। बताया जाता है कि स्रोत स्थान पर रानी की चिता लगाई गई और हजारों लोगों की उपस्थिति में रानी ने यह बलिदान जन हित में दे दिया। जैसे ही रानी का शरीर राख हुआ तत्काल स्वतः ही पानी की धार पूर्व निर्मित नाले से चम्बा की ओर चल पड़ी और पानी पहुंच गया। उसी काल से यह पानी चम्बा शहर के लोगों की प्यास बुझाता रहा है। रानी को इस बलिदान के बाद सुही माता के नाम से पुकारा गया।

इसी दिन से एक भव्य मेले का आयोजन भी किया गया। ये दिन चैत्र महीने के आखिरी दिन थे। तीन दिनों तक इसका आयोजन आज भी किया जाता है।

जहां से पानी आया है और जहां रानी का बलिदान हुआ था वहां आज भी पत्थर की एक प्रतिमा विद्यमान है। मेले के शुरू होने से पूर्व राज वंश का एक व्यक्ति यहां जाकर विधिवत पूजा करता है। यहां लकड़ी का एक साधारण निवास भी बनाया गया है जिसमें अन्तिम दिन गद्दी महिलाएं खाना बनाया करती हैं। मेले के दौरान स्मृति तौर पर रानी की प्रतिमा बनाई जाती है। उसे मेले में लाया जाता है। मेले के अन्तिम दिन को सुकरात कहा जाता है। यह माना जाता है कि यदि सुकरात शुक्रवार को पड़ रहा हो तो उसे अगले दिन मनाया जाता है। इस दिन पेड़ों की टहनियां और फल नहीं काटे जाते। मेले के अन्त में सुकरात गाया जाता है जिसमें रानी के बलिदान की घटना का सुन्दर चित्रण होता है।

हम यदि चौगान में खड़े होकर देखें तो शहर के ऊपर की ओर माता चामुण्डा का मन्दिर तथा दूसरी तरफ बाईं ओर सफेद रंग का सुही मन्दिर दिखाई देता है। चौगान से यह लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर है। चम्बा के ऊपर से निर्मित सड़क के छोर से इस मन्दिर की सीढ़ियां बनी हैं, जो सीधी मन्दिर तक पहुंचाती हैं। मन्दिर एक दीवार पर निर्मित है। यह लघु मन्दिर गुम्दाकार है और चारों तरफ से खुला है। गोलाई में 6 खम्बे लगे हैं जिन पर गोल लकड़ी की छत है जिसे टीन से छवाया गया है। मध्य भाग सिमेन्ट का है और बीच में सुही माता की प्रतिमा पूर्व की ओर मुख किए कपड़े में लपेटी स्थापित हैं। प्रतिमा के ऊपर पीतल का कलश है। बाहर कुछ पत्थर की प्रतिमाएं स्थापित है। इसी मन्दिर के नीचे एक भवन है जिसमें शायद आयोजनों के समय लोग पूजा इत्यादि करते होंगे। प्रति वर्ष माता सुही की याद में 15 चैत्र से पहली बैसाख तक मेला लगता है।

ब्रजेश्वरी मन्दिर

चौगान से उत्तर की ओर जिस रास्ते में लक्ष्मीनारायण, बंसीगोपाल इत्यादि मन्दिर स्थित हैं उसी रास्ते मे चलते हुए लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित है ब्रजेश्वरी माता का प्राचीन मन्दिर। चम्बा के ऊपर से जो सड़क बनाई गई है, उसी से कुछ कदम ऊपर चढ़ कर मन्दिर परिसर में पहुंचा जा सकता है। मन्दिर शहर से दूर एक एकान्त में निर्मित किया गया है। हालांकि मन्दिर पुरातत्व विभाग की देखरेख में और विभाग की ओर से एक चौकीदार यहां हमेशा मौजूद रहता है लेकिन फिर भी मन्दिर की देखरेख वहां बसा एक ब्राह्मण परिवार सदियों से करता आ रहा है। इस परिवार का घर मन्दिर के साथ निचली ओर है। मन्दिर में इस परिवार का कोई-न कोई सदस्य अवश्य बैठा रहता है जिससे मन्दिर के बारे में कुछ जानकारी मिल सकती है लेकिन मन्दिर कब बना और किसने बनाया, इसका उन्हें कुछ भी मालूम नहीं। शिखराकार यह मन्दिर भी अन्य मन्दिरों के समय का ही लगता है।

प्रवेश करते ही दाईं ओर एक लघु मन्दिर एक पत्थर के चबूतरे पर बना है। इसके भीतर लक्ष्मीनारायण यानि भगवान विष्णु की पत्थर की प्रतिमा स्थापित है। इसके बाद सामने ब्रजेश्वरी मन्दिर है। इसका दरवाजा पश्चिम की ओर खुलता है। बाहर से मन्दिर का अधिकतर भाग विशाल पीपल के वृक्ष से ढका रहता है। मन्दिर का सम्पूर्ण निर्माण पत्थर को तराश कर ऊँचाई में किया गया है यानि बिलकुल लक्ष्मीनारायण मन्दिर की तरह। गर्भगृह में ब्रजेश्वरी की प्रतिमा स्थापित है जो केवल गर्दन से ऊपर है। इसके पीछे पिंडी है। यह प्रतिमा पीतल की है।

इसके बाईं ओर राधाकृष्ण का नवीन निर्मित मन्दिर है जिसकी सपाट ढलवां छत स्लेट से छवाई गई है। चारों तरफ बरामदा है। शिखर में कलश लगा है। इसके भीतर राधा-कृष्ण और गोपियों की प्रतिमाएं स्थापित हैं। ये सभी संगमरमर की हैं। मन्दिर में संगमरमर की लगी एक प्लेट से विदित होता है कि इस मन्दिर को श्रीमती लछो, धर्मपत्नी विशनू पुरोहित ने वर्ष 1946 में बनवाया है। बाहर पीपल का वृक्ष जिस चबूतरे पर है वहां भी कई पत्थर की लघु प्रतिमाएं रखी गई है। मन्दिर के बाहर नंदी की प्रतिमा स्थापित है।

वर्ष 1984 तक पंडित बृजलाल मन्दिर की सेवा पुजारी के रूप में करते रहे। उनके देहान्त के बाद 60 वर्षीय श्री चुन्नीलाल शर्मा अब पुजारी हैं।

एकान्त में होने के नाते यहां एक अजीब-सा चैन मन को मिलता है। "मैं इस मन्दिर में लगभग 7 बजे सायं दिनांक 29 अगस्त, 1990 को गया था। इस मन्दिर को देखकर काफी प्रभावित हुआ। विशेषकर इस मन्दिर का एकान्त मन को अजीब चैन दे गया। हालांकि शायद कभी-कभार या विशेष आयोजनों पर ही यहां तक कोई दर्शक पहुंच पाता हो लेकिन फिर भी मन्दिर परिसर साफ-सुथरा था। पुजारी जी को देखकर लगा कि कुछ जानकारी मिलेगी लेकिन उन्हें भी विशेष मालूम नहीं था। तभी स्व० बृजलाल जी की बेटी मन्दिर परिसर में पधारी और नए मन्दिर के बरामदे में बैठ गई। उसने अति सहजता से कुछ प्रकाश मन्दिर पर डाला। मैं कुछ देर तक उससे बातें करता रहा। उसने अपना नाम रंजना बताया। उनकी बातचीत से ऐसा लगा कि शायद कभी-कभार ही यहां कोई पहुंच पाता हो।"

इस जगह को रामगढ़ मुहल्ला कहते हैं और मन्दिर टी० बी० अस्पताल के समीप ही है।

शक्ति देवी मन्दिर छतराड़ी

चम्बा से भरमौर के लिए जो सड़क चली गई है, उसी से एक लिंक मार्ग छतराड़ी गांव तक जाता है। चम्बा से यह गांव लगभग 40 किलोमीटर की दूरी पर बसा है। इस स्थान को प्रसिद्ध शक्तिपीठ से भी जाना जाता है। यह इसी देवी और यहां निर्मित कलात्मक मन्दिर के कारण है। इसमें लकड़ी पर की गई नक्काशी अति उत्तम है। मन्दिर निर्माण में जिस बारीकी और कारीगरी से काम किया गया है वह आश्चर्य-

पूर्ण है। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार यह माना जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण भरमौर के चौरासी मन्दिर समूह में निर्मित लक्षणा देवी के ही समरूप है जो उत्तर भारतीय नागर शैली का अभूतपूर्व उदाहरण है। लेकिन यहां बने शक्ति देवी के इस मन्दिर में मूर्ति और कला की दृष्टि से काफी भिन्नता नजर आती है। यह आम धारणा है कि इसे एक लकड़ी के खम्बे पर बनाया गया है। इसी कारण पूरा मन्दिर उस खम्बे पर घूमता रहता था लेकिन कुछ सालों से एक ही जगह पर स्थिर हो गया है। लोग ऐसा देवी के चमत्कार मे मानते हैं लेकिन इस बात में सन्देह नहीं है कि इतने पुराने मन्दिर का वह कलापूर्ण खम्बा कहीं से खराब भी हो सकता है। परन्तु इस खम्बे के बारे में अब कुछ विदित नहीं होता और भूमि के नीचे इसकी कैसा बनावटी ढांचा है, इस बारे में कहना असम्भव है। देशज शैली के अन्तर्गत आने वाले मन्दिर में लकड़ी और पत्थर का प्रयोग हुआ है जिसकी एक तरफ से ढलवां छत हैं और चौकोर हैं। ऊपरी हिस्सा मरम्मत किया लगता है और आधार जिसे हम नींव भी कह सकते हैं अति प्राचीन हैं। जर्मन के एक प्रसिद्ध यात्री और इतिहासकार हरमन ने यहां भ्रमण किया था और उसने इस मन्दिर को मूल रूप में पैगोडा शैली में निर्मित बताया था। हो सकता है बाद में इसकी कुछ मरम्मत हुई हो और इसमें कुछ परिवर्तन किया गया हो।

सातवीं शताब्दी के मध्य मेरू वर्मन ने अपने उच्च कोटि के कारीगर से इसका निर्माण करवाया था। यह कारीगर गुग्गा के नाम से विख्यात था। यह भी बताया जाता है कि देवी ने इस मन्दिर को बनवाने की प्रेरणा इस कला पुरुष को स्वयं ही दी थी जिसकी सहायता राजा मेरू वर्मन ने की।

इस मन्दिर में शक्ति देवी की प्रतिमा अभूतपूर्व कला का प्रतीक मानी जाती है। यह कांस्य प्रतिमा अति आकर्षक और उच्च कोटि की है। कुछ लोग इसे अष्टधातु की बनी कहते हैं तो कुछ पीतल की—लेकिन प्रामाणिक तथ्य यही कहते हैं कि यह कांस्य प्रतिमा है। इसकी पीठिका और कमल का पुष्प अवश्य ही पीतल के बने हैं जिस पर यह मूर्ति खड़ी हुई मुद्रा में है। इसके दांए हाथ में कमल और माला है और बांए हाथ में घण्टी और माला। प्रतिमा लक्षणा देवी की कलात्मकता से भिन्न नहीं है। इसकी ऊंचाई साढ़े चार फुट के करीब है। सिर पर सोने का मुकुट है और पारदर्शी रंगीन रेशमी कपड़े से ढकी रहती है।

मन्दिर और देवी के प्रकट होने से सम्बन्धित कई कथाएं कही जाती हैं। इनमें से दो कथाओं का यहां वर्णन किया गया है। गुग्गा के सन्दर्भ में भी एक कथा गांव के लोगों में प्रचलित है। इस कलाकार ने पास के एक गांव रेणू कोठी के राणा का भवन बनाया था। यह भवन बहुत सुन्दर बना जिसे जो भी देखता मन्त्रमुग्ध हो उठता। इस भवन को देखकर राजा के मन में यह भावना पैदा हो गई कि इतना सुन्दर भवन और कहीं भी नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से उसने गुग्गा का दाहिना हाथ कटवा दिया। इस घृणित व्यवहार से गुग्गा वहां से चला आया और छतराड़ी गांव में रहने लगा।

एक दिन इस गांव में मां दुर्गा उसके स्वप्न में आई और छतराड़ी में मन्दिर

बनाने के लिए कहा। मां दुर्गा के आशीर्वाद से गुग्गा का दाहिना हाथ भी ठीक हो गया और माता की प्रेरणा से उसने बहुत सुन्दर मन्दिर निर्मित किया। यह भी कहा जाता है कि इसके बाद उसने माता से इस मन्दिर निर्माण के लिए पुरस्कार के रूप में मौत मांग ली और वह मर गया।

देवी के इस गांव में प्रकट होने सम्बन्धी कथा भी अति रोचक है। एक गद्दी ब्राह्मण छतराड़ी गांव से काफी दूर अपनी भेड़ बकरियां चुगाया करता था। एक दिन वे चरते-चरते इस गांव में पहुंच गईं। उस समय यहां घना जंगल हुआ करता था। बकरियों के बीच उसकी गाएं भी चरा करती थी। जब भेड़-बकरियों के साथ वहां गाएं आईं तो एक दिन उनके थनों से स्वतः ही दुग्ध की धारा जमीन पर प्रवाहित होने लगी। जब गांव के लोगों को उसने यह बात बताई तो लोगों ने उस स्थान को खोदना शुरू कर दिया। खुदाई के वक्त जमीन से पत्थर की सात पिंडियां निकलीं जिन्हें सात देवी बहिनों के नाम से पुकारा गया।

अब उन सात बहिनों ने यह निर्णय लिया कि वे अलग-अलग रहा करेंगी और अपनी सम्पत्ति को जो उनके पास थी उसका बंटवारा करेंगी। इसलिए सबसे छोटी बहिन को मेदी गांव में तराजू और बट्टों को लेने भेजा गया। जब वह गांव में पहुंची तो एक बुढ़िया दूध छोल रही थी। उसने बुढ़िया से तराजू देने का अनुरोध किया। बुढ़िया ने कहा कि वह उसका काम देखे ताकि वह इसी मध्य तराजू ढूंढकर ला सके। लड़की ने जब दूध छोलना शुरू किया तो घड़े से बहुत मक्खन बाहर आने लगा। इस करिश्मे को बुढ़िया ने दरवाजे से देख लिया और लालच में आकर उसने अधिक समय तराजू की तलाश में लगा दिया। इसलिए उसे देर हो गई और जितने में वह वापिस अपनी बहिनों के पास गई तो उन्होंने उसे छोड़कर आपस में ही बंटवारा कर लिया था। वह इस पर जोर-जोर से रोने लगी। उसकी आख से जो आंसू बहे उससे जमीन काली पड़ गई। लोगों का विश्वास है कि परोलीवाला देहरा स्थान की वह काली भूमि जहां वह देवी रहा करती थी, मन्दिर के सामने से देखी जा सकती है। इसलिए यह देवी वही थी जो गुग्गा कारीगर के स्वप्न में आई थी और जिसकी प्रेरणा पाकर उसने वहां मन्दिर बनाया।

अगस्त-सितम्बर के महीने में यहां एक मेला आयोजित किया जाता है उसकी कथा भी इसी मन्दिर और देवी से जुड़ी बताई जाती है। कहा जाता है कि जब वह अकेली वहां रहने लगी तो राक्षसों ने, जो पहले से वहां रहते थे, उसे अपनाना चाहा। इस पर वे बारी-बारी उससे लड़ते गए और देवी ने उन्हें एक-एक करके खत्म कर दिया। इस युद्ध की कथा गाने के रूप में आज भी लोग मेले के दौरान गाते सुने जा सकते हैं। छतराड़ी में राजा मेरू वर्मन ने ही देवी को जगह दी और समय-समय पर मन्दिर की मरम्मत और साज-सज्जा भी करता गया। इसलिए दूर-दूर से ब्राह्मण और दूसरे लोग यहां आकर बसने लगे और देवी की पूजा करते रहे।

श्री शक्ति देवी छतराड़ी के सम्बन्ध में एक और लोक मान्यता भी प्रचलित है। कहा जाता है कि रावी घाटी में राक्षसों का भारी आतंक था जिसे देवी हिरमा ने खत्म कर दिया था। देवी ने एक-एक राक्षस को अपने बल से मार दिया जिससे लोगों के मन में देवी के प्रति श्रद्धा जाग गई। लोगों ने चम्बा में उसका मन्दिर बनाया और उसमें हिरमा की प्रतिमा स्थापित कर दी। उसके बाद नियमित लोग यहां पूजा करने लग गए।

एक दिन उसी क्षेत्र का एक ब्राह्मण दम्पति मन्दिर में आया तथा दुखी हृदय से देवी के आगे धरना दे दिया कि उन दोनों के कोई सन्तान पैदा हो। देवी उनकी भक्ति से प्रसन्न हुई और सन्तान का वरदान दे दिया। एक साल के बाद ब्राह्मण दम्पति के घर सात कन्याएं पैदा हो गईं। ब्राह्मण अब नियमित देवी हिरमा के मन्दिर में उन पुत्रियों को लेकर पूजा हेतु जाया करता था जिससे देवी के प्रति उन कन्याओं की आस्था भी बढ़ गई।

एक दिन उनके माता-पिता कहीं घर से बाहर चले गए और वे सातों घर की देख-रेख के लिए वहीं रहीं। उनके माता-पिता की अनुपस्थिति में उनके घर एक बूढ़ी औरत आई जिसने अपना परिचय उन सातों कन्याओं की बुआ के रूप में दिया और कहा कि उनके माता-पिता उसी के घर हैं, जहां एक समारोह हो रहा है। उन सातों को भी उन्होंने मेरे साथ बुलाया है। वे सातों कन्याएं अपनी बुआ का कहना मान गईं और उसके साथ चल पड़ीं लेकिन बाद में रावी नदी के किनारे उनका कोई पता न चला कि वे कहां चली गईं।

जब उनके माता-पिता वापिस लौटे तो यह देखकर हैरान रह गए कि उनकी पुत्रियां घर पर नहीं हैं। गांव के लोगों को पता चला तो उन्होंने बुढ़िया के साथ जाने वाली घटना सुना दी। सभी को विश्वास हो गया कि वह बुढ़िया और कोई नहीं बल्कि राक्षसी थी जिसने उन सातों को खा लिया है। लोगों ने रावी पर उन कन्याओं की तलाश शुरू की तो एक जगह हड्डियों के ढेर मिले। माता-पिता को पूर्ण विश्वास हो गया कि उनकी पुत्रियां जीवित नहीं हैं। उनकी मां बहुत परेशान हो गई। पिता भी कम परेशान नहीं थे। मां का हृदय कोमल होता है। वह रोज एक दूध का घड़ा हड्डियों के ढेर के पास एक बर्तन में उलट दिया करती ताकि उसकी पुत्रियां रात में आकर उसे पी जाएं। सुबह जब मां वहां जाती तो सचमुच वह बर्तन खाली मिलता। इस पर मां के हृदय को शान्ति मिलती कि उसकी बेटियां दूध पी जाती हैं। एक दिन उसने देखा कि जिस घड़े में वह दूध डाल जाती है सुबह स्वतः ही एक ढक्कन खुला मिलता है। उसने सोचा कि उसके दूध को कोई चोर आकर पी जाता है। इस पर उसने कई दिनों तक दूध दिया ही नहीं। जब एक सप्ताह हुआ तो वे सातों बेटियां मां के स्वप्न में आईं और कहने लगीं कि हम बहुत भूखी हैं। उन्होंने नाराजगी भी प्रकट की कि उनकी माता उन्हें दूध क्यों नहीं देती। कुछ देर बाद छः बहिनें तो चली गईं लेकिन सबसे छोटी जो जालपा थी वह वहीं रोने-बिलखने लग गई। वह यह कहकर रोती रही कि वह यहीं रहना

चाहती है अपने ही गांव में क्योंकि उसकी अन्य बहिनें दूर-दूर बसने चली गईं। उसकी मां जैसे ही उठी तो उसे आभास हुआ कि जालपा कमरे से बाहर भाग गई है। वह उसे रोकती हुई बाहर निकल गई। जब वह अदृश्य हो गई तो वह नदी की ओर रोती-चिल्लाती भाग गई। गांव के लोगों ने जब उसे भागते देखा तो उसके पति सहित वे भी उसके पीछे भाग गए। उसे रोका और पहले की तरह दूध देने को कहा। अब उसके साथ गांव के लोग भी नदी तट पर उस जगह के लिए साथ वे। वहां पहुंचे तो देखा कि उस बर्तन पर वही ढक्कन लगा है। सभी ने बारी-बारी उसे उठाना चाहा लेकिन वह न उठा। निराश होकर सभी घर आ गए।

उसके बाद गांव के लोगों को उस नदी के किनारे एक कन्या मिलने लगी। यही नहीं उन ब्राह्मणों के घर पर भी रोज किसी व्यक्ति के साथ रहने का आभास होने लगा। एक दिन लोग एकत्रित हुए और देवी हिरमा के मन्दिर चले गए। लोगों ने देवी के आगे पुकार की। तभी मन्दिर से आवाज आई,

"ग्राम वासियों, उन सातों कन्याओं को धोखे से एक राक्षसी ने खा लिया है। यह राक्षसी दूर मुझसे छुपती रही और मेरे बल से बच निकली। लेकिन ये सात बहिनें अमर होंगी और देवियों के रूप में पूजी जाएंगी।" इस तरह ये सातों जगह-जगह किसी-न-किसी रूप में प्रकट हुईं जहां उन्हें देवियों के रूप में पूजा जाने लगा। सातों जगह इन देवियों के सुन्दर मन्दिर निर्मित हैं। सबसे बड़ी बहिन भरमौर में चौरासी क्षेत्र में पैदा हुई जो वहां आज भी लक्षणा देवी के रूप में पूजी जाती है। दूसरी बहिन छतराड़ी गांव की श्री शक्ति देवी के रूप में पूजी जा रही है। मन्दिर में स्थित तत्कालीन भव्य कांस्य प्रतिमा अपनी तरह की है जिसे देखते ही लोग अचम्भित हो जाते हैं। तीसरी बहिन परौर गांव की देवी के रूप में प्रतिष्ठित है। चम्बा की चामुण्डा देवी चौथी बहिन है। वैरा नामक गांव में प्रतिष्ठित देवी पांचवीं बहिन मानी जाती है। कांगड़ा में श्री अम्बिका देवी ही छठी बहिन मानी जाती है और सातवीं जालपा है जो वहीं स्थापित हुई जहां वह बर्तन रखा रहता था। उस बर्तन में पिण्डी के रूप में जालपा ने जन्म लिया है।

इस तरह चम्बा की सात प्रमुख देवियां यही सात बहिनें हैं जिन्हें देवी हिरमा के आशीर्वाद से जन्म मिला था और लोग जगह-जगह स्थापित इन देवियों के मन्दिरों में बहुत समय से पूजा करते आए हैं। वर्ष भर में समय-समय पर इन जगहों पर मेलों का आयोजन किया जाता है और हजारों लोग इन देवियों का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

चौरासी मन्दिर परिसर, भरमौर

भरमौर—चम्बा से 65 कि०मी० की दूरी पर स्थित समुद्रतल से 2215 मीटर की ऊंचाई पर चम्बा रियासत की राजधानी रहा है। उस काल में यह स्थान ब्रह्मपुर के नाम से विख्यात था। इसका उल्लेख वृहत्संहिता और मारकण्डेय पुराण में भी मिलता है। राजा मेरू वर्मन जो पहले सूर्यवंशी परिवार का एक मुखिया था भ्रमण करता हुआ

यहां पहुंचा। उस समय छोटे-छोटे राणाओं ने इस क्षेत्र पर कब्जा कर रखा था। एक-दूसरे का क्षेत्र हथियाने के लिए वे आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। मेरू एक सुलझा हुआ वीर पुरुष तो था ही। उसने इस फूट का लाभ उठाया और अपनी राजनीति और बल से पूर्ण रियासत पर अपना कब्जा करके यहां शासन शुरू कर दिया। ब्रह्मपुर के नाम से विख्यात इस स्थान को मेरू ने अपनी राजधानी बना दिया। यह राजा धार्मिक प्रवृत्ति का था तथा देवी-देवताओं और ईश्वर पर इसकी गहन आस्था थी। इसी दृष्टि से मेरू वर्मन ने यहां कुछ ऐसे मन्दिरों का निर्माण करवाया जो आज अपनी भव्यता और कलात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं। ब्रह्मपुर में राजधानी की स्थापना मेरू वर्मन ने छठी सदी में की थी। इसी काल के मन्दिरों में सातवीं शताब्दी में निर्मित मणिमहेश मन्दिर और मां लक्षणा देवी का मन्दिर उल्लेखनीय हैं। यहां मेरू वर्मन के राज्य काल के कुछ शिला-लेख भी उपलब्ध हैं जिन पर इन मन्दिरों का विवरण मिलता है। छठी और सातवीं सदी के शिखराकार मन्दिरों की तुलना मेरू पर्वत से की गई है। इस तरह के मन्दिरों को अन्य मन्दिरों का महाराजा भी कहा जाता है क्योंकि ये मन्दिर सौ फुट तक ऊंचे पत्थर को तराशकर बनाए जाते हैं। यह एक विशेष आकर्षक मन्दिर शैली मानी जाती है।

चौरासी मन्दिर परिसर में आज अनेकों मन्दिर स्थापित हैं जिन्हें समय-समय पर निर्मित किया गया गया है। दसवीं शताब्दी में राजा साहिल वर्मा ने अपनी राजधानी को भरमौर से चम्बा के लिए बदल दिया था लेकिन इस राजा ने अपने राज्यकाल में कई और महत्वपूर्ण मन्दिर यहां निर्मित किए हैं। चौरासी नामकरण के बारे में एक रोचक कथा इस प्रकार बताई जाती है कि साहिल वर्मा के समय चौरासी योगी यहां भ्रमण करते-करते पहुंच गए। इन्हें विश्राम के लिए ब्रह्मपुर अच्छा लगा और ये योगी यहां रुक गए। राजा साहिल वर्मा को जब इनका पता चला तो उसने इन योगियों की हर प्रकार से सेवा की। वे योगी राजा की सेवा और धर्म के प्रति गहन आस्था से इतने प्रभावित हो गए कि उन्होंने राजा को 10 पुत्रों और एक कन्या का वरदान दे दिया। इसी वरदान से राजा के घर दस पुत्र और एक कन्या हुई जिसका नाम चम्पावती रखा गया। राजा ने प्रसन्न होकर प्राचीन ब्रह्मपुर को चौरासी योगियों के नाम पर एक धार्मिक स्थल बना दिया और उसकी स्मृति के रूप में यहां कई मन्दिरों और समाधियों की स्थापना करवाई।

चौरासी मन्दिरों के इस विशाल परिसर में जो महत्वपूर्ण मन्दिर हैं उनका उल्लेख निम्न किया गया है—

लक्षणा देवी मन्दिर

मेरु वर्मन द्वारा निर्मित सातवीं और आठवीं शताब्दी के मध्य का यह मन्दिर चौरासी मन्दिर परिसर के प्रवेश द्वार पर ही है। प्रवेश करते ही दाई तरफ स्थित यह कला और इतिहास का मूक साक्षी है। मां दुर्गा को समर्पित उत्तर भारतीय नगर

शैली का उल्लेखनीय उदाहरण है। इसके शिखर पर एक छतरी दर्शायी गई है। मन्दिर के दरवाजे का निर्माण लकड़ी का है जिस पर उत्कृष्ट नक्काशी की गई है। मन्दिर के भीतर भी लकड़ी पर की गई नक्काशी और चित्रकला अति सुन्दर और सूक्ष्मता की प्रतीक है। दरवाजे पर गंगा-यमुना की प्रतिमाएं हैं। भीतर अन्य कई मूर्तियां और कलाकृतियां मन्दिर की शोभा में चार चांद लगाते हैं।

गर्भगृह के बाहर परिक्रमा पथ है जिसके चारों ओर दीवारों पर खिड़कियां लगी हैं। मन्दिर निर्माण में लकड़ी, पत्थर और मिट्टी का प्रयोग किया गया है। लक्षणा देवी की सातवीं शती पूर्व निर्मित प्रतिमा गुप्तकालीन सुन्दर प्रतिमाओं के समकक्ष है जो कला की दृष्टि से उच्च कोटि की मानी गई है। यह अष्टधातु की मूर्ति तीन फुट से कुछ अधिक लम्बी है। इसका महिषासुरमर्दिनी का रूप यहां प्रतिष्ठापित है। देवी को राक्षस महिषासुर का वध करते हुए दर्शाया गया है।

मेरु वर्मन ने इस मन्दिर और मूर्ति को अपने एक अति कुशल कारीगर गुग्गा से बनवाया था। यह तथ्य इस प्रतिमा की वेदिका पर अंकित है। मन्दिर पर स्लेट से छवाई गई ढलवां छत है। भरमौर का यह मन्दिर एक महत्वपूर्ण शक्तिपीठ है।

लक्षणा देवी चम्बा की सात देवी बहिनों में सबसे बड़ी मानी जाती है जिसने यहां जन्म लिया बताया जाता है।

मणिमहेश मन्दिर

भरमौर में चौरासी परिसर के प्रांगण के मध्य स्थित भव्य विशाल मणिमहेश मन्दिर प्राचीन शिखराकार मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण राजा मेरु वर्मन ने सातवीं शताब्दी पूर्व करवाया था। यह एक विशाल चबूतरे पर निर्मित है। प्रांगण से प्रवेश द्वार के लिए सीढ़ियां हैं। मन्दिर के समक्ष शिव वाहन नन्दी की अष्टधातु की प्रतिमा स्थापित है। गर्भगृह में विशाल काले रंग का शिवलिंग है। जलहरी वर्तुलाकार न होकर वर्गाकार है। इसके साथ ही कुछ लघु प्रतिमाएं भी प्रतिष्ठित की गई हैं। समक्ष नन्दी की प्रतिमा में एक लेख भी अंकित है जिससे मन्दिर के निर्माण का पता चलता है। भरमौर क्षेत्र में शैव धर्म प्रारम्भ से ही प्रचलित था इसलिए यहां शिव मन्दिरों की भरमार है। कई मूर्तियां भी मिली हैं जिनसे यह बात प्रमाणित होती है।

इस क्षेत्र में रहने वाले गद्दी आज भी शिव के अनन्य उपासक हैं। घरों में भी इन लोगों ने शिवलिंग और नन्दी की प्रतिमाएं रखी हैं। वर्ष में एक बार घरों में विशेष पूजा होती है जिसे नवाला कहते हैं। जिस व्यक्ति में देवता आता है उसे भगवान शिव का चेला कहा जाता है। मणिमहेश मन्दिर का सम्बन्ध प्रति वर्ष अगस्त-सितम्बर में लगने वाली मणिमहेश यात्रा और 3950 मी० पर स्थित मणिमहेश झील से भी बताया जाता है। लोग वापसी पर इस मन्दिर में अवश्य मथा टेकने आते हैं। विशेषकर पहले यह यात्रा गद्दियों के लिए महत्वपूर्ण थी लेकिन अब इसमें असंख्य लोग दूर-दराज के क्षेत्रों से भाग लेते हैं। मणिमहेश झील यहां से लगभग 27 किलोमीटर की दूरी पर

स्थित है और मणिमहेश कैलाश 5550 मीटर की उंचाई पर।

गणपति मन्दिर

इसी प्रांगण में लक्षणा देवी के साथ भगवान गणेश का मन्दिर भी स्थापित है, जो 10वीं और 11वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित किया गया है। यह समय राजा साहिल वर्मन के शासनकाल का है जिन्होंने इस परिसर में चौरासी मन्दिर योगियों की स्मृति में बनवाए हैं। यह मन्दिर भी लक्षणादेवी की तरह निर्मित हैं। छत ढलवां और स्लेटों से छवाई गई है। यानि उत्तर भारतीय नागर शैली में। परिक्रमा पथ और गर्भ-गृह के दरवाजे पर उत्कृष्ट नक्काशी की गई है। भीतर गणेश की भव्य सुन्दर प्रतिमा अष्टधातु की है। सिंहासन सिमेन्ट का बनाया गया है। मन्दिर में एक नवार की चार-पाई रखी है। इस पर भगवान का रात्रि को बहुमूल्य आभूषणों से बिस्तर सजाया जाता है। गर्भगृह के बाहर परिक्रमा पथ निर्मित है।

नरसिंह मन्दिर

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के दौरान निर्मित किया गया नरसिंह मन्दिर शिखरा-कार है। यह कला और भव्यता का अनूठा उदाहरण माना जाता है। इसका मुख्य दरवाजा मणिमहेश मन्दिर के दरवाजे के सामने खुलता है और दोनों मन्दिर एक जैसी शैली में बने हैं। फरक इतना है कि यह प्रांगण में है और मणिमहेश मन्दिर ऊंचे चबूतरे पर। मन्दिर साहिल वर्मन के शासनकाल में बना है। बताया जाता है कि उनके पुत्र युगाकर वर्मन ने इस मन्दिर के निर्माण हेतु भूमि दान में दी थी। भूरिसिंह संग्रहालय में रखा ताम्रपत्र इस बात को प्रमाणित भी करता है। इसमें प्रतिष्ठित विष्णु की प्रतिमा भारतवर्ष में अपनी तरह की एकमात्र मानी जाती है। यह कांस्य प्रतिमा विष्णु पुराण में वर्णित विष्णु रूप से मेल खाती है। इसकी ऊंचाई लगभग तीन फुट है। यह सुखासन में ऊंची पीठिका पर स्थापित है और चतुर्भुज है। भवें तनी हैं, लाल रंग में दर्शाई खुली आंखें हैं, बाहर की ओर निकले तीखे दांत अद्भुत हैं।

वर्ष 1905 में आए भूकम्प से मन्दिर को काफी क्षति पहुंची थी लेकिन यह प्रतिमा बिलकुल सुरक्षित रही। एक धारणा यह भी रही है कि इसका निर्माण युगाकर वर्मन की पत्नी महारानी त्रिभुवन ने करवाया था। बताया जाता है कि रानी के कोई संतान नहीं थी। इसलिए पुत्र प्राप्ति हेतु रानी ने नरसिंह देव की स्तुति की थी। रानी की इच्छा पूर्ण हुई और पुत्र की प्राप्ति के पश्चात् रानी ने इस मन्दिर की स्थापना करवाई। इस क्षेत्र की महिलाएं मन्दिर में पूजा हेतु आती रहती हैं।

नरसिंह देवता का विष्णु के अवतारों में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इस देवता का आधा भाग मनुष्य का और आधा शेर का होता है।

अन्य मन्दिर

चौरासी के प्रांगण में प्राचीन कई मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। इससे चौरासी मन्दिरों की बात प्रमाणित होती है। असंख्य छोटी-बड़ी पत्थर की प्रतिमाएं इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। मणिमहेश मन्दिर और नृसिंह मन्दिर के मध्य दिगम्बर जयकृष्ण गिरी की समाधि स्थापित है। इन्होंने वर्षों यहां तपस्या की और यहीं स्वर्ग सिधार गए। दूसरे शब्दों में यहां सद्प्रेरक महन्त प्रेमनारायण गिरी जी की समाधि का वर्णन भी है जिसकी स्थापना 22-9-63 को की गई है। ध्यानमग्न प्रतिमा भी यहां स्थापित है। इसके साथ ही अन्य योगियों की समाधियां भी यहां स्थापित हैं। लघु मन्दिरों में महावीर मन्दिर और मां चामुण्डा मन्दिर स्थित हैं। छोटे मन्दिरों में हरिराय और शीतला देवी के मन्दिर भी विद्यमान हैं। परिसर में बनी समाधियों के मध्य कई महात्मागण बैठे दिखाई देते हैं। हर वक्त यहां चहल-पहल रहती है। भरमौर गांव से कुछ दूरी पर ऊपरी पहाड़ी में भरमाड़ी देवी का प्राचीन मन्दिर है। "—चौरासी परिसर में जो पहले एकाकीपन और वातावरण था वह समाप्त सा हो गया है। मन्दिरों के चारों तरफ असंख्य दूकाने उमड़ पड़ी हैं जिनमें तरह-तरह का सामान बेचा जाता है। हलवाइयों की दूकानें भी चल रही हैं। साथ ही एक पानी की बावड़ी है जिस पर महिलाएं नहाती हैं। यहीं कपड़े भी धोए जाते हैं। पूर्ण परिसर एक आधुनिक व्यापारिक केन्द्र लगता है। क्योंकि धार्मिक स्थान में किसी भी तरह का व्यापार उसकी पवित्रता और शान्ति को ही भंग करता है। आश्चर्य होता है कि इस प्राचीन धर्म स्थल और पुरातत्व विभाग के संरक्षण क्षेत्र में यह व्यापार क्यों करवाया जाता है। परिसर के बाहर ये दूकानें लग सकती हैं। देखा गया है कि कई व्यापारी लोग मन्दिरों के प्रवेश द्वार के सामने अपनी गठड़ियों को खोलकर बोलियां बोलने लगते हैं। इस बात का सीधा सम्बन्ध प्रशासन से है कि उसने क्यों ऐसा करने पर रोक नहीं लगाई है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो एक प्राचीन ऐतिहासिक और धार्मिक परिसर नष्ट हो जाएगा। मैं इस परिसर में मणिमहेश यात्रा से वापिस आते हुए 29-9-90 को गया था और परिसर में व्यापारियों की दूकानों से फैल रही अपवित्रता और अशान्ति को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। पूरा परिसर इस तरह बनावटी चीजों से सजाया गया था मानों कोई विवाहोत्सव का आयोजन या किसी मन्त्री के आने के लिए साज-सज्जा की गई हो। कहीं भी ऐसा स्थान नहीं था जहां से कोई चित्र स्पष्ट रूप से लिया जा सके। चमकीली रस्सियों और गुड्डी कागजों से मन्दिरों का अधिकतर भाग देखा ही नहीं जाता था।

खज्जी नाग मन्दिर खज्जार

चम्बा से 22 कि० मी० और डलहौजी से 26 कि० मी० की दूरी पर 'चम्बा डलहौजी मार्ग' के मध्य बसा खज्जार देवदारों के वृक्षों से चहूं ओर से ढका एक रमणीय

स्थल है। समुद्र तल से 1890 मीटर की ऊंचाई पर स्थित इस स्थल का सौन्दर्य अभूत-पूर्व है और शायद ही इतना खूबसूरत स्थान हिमाचल प्रदेश में कहीं हो।

देवदारों के घने जंगलों के मध्य 1·5 कि० मी० और 1 कि० मी० लम्बा-चौड़ा तश्तरी नुमा मैदान अपनेआप में सुन्दरता का अनूठा उदाहरण है जिसके मध्य प्राकृतिक झील है लेकिन बिना उचित देख-रेख के इस झील में पूरी तरह दलदल भर चुका है और लोग ऐसा किसी देवी प्रकोप के कारण मानते हैं। क्योंकि यह स्थान स्वर्गनुमा लगता है और इस मैदान के एक किनारे बस्तियों के साथ प्राचीन खज्जीनाग मन्दिर निर्मित होने के साथ इसकी कहानी इसी मन्दिर से जुड़ी है।

खज्जीनाग मन्दिर के मूल काष्ठमन्दिर का स्थापत्य 12वीं सदी का है और कुछ लोग इससे भी पहले का मानते हैं। 16वीं सदी में चम्बा के राजा बलभद्र वर्मन ने इस मन्दिर में पाण्डव की विजय प्रतीक प्रतिमाएं स्थापित करवाईं जो लकड़ी की हैं। राजा पृथ्वीसिंह (1641-1664) की धर्म परायण दाई बाल्टू ने 17वीं सदी में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था।

नाग देवता के आने की घटना इस तरह बताई जाती है। बहुत समय पहले यहां एक सिद्ध देवता रहा करता था। एक दिन कोई नाग यहां घूमता हुआ आया और उसे यह स्थान प्रिय लगा। उसने अपने बल इसे हथियाना चाहा लेकिन सिद्ध देवता ने नाग को ऐसा करने से रोक लिया। दोनों का युद्ध हुआ और आखिर विजय नाग देवता की ही हुई। सिद्ध देवता ने हार मान ली और यह स्थान नाग को देते हुए कहा कि अब 'तू खा और जी'। इसलिए इसी से यह माना जाता है कि इस स्थान का नाम 'खज्जी' पड़ा जो बाद में 'खज्जयार' हो गया। कोई यह भी मानते हैं कि इसका नाम पहले 'नार' था जो बाद में खज्जयार कहा जाने लगा।

मन्दिर का प्रवेश द्वार एक हाल में पहुंचता है। यह हाल चारों तरफ से खुला है जो मध्य भाग में लगे चार खम्बों द्वारा निर्मित है। इन्हीं पर ढलवां स्लेट की छत है। हाल की दीवारें लकड़ी और पत्थर की हैं जिस पर कच्ची मिट्टी की लिपाई की गई है। खिड़की के बदले चारों तरफ खुली दीवार है। इसी हाल के अन्त में गर्भगृह है जिसको सीढ़ियां लगी हैं। दो-चार सीढ़ियों के बाद परिक्रमा पथ है। गर्भगृह का दरवाजा लकड़ी का है। सामने दो लकड़ी के खम्बे हैं जिन पर उत्तम नक्काशी है। दोनों तरफ सिंह बनाए गए हैं। भीतर नाग देवता की आदमकद पुरुषरूपी प्रतिमा है जो पत्थर की है। हाथ दो हैं जिनमें एक तरफ खण्डा है और दूसरी तरफ गदा है। पांव के साथ ऊपर की ओर खड़ी पत्थर की दोनों ओर एक एक प्रतिमा है। यह पूरी प्रतिमा एक ही पत्थर में खुदाई कर बनाई गई है जिसे ऊपर से गोलाकार और नीचे से सीधा काटा गया है। इस प्रतिमा के ऊपर दाहिनी और बाईं तरफ एक ही पत्थर की शिला को काट कर ताज सा बना रखा है जिसने इस प्रतिमा को सिंहासन पर सुरक्षित कर लिया है। इसी तरह की एक नक्काशीपूर्ण फ्रेम से इन पत्थर की प्रतिमा को ढके रखा है। पत्थर की शिला से निर्मित फ्रेम दाईं और बाईं तरफ तीन-तीन प्रतिमाएं तराशी गई हैं। मध्यभाग

में स्थापित नाग देवता की प्रतिमा के बाईं तरफ एक लघु प्रतिमा पत्थर की स्थापित है जो भगवान विष्णु को समर्पित है। इसे भी लकड़ी के फ्रेम से ढके रखा है। दरवाजे की चौखट पर उत्कृष्ट नक्काशी है। गर्भगृह की छत भी लकड़ी से निर्मित है जिस पर सुन्दर नक्काशी देखी जा सकती है। मध्य में छतर लटका है।

परिक्रमा पथ में लगे दाएं और बाएं खम्बों पर भू-भाग से ऊपर की ओर आमने-सामने दो लकड़ी की खड़ी प्रतिमाएं स्थापित हैं। इनके हाथों में धनुषबाण दिखाए गए हैं। ये अर्जुन और युधिष्ठिर की हैं। दाईं ओर अर्जुन की मूर्ति के साथ एक भण्डारकक्ष बना दिया है जिससे मन्दिर का मूल रूप कुछ दब-सा गया है। इसके दरवाजे के सामने भीम की प्रतिमा है और साथ एक चेले की मूर्ति है। इस चेले के बारे में कहा जाता है कि यह बालक सात साल का था जब इसे नाग देवता ने चेला बना दिया था। इसमें कई दिनों तक देवता आता रहा और वह मन्दिर के आस-पास ही घूमता रहा। बालक खज्जयार गांव का बताया जाता है। बाद में इसकी मृत्यु हो गई जिस कारण इसकी पूजा नाग देवता के साथ होने लगी।

भीम की प्रतिमा के आगे खुला बरामदा है और फिर दीवार। कोने में सहदेव की प्रतिमा भीम की तरफ मुंह किए हुए है। ये उक्त प्रतिमाएं हाल के दाईं ओर के कोने में स्थापित हैं। बाईं तरफ लिए के उसी तरह का ढांचा है। प्रवेश द्वार के बाद कोने में नकुल की प्रतिमा है। दूसरा कोना खाली है। अर्थात् यहां तक पांचों पाण्डव भाइयों की प्रतिमाएं पूर्ण हो जाती हैं।

परिक्रमा पथ पर जो लकड़ी के खम्बे लगे हैं उनमें छत के साथ उल्टे मुंह किए सभी कौरव दिखाए गए हैं। ये प्रतिमाएं छत में खम्बे के चारों तरफ हैं यानी एक खम्बे के छत पर चार-चार प्रतिमाएं बनाई गई हैं। ये लगभग 20 प्रतिमाएं होंगी।

प्रवेश द्वार के सामने माता हिडिम्बा का छोटा-सा मन्दिर है जिसके भीतर माता के निशान रखे हैं। इसके साथ बाहर निकलते हुए बाईं तरफ शिव मन्दिर है जिसके मध्यभाग में पत्थर का लगभग पांच फुट लम्बा शिवलिंग है। यह आधा जमीन में है और आधा बाहर निकला है।

पशुबलि की प्रथा सदियों पुरानी है। बलि में केवल बकरा काटा जाता है जो मन्दिर से बाहर कटता है। पूजा के लिए गांव के 10-12 लोग नियुक्त हैं जो बारी-बारी पूजा करने यहां आते हैं क्योंकि गांव यहां से काफी दूर है। गांव में ही देवता का भण्डार है जिसमें देवता से सम्बन्धित नगाड़े तथा अन्य वाद्य यन्त्र रखे रहते हैं। देवता के बहुमूल्य आभूषण भी भण्डार में ही हैं। लोग मान्यतानुसार समय-समय पर देवता की जातर करवाते हैं और सपरिवार आशीर्वाद लेते हैं।

वर्ष में यहां मई, जून और अप्रैल के महीनों में मेलों का आयोजन जगरातों के रूप में किया जाता है। भण्डार के सभी वाद्य यन्त्र और आभूषण मन्दिर में लाए जाते हैं और विधिपूर्वक देवता का शृंगार होता है। दूर-दराज से असंख्य लोग मन्दिर में मनौतियां चढ़ाते हैं।

प्राचीन होने के नाते मन्दिर पुरातत्व विभाग की देख-रेख में है लेकिन कागजों तक। व्यवहारिक रूप से यहां कुछ भी नहीं किया गया है। मन्दिर में पहुंचने के लिए कोई उपयुक्त मार्ग तक भी नहीं है। लोग जगह-जगह से मन्दिर के हाल में घुस जाते हैं। बाहर गन्दगी से सारे में बदबू फैली रहती है।

मैदान के मध्य प्राकृतिक झील है। लोग इस झील का भी नाग देवता से ही सम्बन्ध मानते हैं। झील में लोग पैसे भी फेंकते रहते हैं। उचित देख-रेख के न होने से झील में दलदल-भर गया है और धीरे-धीरे यह अपना अस्तित्व खोती जा रही है। यह बात इस सुन्दर और धार्मिक स्थल के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। मन्दिर के आगे तथा साथ कुछ दूकानें खुली हैं। साथ शराब का ठेका भी है—क्या एक ऐतिहासिक महत्व के इस धार्मिक केन्द्र के लिए यह बात अभिशाप नहीं है? इसकी पवित्रता और सुरक्षा के लिए इन बूढ़ी टूटती दूकानों और सरकारी संस्थाओं को यहां से शीघ्र उठाना अनिवार्य है।

चन्द्रशेखर मन्दिर साहो

साहू चम्बा से 12 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह प्राचीन मन्दिर पत्थर को तराश कर निर्मित किया गया है। मन्दिर में पत्थर का लिंग और प्रतिमाएं स्थापित हैं।

मन्दिर के सन्दर्भ में एक किवदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि जहां सरेड़ी और करेड़ी दो छोटी नदियों का मिलन होता है, उसके किनारे एक कुटिया में एक महात्मा रहा करता था। वह नियमित इस संगम स्थल पर स्नान करने सुबह तड़के ही उठ जाता था। उसका यह नियम था कि उससे पहले कोई भी वहां स्नान न करे। लेकिन कुछ दिनों से उसे यह आभास होने लगा कि वहां कोई उसके जाने से पूर्व ही स्नान कर आता है। वह यह देखने के लिए एक दिन एक शिला के पीछे छिपकर बैठ गया। कुछ देर बाद संगम पर तीन बालक एक ही शक्ल के आकर नहाने लग गए। साधु धीरे-से निकला और उनको पकड़ने के लिए संगम की तरफ भागा। उसे देखकर दो बालक तो भाग गए लेकिन एक बालक उसकी पकड़ में आ गया। लेकिन कुछ देर बाद अपना और दो अन्य बालकों का परिचय देकर साधू की पकड़ से छूट गया और जहां आज चन्द्रगुप्त मन्दिर निर्मित है वहां जमीन में लुप्त होकर एक लिंग के रूप में प्रकट हुआ।

इन तीनों बालकों के नाम महेश, चन्द्रगुप्त और चन्द्रशेखर थे। दो बालक जो अलग-अलग दिशाओं को भागे उनमें महेश भरमौर के स्थान पर चला गया जहां वह बाद में मणिमहेश के नाम पर पूजा जाने लगा। वहां भी वह लिंग के रूप में पैदा हुआ और उसका शिखराकार मन्दिर आज भी इसका प्रमाण है। दूसरा बालक चम्बा नगर पहुंचा जहां वह भी एक लिंग के रूप में प्रकट हुआ और बाद में चन्द्रगुप्त मन्दिर का वहां लक्ष्मीनारायण मन्दिर परिसर में निर्माण किया गया। तीसरा साहू के स्थान पर

चन्द्रगुप्त के नाम से पूजनीय है। प्रति वर्ष बैशाख के महीने में यहां विशाल मेले का आयोजन होता है।

ये तीनों बालक सगे भाई बताए जाते हैं और इनके मन्दिर शिखर शैली में बने हैं जो कला के अनन्य उदाहरण माने जाते हैं। भगवान शिव को समर्पित मन्दिर बगोटा राजा के पुत्र सत्याकी ने बनवाया था। इसने किशकिंधा के महाराजा के घर सोम प्रभा नामक कन्या से विवाह किया था। यह बात गांव सें प्राप्त एक शिलालेख से मालूम होती है जिसे चम्बा के संग्रहालय में रखा गया है। मन्दिर पर पत्थर की स्लेटों की छत है। प्रवेश द्वार सुन्दर चित्रकला से अलंकृत है। इसे 10वीं शताब्दी पूर्व का माना जाता है। यह पैंटरूफ शैली में है।

इसी के पीछे भगवान विष्णु का इसी शैली का मन्दिर स्थित है जिसमें विष्णु की त्रिमुखी खड़ी प्रतिमा स्थापित है।

साहू में चन्द्रशेखर के मन्दिर के साथ महाकाली का मन्दिर भी स्थित है। इसमें पत्थर की प्रतिमा स्थापित है। इन दोनों मन्दिरों के साथ चतुर्भुज नारायण मन्दिर भी बना है जिसमें भी पत्थर की मूर्ति स्थापित है।

पांगी घाटी के मन्दिर

पांगी घाटी एक ग्रामीण प्रवेश का क्षेत्र है। इस घाटी की देव परम्परा भी अन्य स्थानों की तरह समृद्ध है। इसमें बहुत-से प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। इन मन्दिरों में कुछ पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं और कुछ रोचक कथाओं के कारण यह घाटी विशेषकर ट्रैकिंग करने वालों के लिए अति सुन्दर है। पांगी पहुंचने के लिए दो रास्ते हैं। पहला साच दर्रा पार करके और दूसरा जम्मू-काश्मीर से होकर। साच दर्रा वाला मार्ग छोटा है। वही मार्ग ट्रैकिंग करने वालों में लोकप्रिय है।

पांगी के मुख्यालय किलाड़ तक रास्ते में कई सुन्दर स्थान आते हैं। चम्बा से बस द्वारा तरेला तक जाया जा सकता है। यह रास्ता लगभग 87 किलोमीटर लम्बा है। तरेला से फिर पैदल मार्ग है। सतरुण्डी नामक स्थान तक पहुंचते-पहुंचते आदमी थक जाता है। यहां विश्राम-गृह स्थित है। आगे साच पास है जो समुद्रतल से लगभग 4405 मीटर की ऊंचाई पर है। यहां तक का रास्ता 51 कि०मी० का है। 17 कि० मी० बाद बिन्द्रावनी नामक स्थल आता है। यहां से किलाड़ 11 किलोमीटर दूर है। यहां से किशतवाड़ और उदयपुर के लिए यात्रा की जा सकती है।

मिंधल माता मन्दिर

पांगी घाटी के मन्दिरों में माता मिंधल का मन्दिर विख्यात और प्राचीन माना जाता है। इस मन्दिर का पुरातात्विक दृष्टि से बहुत महत्व है। इस के साथ अत्यन्त रोचक कथा जुड़ी है।

कहा जाता है कि किसी समय मिधल गांव में एक गरीब विधवा रहा करती थी। उसके सात पुत्र थे। वे सभी विवाहित थे। उनकी मां जहां दिनभर घर के काम-काज में व्यस्त रहती वहां उसके बेटे और बहुएं घर से बाहर खेती-बाड़ी इत्यादि में लगे रहते थे। एक दिन जब वह विधवा चूल्हे पर खाना बना रही थी उसने अचानक देखा कि चूल्हे के मध्य एक नुकीला पत्थर निकल आया है। उसने उस पत्थर को दबाने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वह लगातार निकलता ही रहा। उसने अपने बेटों को इस बारे में कई बार बताया लेकिन उन्होंने कोई भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपनी मां को समझाया कि वह घर का काम ध्यान से किया करें इन फजूल की बातों में समय न गंवाए।

पुनः बुढ़िया जब खाना पकाने लगी तो उस पत्थर से एक आवाज आई कि वह चामुण्डा देवी है। उसका बुढ़िया के बेटों ने अपमान किया है, इसलिए खेत में वे सातों अपनी-अपनी पत्नियों सहित पत्थर बन गए। उस बूढ़ी विधवा ने गांव वालों को यह बात बताई लेकिन उसकी बातों पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। वह रोती बिलखती घर वापिस चली आई और चामुण्डा से विनती करने लग पड़ी। उसने कहा कि उसकी गांव में कोई बात नहीं सुनता केवल उसका उपहास ही उड़ाता है।

मां चामुण्डा ने इस अनादर को देखकर गांव के लोगों को शाप दे दिया कि वे आज के बाद चारपाई पर नहीं सो सकेंगे और खेत में वे केवल एक ही बैल से खेती कर सकेंगे। दूसरा यदि जोड़ा भी तो वह मर जाएगा। साथ ही गांव प्राकृतिक विपदा का शिकार बन जाएगा। —और ऐसा ही हुआ। लोग धार्मिक विचारों के तो थे ही। उन्हें अब बुढ़िया की बातों की याद आई। वे एकत्रित हुए और बुढ़िया के घर आकर चूल्हे में वह पत्थर देखा तथा तत्पश्चात् खेतों में जाकर पत्थर बने उसके बेटों को। लोगों ने मां चामुण्डा से अपने किए के लिए क्षमा मांगी तथा वहां पर एक भव्य मन्दिर बनाने का निश्चय कर लिया। चामुण्डा ने आग्रह करके उस विधवा ने भी पत्थर बन जाने का वर मांगा। चामुण्डा से यह बात मान ली लेकिन बुढ़िया की सत्यनिष्ठा को देखते हुए अपनी प्रतिमा के साथ ही उसकी प्रतिमा भी स्थापित करवा दी। आज भी इस मन्दिर में वे दोनों प्रतिमाएं विद्यमान हैं।

मिधल गांव में आज भी कोई व्यक्ति चारपाई पर नहीं सोता है। किसान एक ही बैल से खेती करते हैं। पांगी घाटी का मिधल देवी मन्दिर सबसे विख्यात है। इसे चामुण्डा देवी मन्दिर भी पुकारते हैं। भादों के महीने में यहां जो मेला लगता है उसमें अनेक गांवों के देवी-देवता पधारते हैं। देवी को पशु-बलि देने की प्रथा भी मौजूद है।

अन्य मन्दिर

यहां के तकरीबन सभी मन्दिरों की लकड़ी की ढलानदार छतें होती हैं जिस पर बर्फ भी नहीं टिक सकती। मन्दिर के बाहर दीवारों और दरवाजों पर पहाड़ी चित्र-कला के उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते हैं। मन्दिर में लोग जिस भेड़-बकरों की बलियां

देते हैं उनके सिर सींगों के साथ दीवारों पर गढ़े देखे जा सकते हैं। लोग मन्दिरों में चांदी के छतरों सहित घण्टियां भी दान करते हैं। यह एक तरह का रिवाज ही है।

किलाड़ में स्थित नाग मन्दिर इस घाटी में नाग पूजा की परम्परा का प्रमाण है। अनेक देवताओं के साथ यहां नाग पूजा की परम्परा भी रही है। इस मन्दिर के अग्र भाग और दरवाजे पर सुन्दर नक्काशी है। करेबणी गांव का नाग मन्दिर भी अति प्राचीन माना जाता है। यह जंगल के मध्य निर्मित किया गया है।

लोक-कथाओं से विदित होता है कि इस घाटी में असुर देवताओं का भी प्रभाव रहा है। शीत मौसम में टुण्डा राक्षस की कथाएं जवान हो जाती हैं। लोगों का विश्वास है कि वह राक्षस सर्दियों में ही आता है। लोगों में इस राक्षस का बहुत डर बसा है।

—X—

3
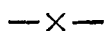
त्रिगर्त

कांगड़ा जनपद का महाभारत युगीन नाम त्रिगर्त है। संस्कृत साहित्य में इसका बार-बार वर्णन आया है। त्रिगर्त शब्द को यदि अलग करके देखें तो इसका अर्थ "तीन गढ़ों वाला" हो जाता है—अर्थात् त्रि-तीन और गर्त-गढ़। कई लोग इसे त्रिगाढ़ से भी पुकारते रहे हैं। इस नामकरण के बारे में विभिन्न मत देखने को मिलते हैं। वास्तव में यह क्षेत्र प्रारम्भ में मैदान तक विस्तृत था। वर्तमान हमीरपुर और ऊना जिले भी इसी के भाग हुआ करते थे। इसे तीन घाटियों वाला क्षेत्र भी कहा जाता है क्योंकि व्यास नदी की तीन सहयोगी नदियाँ न्युगल, कुरली और बाणगंगा इसकी धरा को सींच रही हैं। हिमाचल से निकलने वाली चार प्रमुख नदियाँ रावी, व्यास, सतलुज और चनाव के बीच यह जनपद तीन घाटियों जैसा दिखता है। इसके अतिरिक्त चार प्रमुख पर्वत मालाएं—शिवालिक पहाड़ियों का अन्तिम छोर, चिन्तपुरणी धार (जिसे घटार ढांगू भी कहते हैं), ज्वालामुखी मन्दिर वाली काली धार और धौलाधार के बीच इस क्षेत्र की जो तीन घाटियाँ स्थित हैं, उस कारण से भी इसे तीन गढ़ों वाला कहा जाता है। लेकिन यह विद्वानों और यहाँ के निवासियों के अपने-अपने तर्क हो सकते हैं। त्रिगर्त के अतिरिक्त इस क्षेत्र को जलन्धर, सुशर्मपुर और नगरकोट इत्यादि से भी जाना जाता था।

पाणिनि ने इस जनपद को छः राज्यों का महा संघ बताया है जिसे "त्रिगर्त षष्ठ" के नाम से जाना जाता था। यह तथ्य उन्होंने पाँचवीं सदी ईसा पूर्व लिखा है। इसके छः राज्य थे। कौदपर्थ, दण्डकी, करौष्टकी, जनमणि ब्रह्मगुप्त और जनकी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिगर्त कालान्तर में एक शक्तिशाली जनपद रहा है जिसे महा संघ के नाम से जाना जाता था। दूसरी सदी ईसा पूर्व में त्रिगर्त के स्वतन्त्र राज्य होने के प्रमाण भी उपलब्ध हैं जो उस समय के उपलब्ध सिक्कों में मिलते हैं। ये चकोर हैं जिनके एक ओर ब्राह्मी और दूसरी तरफ खरोष्ठी के अक्षर अंकित हैं।

यह प्राचीन समय से ही एक धार्मिक स्थल भी रहा है। इसलिए ही इसे जलन्धर पीठ से भी सम्भोधित किया जाता रहा। धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक परम्पराएं जो कालान्तर से चली आ रही हैं उनके अनेक उदाहरण इस जनपद में स्थित प्राचीन मन्दिरों, किलों, सिक्कों, परम्पराओं, मेलों और त्योहारों में

आज भी हमारे समक्ष हैं। प्राचीन त्रिगर्त आज हिमाचल प्रदेश के तीन महत्वपूर्ण जिलों के रूप में फलफूल रहा है जिसे कांगड़ा, ऊना और हमीरपुर के नाम दिए गए हैं। हिमाचल प्रदेश को पूर्ण राजत्व मिलने से पूर्व ऊना और हमीरपुर कांगड़ा में ही शामिल थे। इन तीनों जिलों का संक्षिप्त परिचय निम्न दिया जा रहा है। क्योंकि जितने ऐतिहासिक मन्दिर कांगड़ा में विद्यमान हैं उतने इन दो जिलों में नहीं हैं। इसका यह भी मतलब नहीं कि इनमें कोई धार्मिक स्थल नहीं है। कांगड़ा के साथ ये दोनों जिले भी धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और त्रिगर्त के नाम से इसी अध्याय में तीनों जिलों में स्थित कुछ महत्वपूर्ण मन्दिरों और धार्मिक स्थलों का यहां जिक्र किया गया है।

कांगड़ा :

कांगड़ा घाटी अत्यन्त वैभवशाली, सम्मोहित करने वाली, सुकुमार जनजीवन से परिपूर्ण, सभी प्राकृतिक रंगों से रंगीन और समृद्धशाली है जहां विश्वास एक परंपरा और कला जीवन है। एक ओर धौलाधार की हिमच्छादित पर्वत मालाएं जहां इस क्षेत्र को अपनी गोदी में लिए हुए है वहाँ दूसरी ओर शिवालिक की पहाड़ियाँ इसकी सुन्दरता में चार चांद लगाए हैं। इसकी सीमाएं उत्तर में चम्बा, पूर्व में चम्बा व कुल्लू जिलों, दक्षिण में मण्डी, हमीरपुर व ऊना व पंजाब के होशियारपुर जिले और पश्चिम में पंजाब के ही गुरदासपुर जिलों के साथ लगती है। लगभग दस हजार आबादी वाले इस जिल का क्षेत्रफल 5739 वर्ग किलो मीटर है। इस जिले का नाम कांगड़ा कस्बे के नाम पर ही रखा गया है। कांगड़ा प्राचीन काल से ही एक ऐतिहासिक और धार्मिक स्थल रहा है। यह जहाँ मन्दिरों के लिए विख्यात है वहाँ अपने विशाल और ऐतिहासिक किलों के लिए भी महत्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम कानगढ़ भी बताया जाता है। एक किवदन्ती के अनुसार जलन्धर नाम के एक दैत्य ने इस प्रदेश में काफी आंतक मचा रखा था। इसके निरन्तर उपद्रवों से इस घाटी के देवी-देवता अत्यन्त परेशान थे। एक दिन सभी देवताओं ने भगवान विष्णु की स्तुति की और उनसे सहायता मांगी। इस पर विष्णु भगवान ने स्वयं उस दैत्य को मार गिराया और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। यह धारणा है कि जहाँ ये टुकड़े पृथ्वी पर गिरे वहाँ अनेक स्थान बने जिनमें उसका कान इस धरा पर गिरने से इसे कानगढ़ कहा जाने लगा और बाद में इसी शब्द से कांगड़ा शब्द ने जन्म लिया। इसे कटोचों की भूमि से भी जाना जाता है। इसका इतिहास चालीस हजार वर्षों से भी प्राचीन बताया जाता है। इस भूमि पर मुगलों, सिक्खों, गोरखों और अंग्रेजों ने शासन किया। कांगड़ा, गुलेर, डाडासिबा और जसवां कटोचवंश की रियासतें मानी जाती हैं और नूरपुर पठानिया वंशीय। ये रियासतें अंग्रेज शासनकाल में कुल्लू तथा लाहौल-स्पिति के साथ मिलकर एक जिले के रूप में उनके अधीन रहीं। स्वतन्त्रता के बाद भी काफी समय तक यह जिला पंजाब का हिस्सा बना रहा। बाद में कुल्लू, लाहौल-स्पिति को कांगड़ा के साथ पूर्ण जिलों के रूप में

स्थापित कर दिया और कांगड़ा जिला अन्य जिलों के साथ 1 नवम्बर, 1966 को हिमाचल प्रदेश का जिला बन गया।

कटोच वंशीय भूमिचन्द्र इस रियासत का पहला राजा हुआ। इसी रियासत के एक अन्य राजा सुशर्मचन्द्र ने तो महाभारत युद्ध में भी भाग लिया था और कौरवों के युद्ध हार जाने से इसके हाथ से मैदानों के अधिकतर क्षेत्र निकल गए और वह पहाड़ों में आकर रहने लगा। उसी ने कांगड़ा का दुर्ग निर्मित किया और यहीं पर राजधानी की नींव रखी।

कांगड़ा आज हवाई एवं रेल सेवा से जुड़ गया है। गग्गल हवाई पट्टी का निर्माणकार्य वर्ष 1990 में ही पूरा हुआ है। पठानकोट से कांगड़ा रेल द्वारा भी भ्रमण किया जा सकता है। एक नेरोगेज रेल जोगिन्द्रनगर तक जाती है। कांगड़ा तक का यह रोमांचकारी सफर 94 कि०मी० का है। पठानकोट, दिल्ली, चण्डीगढ़ और शिमला इत्यादि प्रमुख स्थानों से नियमित बस सेवा भी उपलब्ध है।

जिले का मुख्यालय 18 कि०मी० दूर धर्मशाला है जो एक प्रमुख पहाड़ी नगर है। समुद्रतल से यह स्थान 1250 मीटर से 1982 मीटर तक की ऊँचाई पर बसा है। इसे पावस की नगरी भी कहा जाता है। भारत में चीरापूंजी के बाद धर्मशाला ही ऐसा स्थान है जहाँ अधिक वर्षा होती है। शिमला से हमीरपुर मार्ग से 278 कि०मी० और मण्डी-जोगिन्द्रनगर मार्ग से 322 कि०मी० दूर है। पहाड़ी गंतव्य स्थल के रूप में यह रमणीक है। यहीं पवित्रता का वातावरण है क्योंकि बौद्ध के नेता दलाई लामा का निवास स्थान भी यहीं स्थित है। धौलाधार की पर्वत शृंखलाएं सदैव इस सुन्दर नगरी की रक्षा किए हुए लगती है। आवास के लिए हिमाचल प्रदेश पर्यटन विकास निगम के होटल उपलब्ध हैं। इस स्थान से कई अन्य धार्मिक और प्रमुख ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण आसानी से किया जा सकता है। इनमें ज्वालामुखी 56 कि०मी०, सुजानपुर टीरा 80 कि०मी०, त्रिलोकपुर 41 कि०मी०, नूरपुर 66 कि०मी०, मसरूर 15 कि०मी०, बैजनाथ 56 कि०मी०, पालमपुर 35 कि०मी० और भागसूनाथ 11 कि०मी० की दूरी पर स्थित प्रमुख स्थल हैं। प्रसिद्ध डल झील यहां से 11 कि०मी० दूर है। हेंग ग्लाईडिंग जैसे विश्वप्रसिद्ध खेलों के आयोजन हेतु बिलिंग का मनोहारी स्थल अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह स्थान पालमपुर से 14 कि०मी० है। इस खेल के लिए विश्व में इसे सर्वश्रेष्ठ उपयुक्त स्थल माना गया है।

ऊना :

इस जिले के क्षेत्र एक नवम्बर, 1966 को हिमाचल प्रदेश में शामिल हुए और इसे पूर्ण जिले का दर्जा 1 सितम्बर, 1972 को दिया गया। हिमाचल में शामिल होने से पहले ऊना और अम्ब के क्षेत्र पंजाब के होशियारपुर जिले की तहसील के रूप में थे। और कुटलेहड़ क्षेत्र कांगड़ा में। 1540 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्रफल वाले इस जिले की साढ़े तीन लाख के करीब जनसंख्या है। ऊना ही जिले का मुख्यालय है जो समुद्रतल से

395 मीटर की ऊँचाई पर बसा है। इसके पूर्व में जिला हमीरपुर और बिलासपुर, पश्चिम में पंजाब का जिला होशियारपुर, उत्तर में जिला कांगड़ा और दक्षिण में जिला बिलासपुर और पंजाब की आनन्दपुर साहिब तहसील के क्षेत्र लगते हैं। प्रमुख स्थानों में चिन्तपुर्णी, बंगाणा, संतोषगढ़, जोगीपंगा, अम्ब, गगरेट और हरोली इत्यादि स्थान हैं।

हमीरपुर :

अन्य क्षेत्रों की तरह 1966 में हमीरपुर हिमाचल प्रदेश में शामिल हुआ और 1972 में यह एक जिले के रूप में अस्तित्व में आ गया। इस पहाड़ी नगर को कटोच वंश के राजा हमीरचन्द्र ने बसाया था और उसी के नाम से इसका नाम भी पड़ा। क्योंकि यह क्षेत्र कांगड़ा में ही शामिल था इसलिए 1846 ई० में कांगड़ा के साथ ब्रिटिश शासन का हिस्सा बन गया। इसे एक ऐतिहासिक जिले के रूप में भी जाना जाता है। 1804 और 1805 ई० में गोरखों और महाराजा संसार चन्द के मध्य यहाँ महल नामक गाँव में भारी युद्ध हुआ था। आज इस जिले का क्षेत्रफल 1118 वर्ग किलोमीटर है और 1981 की जनगणना के मुताबिक साढ़े तीन लाख के करीब जनसंख्या। हमीरपुर कस्बा ही जिले का मुख्यालय है जो समुद्रतल से 780 मीटर की ऊँचाई पर बसा है। इस जिले की सीमाएं पूर्व में मण्डी, पश्चिम में ऊना और बिलासपुर क्षेत्रों, उत्तर में कांगड़ा जिला और दक्षिण में बिलासपुर जिले के साथ लगती हैं। प्रमुख स्थानों में दयोटसिद्ध, सुजानपुर टीहरा, नदौन, और बड़सर आते हैं। इस जिले के उत्तरी भाग से व्यास नदी बह रही है।

(क) कांगड़ा

ब्रजेश्वरी मन्दिर

कांगड़ा बाजार से करीब सौ मीटर की दूरी पर प्रसिद्ध शक्तिपीठ ब्रजेश्वरी मन्दिर समुद्रतल से 2495 मीटर की ऊँचाई पर एक ऊँचे टीले पर विराजमान है। इसकी गणना इक्कावन शक्तिपीठों में की जाती है। यक्षप्रजापति के यज्ञ में जब सति ने अपने शरीर को समाप्त कर दिया था और क्रोधित शिव ने सति के शरीर को उठाकर तांडव किया तो पृथ्वी की तबाही को देखकर देवताओं के निवेदन पर ब्रह्मा ने सति के शरीर के टुकड़े कर दिए थे। इस तरह यह मान्यता है कि इस स्थान पर पारवती जी का वक्ष गिरा जिसके कारण ब्रजेश्वरी नाम से यहाँ देवी की उत्पत्ति हुई। मन्दिर निर्माण के वक्त संसार की 360 देवियाँ यहाँ आईं और उन्होंने विधिपूर्वक इस कार्य को सम्पन्न किया।

यह लोक मान्यताएँ हैं लेकिन इस मन्दिर का प्रारम्भ में निर्माण कब और किसने किया यह कहना अत्यन्त कठिन है। लेकिन इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि प्राचीन काल में यह स्थल शक्तिपूजा का प्रधान केन्द्र था। कांगड़ा क्षेत्र से कई प्राचीन शक्ति स्थलों में निर्मित मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। इनमें स्थापित मूर्तियों को इतिहासकारों ने सातवीं शताब्दी को बताया है। इसमें सन्देह नहीं किया जाना चाहिए कि इस मन्दिर का निर्माणकाल भी यही रहा हो। इस देवी को कांगड़ा की संरक्षिका भी माना जाता है। वागेश्वरी नाम से भी इसे पुकारा जाता था। विद्वानों का कहना है कि यहाँ कभी अश्वमेघ यज्ञ भी किया गया था। जिन 360 देवियों की मन्दिर निर्माण में बात कही जाती है, वह इस यज्ञ के दौरान ही उपस्थित हों और उसी वक्त इस देवी की स्थापना हुई हो। 11वीं शताब्दी में इस शाक्त केन्द्र की प्रधानता अपनी चरम् सीमा पर थी। यहाँ भारत के विभिन्न स्थानों से लोग आकर सोना और चाँदी चढ़ाया करते थे। मन्दिर की आर्थिक समृद्धता के गुणगान चारों ओर फैल गए थे। यही कारण था कि महमूद गजनवी ने 1009 ई० में धन के लालच से आक्रमण कर दिया और उसका पहला निशाना यही मन्दिर था। उसने न केवल देवी की मूर्ति को उठा लिया अपितु भण्डार से समस्त धन भी अपने साथ ले गया। इसका ब्यौरा मन्दिर से सम्बन्धित इतिहास में इस प्रकार है—सात लाख सोने की मोहरें, सात सौ मन सोने और चाँदी के बर्तन, सात सौ मन सोने की छड़ियाँ, दो हजार मन चाँदी की छड़ें और दो हजार मन हीरे और मोती, और अन्य कीमती गहने इत्यादि। यहाँ इस सम्राट ने अनेकों लोगों के साथ कई सौ गाएं भी कत्ल कर दीं। यह बात प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता ने भी लिखी है। उसने इस मन्दिर को गिरा दिया और उसके समर्थकों ने यहाँ एक मस्जिद का निर्माण भी करवाया लेकिन बाद में इस मन्दिर की पुनः स्थापना हुई लेकिन इसका प्रारम्भिक स्वरूप फिर न बन पाया।

क्योंकि यह शक्ति पीठ संसार भर में प्रसिद्ध था और लाखों श्रद्धालुओं की अपार श्रद्धा से शीघ्र ही यह मन्दिर समृद्धशाली बन गया। लेकिन धन के लोलुप शासकों की भूखी निगाहें इस पर टिकी रहीं और फिर 1360 ई० के दौरान सम्राट फिरोज तुगलक ने कांगड़ा पर आक्रमण कर दिया। तुगलक के बाद शेरशाह के सेनापति ख्वास खान ने 1540 ई० में दोबारा इस पर आक्रमण कर दिया और मन्दिर का सारा धन लूट लिया। लेकिन देवी की अपार कृपा और श्रद्धालुओं की श्रद्धा ने इसे पुनः स्थापित कर दिया। कई यात्रियों ने इस मन्दिर का जिक्र अपनी रचनाओं में किया है। इनमें यूरोपियन यात्री मुख्य थे। 1611 ई० में विलियन पिंच ने इस मन्दिर में एक प्रस्तर प्रतिमा का जिक्र किया है। उसके बाद एक अन्य यात्री थामस कोर्यट ने भी इस मूर्ति का वर्णन किया है और इसे दुर्गा की प्रतिमा बताया। 1666-67 ई० में एक फ्रांसीसी यात्री जिसका नाम थेवेनट बताया जाता है ने इस मन्दिर और इसके गर्भगृह में स्थापित प्रतिमा का उल्लेख किया है। इस यात्री ने नगरकोट की देवी का नाम इसे दिया था। हो सकता है उस समय कांगड़ा को नगरकोट ही कहा जाता हो। उसने इस

मन्दिर की समृद्धता और देवी के अत्यधिक शक्तिशाली होने का जिक्र भी किया है। उस समय यहाँ हजारों तीर्थ यात्री इस मन्दिर में आते थे और पूर्वत कीमती सोने और चाँदी के गहने माता को भेंट करते थे।

कांगड़ा के इतिहास में एक युग ऐसा भी आया जब यहाँ के लोगों और प्राचीन किलो तथा मन्दिरों को संरक्षण मिला। यह युग बादशाह अकबर के शासन काल का था। कहा जाता है कि वह कभी कांगड़ा में टोडरमल के साथ आया था और यहाँ के मन्दिरों पर उसकी गहरी आस्था थी। उसने हर तरह से इन मन्दिरों को अपना संरक्षण दिया जिससे इन मन्दिरों की पवित्रता नष्ट होने से तो बची ही लेकिन आज ये प्राचीन संस्कृति और वास्तुकला के स्तम्भ हमारे समक्ष सुरक्षित विराजमान उसी कारण हैं। सिक्खों के काल में भी ब्रजेश्वरी देवी के मन्दिर को प्रतिष्ठा मिली क्योंकि उनकी इस पर बड़ी श्रद्धा थी और वे लोग देवी की शक्ति से अत्यन्त प्रभावित थे। महाराजा रणजीत सिंह ने इस मन्दिर के विकास में भरपूर योगदान दिया और इसका हर तरह से विकास होता रहा।

लेकिन सन् 1905 में कांगड़ा का क्षेत्र भयंकर भूकम्प की लपेट से न बच पाया और यहाँ का प्राचीन किला ब्रजेश्वरी और मन्दिर को भारी क्षति पहुंची। लेकिन पंजाब तथा अन्य क्षेत्रों के लोगों ने तन, मन और धन से इस देवी के मन्दिर को निर्मित करने के लिए प्रयास किए और 1908 के आसपास पुनः मन्दिर का निर्माण कार्य प्रारम्भ कर लिया गया और 1925 के आसपास यह मन्दिर बनकर तैयार हो गया। इसमें देवी की प्रतिमा स्थापित्त हुई और उस समय से निरन्तर इसका विकास और महत्व बढ़ता ही रहा।

माता की भव्य प्रतिमा गर्भगृह में दर्शनीय है। देवी की पिंडी पूजा का विशेष आकर्षण है जो प्राचीन काल से ही यहाँ बताई जाती है। प्रांगण संगमरमर की सुन्दर स्लेटों से बना है। देवी की पिंडी पर चाँदी और सोने के छतर चढ़ाने का रिवाज है। मुख्य दरवाजे की तरफ मुंह किए शेर की प्रतिमाएं हैं। भीतर कई देवी-देवताओं की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। प्रांगण में देवी तारा, भैरव, ध्यानू भक्त और जोगणियों की मूर्तियाँ हैं। चक्र कुण्ड, चक्र तीर्थ, वीरभद्रेश्वर, सहस्रधारा, गुप्तगंगा और बाण गंगा के नाम से प्रसिद्ध देवालय मन्दिर के साथ हैं।

प्रति वर्ष लोहड़ी के अवसर पर एक विशाल मेले का आयोजन किया जाता है। इस दौरान माता की पिंडी पर मक्खन चढ़ाने की परम्परा है। ग्रामीणों द्वारा यहां मक्खन भेंट किया जाता है और इसे माता की पिंडी पर कई फुट की ऊंचाई तक लगाया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि जब देवी ने राक्षस महिषासुर का वध किया था तो उनके शरीर पर कई जख्म हो गए थे। इन्हें देवताओं ने मक्खन लगाकर ठीक किया था और इसी लोक मान्यता के अनुसार यह परम्परा कायम है। नवरात्रों में यहां हजारों श्रद्धालु दर्शन के लिए दूर-दूर से आते हैं। इस दौरान 60 हजार तक लोग

यहां आकर अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। यात्रियों के ठहरने हेतु मन्दिर कमेटी द्वारा सराए निर्मित की गई हैं।

नगर के प्रमुख देव स्थलों में चक्रकुण्ड, संगमेश्वर, जयन्तीमाता, रामकुण्ड, सूर्य कुण्ड, गया, प्रयाग, अर्जुनेश्वर इत्यादि का बड़ा महत्व है। कहा जाता है कि मन्दिर में दर्शन के बाद इन तीर्थों की परिक्रमा से चार धाम की यात्रा के बराबर महत्व मिल जाता है। अच्छराकुण्ड महिलाओं के स्नान का प्रमुख केन्द्र है। यहां पर मां कुन्ती के आशीर्वाद से महिलाओं को पुत्रधन की प्राप्ती होती है, ऐसी मान्यता है।

अन्य मन्दिर

कांगड़ा के विशाल किले में अम्बिका मन्दिर दर्शनीय है। इसका निर्माण राजा संसार चन्द ने करवाया था। मन्दिर में देवी की प्रतिमा विद्यमान है। इसका निर्माण 18वीं शताब्दी में किया गया था।

कांगड़ा किले के पीछे जयन्तीदेवी का मन्दिर स्थित है। भीतर देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह 19वीं शताब्दी का बना बताया जाता है। कांगड़ा के किले में ही माता शीतला का मन्दिर अवस्थित है। 19वीं शताब्दी में निर्मित इस मन्दिर में शीतला माता की प्रतिमा है।

शिखर शैली में निर्मित 11वीं शताब्दी का इन्द्रेश्वर मन्दिर भी कांगड़ा में ही स्थित है। शिवलिंग इसमें पूजनीय है।

कांगड़ा शहर में एक अन्य मन्दिर कपला भैरों के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणों के अनुसार जब यक्ष प्रजापति ने यज्ञ का आयोजन किया था तो पार्वती ने अपमानित होने के बाद हवनकुण्ड में देह जलाई थी। यह यजना यही हुआ था। सती की कपिला यहां गिर पड़ी थी।

ज्वालामुखी मन्दिर

धर्मशाला से 56 कि०मी० और कांगड़ा से 34 कि०मी० की दूरी पर स्थित ज्वाला जी मन्दिर भूमि से प्राकृतिक प्रज्जवलित ज्योतियों के लिए विश्व विख्यात माना जाता है। ज्वालामुखी बस स्टेशन से एक मार्ग दाईं ओर चला गया है जिसके दोनों ओर विभिन्न वस्तुओं की दूकानें बनी हैं। इन दूकानों के बाहर और भीतर जगह-जगह चमकीले गोटे से बने लाल दुपट्टे लहराते रहते हैं जिन्हें सालू कहा जाता है। एक परम्परा है कि इन दुपट्टों को बतौर भेंट दुर्गामाता को चढ़ाया जाता है और इसके साथ एक नारियल। लाल चुनरियों में लहराता हुआ यह बाजार सचमुच एक विचित्र-सा लगता है। मन्दिर से पूर्व दोनों तरफ ज्वाला माता के लिए प्रसाद रूप में हलुवा बनता रहता है। नारियलों और सिंदूर के ढेर लगे रहते हैं। मन्दिर में प्रवेश के लिए मुख्य दरवाजे तक संगमरमर की सीढ़ियां बनाई गई हैं। इसके उपरान्त ज्वालाजी का मुख्य दरवाजा जिसके ऊपर लगे घण्टों को ध्वनि देकर दर्शक व्यवहारिक रूप से माता को

अपने आने की सूचना देने लगते हैं। भीतर बड़ा प्रांगण है जिसके मध्य में यह मन्दिर निर्मित है। इसके इधर-उधर कई अन्य भवन देवी के पूजनीय धार्मिक कक्ष हैं।

मन्दिर के मध्य भाग में एक कुण्ड है जिससे प्रज्जवलित नीलीज्वाला सदैवनिकलती रहती है। यह प्राकृतिक ज्वाला किसी को भी अचम्भित कर सकती है। इसेही देवी का साक्षात रूप माना गया है और श्रद्धालु इसी कुण्ड में श्रद्धानुसार धन, सोना-चांदी, नारियल और प्रसाद चढ़ाते रहते हैं। कभी-कभार यह ज्योति कुछ क्षणों के लिए लुप्त भी हो जाती है। ऐसा इसलिए हुआ बताया जाता है कि यदि कोई अधर्मी व्यक्ति इधर आ जाए तो देवी रुष्ट हो जाती है। इस कुण्ड के चारों तरफ लोग परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा पथ में दीवारों के साथ-साथ भी कई ज्योतियां इसी तरह जल रही हैं लेकिन ये मध्य में जल रही ज्योति से कम और छोटी हैं। ये ज्योतियां बिलकुल उसी तरह के रंग की हैं जैसे घरों में गैस की लपटें होती हैं। कई बार वैज्ञानिकों ने इन ज्योतियों को लेकर लम्बी बहसें चलाई हैं और मन्दिर के ऊपर पहाड़ियों की जमीन में खुदाई भी की गई है। उनका मानना है कि इन पहाड़ियों में पर्याप्त मात्रा में गैस उपलब्ध है। लेकिन उनका कोई भी तर्क क्यों न रहा हो, केवल इसी मन्दिर के भीतर मध्य और दीवारों में कालान्तर से जलती आ रही इन ज्योतियों की लीला अज्ञात और विचित्र है। यदि हम इस मन्दिर का इतिहास देखें तो इनको शक्ति रूप मानने से कोई भी इन्कार नहीं कर सकेगा।

शिव महा पुराण में इस देवी की उत्पत्ति के सन्दर्भ मौजूद हैं। इसे ज्वाला-मुखी देवी के नाम से अलंकृत किया गया है। एक श्लोक में इस तथ्य का जिक्र इस तरह से है—

> ससीदेह समुत्पन्ना ज्वाला लोक भयावहा,
> पतिता पर्वते तत्रपूजिता सुखदायिनी ॥
> ज्वालामुखी साप्रोक्ता सर्व काम फल प्रदा,
> इंद्रानी पूज्यते लोकैः सर्व काम फला प्रिया ॥

कथा में कहा गया है कि एक बार यक्ष प्रजापति तथा महेश अर्थात् भगवान शिव में किसी बात को लेकर मतभेद हो गया। इसके बाद यक्ष प्रजापति ने समस्त देवताओं के समक्ष एक महा यज्ञ रचा, लेकिन उसमें जानबूझकर अपमानित करने की दृष्टि से महेश को आमन्त्रित नहीं किया गया। दक्ष पुत्री पारवती को जब यह विदित हुआ तो वह शिव के मना करने पर भी न मानी और यज्ञ में चली गई। वहां जब उसका कोई सम्मान नहीं हुआ तो उसे क्रोध आ गया और उसने यज्ञ कुण्ड में अपने शरीर को समाहित कर दिया। यज्ञ में खलबली मच गई। जैसे ही शिव भगवान को पता चला तो उन्होंने यज्ञ को पूर्णतया नष्ट कर दिया और सती के शरीर को कन्धे पर उठाकर विलाप करने लगे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर देवगण चिन्तित हो गए क्योंकि उनके क्रोध से ब्रह्माण्ड कांप गया था। वे तत्काल भगवान बिष्णु के पास गए

और महेश के इस क्रोध को शान्त करने का निवेदन किया। इस पर विष्णु ने सती के शरीर पर बाणों की बौछार कर दी जिससे उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गए। जहां-जहां भी सती के शरीर का जो अंग गिरा वहीं शक्ति पीठों की विभिन्न नामों से उत्पत्ति हो गई और जहां ज्वालामुखी मन्दिर बना है वहां सती की जिह्वा गिरी थी। इसलिए इसका नाम ज्वाला पड़ा बताया जाता है।

ज्वाला के रूप में जब देवी यहां प्रकट हुई तो उसके बाद ही मन्दिर निर्माण करवाया गया। लेकिन यह कहना आसान नहीं है कि यह घटना कितने सालों पूर्व हुई और प्रारम्भ में यहां मन्दिर कब बनाया गया। एक धारणा यह भी रही है कि इस मन्दिर का निर्माण पाण्डवों ने किया था। इस बात का प्रतीक यहां का एक प्रसिद्ध लोक गीत भी हो सकता है। जिसके बोल हैं :

"पंजा पंजा पांडवा मैया तेरा भवन बणाया—
अर्जुन चौर झुलाया।'

वैसे भी यह भवन प्राचीन वास्तुशिल्प का अजीबो-गरीब उदाहरण है। मन्दिर निर्माण में तराशी हुई विशाल शिलाएं प्रयुक्त हुई हैं जो साधारण व्यक्ति का कार्य कदापि नहीं हो सकता। यही कारण बताया जाता है कि सन् 1905 में जिस भीषण भूकम्प ने कांगड़ा के कई विशाल भवन, किले और मन्दिर गिरा दिए थे, वह इस मन्दिर का बाल बांका भी न कर पाया। समय-समय पर देवी के अनेक भक्तों ने मन्दिर के निर्माण में योगदान दिया। इनमें कांगड़ा के शासक प्रमुख थे। लेकिन ऐसा माना जाता है कि मन्दिर निर्माण का कार्य पहली बार कटोच वंश में हुआ था राजा हरिचन्द ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई। 1815 में महाराजा रणजीतसिंह ने ज्वालामुखी मन्दिर के ऊपर सोने की झोल करवाई। इससे मन्दिर का आकर्षण और भी बढ़ गया जो आज भी अवलोकनीय है। इसी पवित्र स्थान पर राजा ने राजा संसार चन्द से एक सन्धि की थी जिसके अन्तर्गत कांगड़ा के क्षेत्र को गोरखों के चंगुल से मुक्त करने की प्रतिज्ञा हुई थी और इन दोनों राजाओं ने थोड़े ही समय में यह कार्य भी पूर्ण कर लिया। राजा रणजीत सिंह देवी का अनन्य भक्त था और जब भी कभी किसी युद्ध या यात्रा पर वह निकलता तो मन्दिर में अवश्य ही माता के आशीर्वाद हेतु आया करता। रणजीतसिंह के पौत्र नौनिहालसिंह ने माता के मन्दिर में चांदी का बड़ा दरवाजा लगवाया और इस पर चांदी के पत्रों को मढ़ाया जो आज भी उसी तरह मौजूद हैं। इस दरवाजे पर लगे चांदी के पत्रों पर जो नक्काशी और कला-कृतियां हैं वह तत्कालीन कला का संजीव उदाहरण है।

सम्राट् अकबर ने जब इस मन्दिर में प्रज्जवलित लटाओं को पहली बार देखा तो उसने इस पर संदेह किया। इसलिए राजा ने इन ज्वालाओं को बुझाने हेतु पहले इनमें पानी भरवा दिया और तत्पश्चात् इन कुण्डों को ऊपर से बड़े-बड़े लोहे के तवों से ढक दिया। लेकिन उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब ये ज्वालाएं इन सभी

बन्धनों से मुक्त होकर ऊपर निकल कर पूर्ववत भभकने लग पड़ी। सम्राट् को माता की शक्ति के आगे नत मस्तक होना पड़ा और वह नंगे पांव अपने महल से सेनाओं के साथ यहां सवा मन सोने का छतर चढ़ाने ले आया। लेकिन जैसे ही मन्दिर में वह छतर लाया और माता को गर्व से चढ़ाने लगा उसी समय यह लोहे में परिवर्तित हो गया। इसे अभी भी मन्दिर परिसर में देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में यहां एक गीत भी गाया जाता है :

नंगे नंगे पैरी माता अकबर आया
सोने दा छतर चढ़ाया

इसके बाद अकबर माता की शक्ति देखकर उसका भक्त बन गया। आज वैज्ञानिकों के लिए वह छतर एक रहस्य से कम नहीं क्योंकि यह बताया कठिन है कि इस छतर की धातु कौन-सी है।

मन्दिर में इन ज्योतियों के नामकरण किए गए हैं। जैसे महाकाली, महालक्ष्मी, अम्बिका, अंजना, सरस्वती, चण्डिका, अन्नपूर्णा आदि। इसे लाटा वाली माता के नाम से भी पूजा जाता है। इसे अग्नि पूजा का प्रधान केन्द्र माना जाता है। इस मन्दिर के साथ गोरख डिबिया, शिव भगवान, राधेश्याम, भगवान शंकर, बिल्लकेश्वर, अम्बिकेश्वर, गायत्रीदेवी, तारा तथा गणेश के मन्दिर भी निर्मित हैं। यहीं पर एक अन्य मन्दिर है जो टेढ़ा हो गया है। इसे गुलेर नरेश के शासनकाल में निर्मित माना जाता है। इसकी शैली पर रोमन प्रभाव स्पष्ट है। पत्थरों को काटकर इसके साथ चांद और सूर्य बनाए गए हैं। नीचे की ओर तीन गुफाएं हैं जिनमें तीन ही पत्थर की मूर्तियां हैं। इसी स्थान पर श्रीराम और जटायू की प्रतिमाएं भी हैं। साथ नाग शैया पर विष्णु विराजमान हैं। लक्ष्मी को उनके पांव दबाते दर्शाया गया है। कमल पर ब्रह्मा जी हैं। पांव के नीचे एक राक्षस दिखाया गया है। हनुमान जी की प्रतिमा पर्वत उठाते हुए बनाई गई है।

मन्दिर के सामने आरती कक्ष है। प्रतिदिन सांय आरती का विशेष रूप से आयोजन किया जाता है। इसमें मां की सेज विधिपूर्वक सजाई जाती है। भण्डार में जितने भी सुन्दर गहने, कपड़े, सोना-चादी होता है उसे इस पर सजाया जाता है। सिरहाने के साथ भांग और जल रखा जाता है। पुजारियों का कहना है कि माता रात्री को इस पर विश्राम करने अवश्य आती है। सुबह स्वत: ही बिस्तर अस्त-व्यस्त और जल का लोटा आधा होता है। नवरात्रों में श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ पड़ती है।

मन्दिर के साथ-साथ स्नानकुण्ड भी विद्यमान है जिनमें स्नान करके श्रद्धालु माता के दर्शनार्थ जाते हैं।

मन्दिर का भवन आधुनिक है। यह मण्डप शैली में बनाया गया है लेकिन इसका महत्व प्राचीन प्रमुख शक्ति पीठ के रूप में अधिक माना जाता है। इसे इक्कावन महा शक्ति पीठों में एक माना गया है।

श्रद्धालुओं के रहने हेतु सम्बन्धित कुल पुरोहितों ने धर्मशालाएं बनाई हैं। कोई भी यात्री अपने क्षेत्र और कुल का परिचय देकर अपने पुरोहित के पास जा सकता है। इन पुरोहितों ने मन्दिर के साथ अपने-अपने लोग भी रखे होते हैं जो सराय तक पहुंचाने का प्रबन्ध करते हैं। देवी मन्दिर में पूजा इत्यादि विधिपूर्वक कुल पुरोहित ही करवाता है। ग्रामीण लोग विशेषकर ऐसा करते हैं। दूर-दराज से आए पर्यटक और अन्य यात्री स्वयं ही पूजा इत्यादि करते हैं।

मन्दिर परिसर में जगह-जगह पण्डितों द्वारा दक्षिणा के लिए मजबूर करवाना किसी भी पर्यटक और श्रद्धालु की एकाग्रता और शान्ति को भंग कर सकता है। हर कदम पर दान मांगना मन्दिर की गरिमा को नष्ट कर रहा है। कई साधू और पाखण्डी पंडित तो अनजान व्यक्ति को अच्छा खासा चूना लगा देते हैं। यह परेशानी मन को अखरती है। इस स्थान पर केवल पुजारियों के अतिरिक्त अन्य सभीपर पाबन्दी लगनीचाहिए ताकि मन्दिर की पवित्रता और शान्ति बनी रहे।

यह स्थान नियमित बस सेवा से जुड़ा है। यातायात के लिए जिसके पास अपनी वाहनें नहीं हैं वह परिवहन निगम की बसों में आ-जा सकते हैं। सरायों के अतिरिक्त यहां आवास के लिए हिमाचल पर्यटन विकास निगम का होटल ज्वालाजी उपलब्ध है।

चामुण्डा देवी मन्दिर

धौलाधार पर्वत श्रृंखलाओं से बहती बाण गंगा के दाईं छोर पर मण्डी-पठानकोट राष्ट्रीय राजमार्ग पर बसे नगरोटा बगवां से लगभग साढ़े पांच कि० मी० धर्मशाला से 15 कि०मी० पालमपुर से 25 कि०मी० और पठानकोट से 105 कि०मी० दूर स्थित चामुण्डा मन्दिर को कांगड़ा के प्रमुख शक्ति पीठों में से एक माना जाता है। यह धार्मिक स्थल कालान्तर से श्रद्धालुओं की अपार श्रद्धा का केन्द्र रहा है। यह मन्दिर मूलतः देवी दुर्गा और भगवान शिव से सम्बन्धित है। इसी कारण इसे चामुण्डा नंदिकेश्वर से भी अलंकृत किया जाता है। मन्दिर परिसर में मुख्य द्वार से भीतर जाते ही सर्वप्रथम देवी चामुण्डा का मन्दिर निर्मित है। मन्दिर के गर्भगृह में देवी की अष्टभुजी प्रतिमा कला और सौन्दर्य की दृष्टि से अद्वितीय मानी जाती है। परिक्रमा पथ में एक शिला विद्यमान है जिस पर देवी के चरण एवं शिवलिंग चिह्नित हैं। यह शिला अति प्राचीन मानी जाती है। लोक मान्यता है कि देवी ने अपने एक भक्त को रात्री स्वप्न में बाणगंगा के किनारे पड़ी इस शिला का आभास करवाया था। भक्त ने सुबह उठते ही शिला की खोज शुरू कर दी और बहुत प्रयास के बाद उसे यह शिला प्राप्त हो गई। उसने इसे उठाकर इस स्थान पर रख दिया। इस चमत्कार ने लोगों की श्रद्धा को अत्यधिक बल दिया और इस स्थान की समृद्धि और प्रसिद्धि निरन्तर बढ़ने लगी।

इस देवी के नामकरण की घटना इस तरह से बताई जाती है। प्राचीन काल में चामुंडा नामक एक राक्षस ने देवताओं पर घोर अत्याचार शुरू कर दिया था। देवताओं ने हिमालय पर एकत्रित होकर ब्रह्मा से प्रार्थना की। उनकी इस स्तुति से

शक्ति पैदा हुई। इस शक्ति ने चामुंडा का वध करके देवताओं को मुक्त करवाया था और इस राक्षस के वध के बाद इस शक्ति को चामुण्डा नाम से पुकारा जाने लगा।

लोग देवी का मूल स्थान चन्द्रधार पर निर्मित एक लघु मन्दिर में मानते हैं। यहां सदियों पुराना एक मन्दिर आज भी दर्शनीय है। चामुण्डा मन्दिर से यहां तक का रास्ता लगभग 16 कि० मी० का है। यहां भी लोगों की नवरात्रों में भीड़ लगी रहती है। आवास के लिए यहां एक सराय भी उपलब्ध है। चामुण्डा देवी मन्दिर से कुछ नीचे भगवान शिव का मन्दिर स्थित है। यहां एक शिला है जिसके नीचे लिंग स्थापित है।

लगभग 22 गांवों की इस मन्दिर के साथ नदी के किनारे शमशान भूमि है। कालान्तर से ही यहां प्रतिदिन एक शव दाह संस्कार हेतु आता है और यदि जिस दिन यहां कोई शव नहीं आए उस दिन शमशान भूमि में खड़ नामक घास जलानी पड़ती है। यह परम्परा आज तक टूटी नहीं है। लगभग 70 सालों से इस मन्दिर का प्रबन्ध एक समिति देख रही है। इसने मन्दिर का कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से चलाया है। मन्दिर के साथ बहुत बड़ी सराय है। पर्यटन निगम की एक पर्यटक सराए भी लोगों व यात्रियों के लिए खोली गई है। इसी समिति के माध्यम् से यहां एक सांस्कृतिक विद्यालय का संचालन भी किया जा रहा है। यहां विद्यार्थियों को मुफ्त शिक्षा और आवासीय सुविधाएं उपलब्ध करवाई जाती हैं। मन्दिर में एक वृहद् पुस्तकालय भी उपलब्ध है जिसमें असंख्य धार्मिक पुस्तकें मौजूद हैं।

बाण गंगा के किनारे निर्मित सुन्दर घाटों में महिलाओं द्वारा धार्मिक दृष्टि से स्नान करने की परम्परा है। इसके साथ ही एक अति सुन्दर जलाशय निर्मित किया गया है जिसके मध्य शिव-पारवती और कुछ अन्य प्रतिमाएं स्थापित हैं। नदी के दूसरे छोर पर बाबा घासीराम जी की स्थली विद्यमान है जहां उन्होंने घोर तपस्या की थी। कुल मिलाकर यह स्थान जहां एक प्रमुख एवं प्रधान शक्ति पूजा स्थल है वहां एक शान्त और मनोहारी स्थल भी हैं। यहाँ मन को एक अजीब शान्ति मिलती है। चारों ओर की अनुपम दृष्यवलि किसी को भी यहां कुछ पल रहने के लिए विवश कर देती है। यहां जो भी यात्री आते हैं वे यहां के भैरव मन्दिर में जाना नहीं भूलते हैं। यह मन्दिर यहां से कुछ ही दूर है। नवरात्रों में यहां हजारों लोग पूजा के लिए आते हैं और मनौतियां चढ़ाते हैं।

बैजनाथ मन्दिर

बैजनाथ मण्डी-पठानकोट सड़क पर एक छोटा-सा पहाड़ी कस्बा है। यह स्थान धर्मशाला से 56 कि०मी०, पालमपुर से 16 कि०मी० और पठानकोट से 132 कि०मी० की दूरी पर समुद्रतल से 1250 मीटर की ऊंचाई पर बसा अत्यन्त सुन्दर है। इसी के मध्य स्थित है वह शैव धर्म का प्राचीन केन्द्र, जिसमें बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक की स्थापना हुई है। मन्दिर के भीतर और बाहर जो शारदा लिपि अंकित है उसके अनुसार इस मन्दिर का निर्माण विक्रमी सम्वत् 8 में हुआ था लेकिन इसमें लिंग की स्थापना

बहुत पहले हो चुकी थी। इस मन्दिर से प्राप्त दो अभिलेखों से इसके निर्माण और इसकी समृद्धि हेतु दिए गए अनुदान का ब्यौरा मिलता है।

प्रथम के अनुसार कीरग्राम के दो व्यापारी भाईयों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने नवीं सदी के आरम्भ में यहां एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था। यहां बैद्यनाथ के नाम से बहुत पहले से ही शिवलिंग स्थापित था जिसकी पूजा लोग खुले में ही किया करते थे। इन दोनों का नाम मयुक और आहुक था। मन्दिर निर्माण हेतु इन्होंने दो शिल्पियों को नियुक्त किया जिसमें से एक कांगड़ा का निवासी था। बैजनाथ का प्राचीन नाम कीर ग्राम रहा है। इनके अतिरिक्त उस समय के कई अन्य धनी लोगों ने धन और खेत मन्दिर को दान दिए थे।

इन व्यापारी भाईयों से सम्बन्धित एक रोचक किवदन्ती भी प्रचलित है। कहा जाता है कि उस समय यहां किरात लोगों का बोलबाला था और यहां कहीं से दो व्यापारी भाई लोहे का व्यापार करते हुए पहुंच गए। उन्हें यह स्थान प्रिय लगा और यहीं पर वह अपना व्यापार करने लग पड़े। लेकिन किरातों ने उनका यहां आना अच्छा न समझा और उनको जान से मारने की धमकी दे दी। इसलिए दोनों ने यहां पर स्थित इस शिवलिंग की उपासना शुरू कर दी और भगवान शिव की अपार कृपा से उनका व्यापार भी चला और किरातों से आपसी मेलजोल भी बढ़ता गया। एक दिन दो साधु रात्री विश्राम के लिए उनकी कुटिया में चले आए। दोनों भाईयों ने उनकी सेवा की। सुबह जब दोनों साधु जाने लगे तो उन्होंने एक थैली अमानत के रूप में उनके पास रख दी। वर्षाकाल था और कुटिया में जब पानी टपकता तो उस थैली पर भी गिर जाता। थैली जब पूरी भीग गई तो उसमें से भी पानी टपकने लग गया। जहां उससे पानी की बूंद गिरी वहीं लोहे का टुकड़ा सोना बनता गया। इस पर दोनों आश्चर्य चकित हो गए।

बहुत दिनों बाद जब साधु वापिस लौटे तो इस चमत्कार का विवरण उन्हें सुनाया गया। उस सोने को उन दोनों ने सुरक्षित रखा था और अमानत रूप में रखे इसे जब वह साधुओं को देने लगे तो उन्होंने उनसे आग्रह किया कि वे अपने साथ सोना ले जा कर क्या करेंगे। उनकी इच्छा है कि इसका कुछ भाग मन्दिर निर्माण में लगा दिया जाए। इस पर दोनों साधु चले गए। दोनों व्यापारी भाईयों ने इस सोने से मन्दिर का निर्माण कार्य शुरू करवा दिया और इस तरह एक भव्य मन्दिर बन गया।

इसके बाद इस मन्दिर की महिमा दूर-दूर तक फैलती गई और मन्दिर में विस्तार होते रहे। आज यह मन्दिर वास्तुकला का शिखराकार शैली में निर्मित एक अनूठा उदाहरण है। इसके चारों ओर 36.58 मीटर लम्बी और 22 मीटर के करीब विस्तृत दीवार बनी है। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि इस मन्दिर को सात बार बनाया गया लेकिन सम्राट संसार चन्द ने इस का अच्छी तरह नवीनीकरण करवाया था।

मन्दिर के भीतर जो शिव लिंग स्थापित है उसे बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक

माना गया है। इसमें शिव और शक्ति दोनों का सामंजस्य है। बाहर और भीतर दीवारों पर विभिन्न देवी-देवताओं के चित्र बनाए गए हैं जो उत्कृष्ट कला के नमूनें हैं। इनमें काली की चित्रित प्रतिमा अवलोकनीय है। काली भगवान शिव के ऊपर खड़ी दर्शायी गई है और संकोच रूप में देवी ने अपनी एक उंगली दांतों तले दबाई है। मन्दिर के बाहर दरवाजे के समक्ष नन्दी की प्रतिमा स्थापित है। यह पत्थर से निर्मित है। गर्भगृह तक चार कक्ष हैं। पहले कक्ष के दरवाजे पर मोक्ष, दूसरे पर अर्थ, तीसरे पर काम और चौथे कक्ष के दरवाजे पर धर्म से सम्बन्धित चित्रकारी प्रदर्शित की गई है। इन्हीं में शिव-पार्वती, और अन्य कई देवी-देवताओं के चित्र कई मुद्राओं में तराशे गए हैं। बाहरी भाग में गणेश की षष्ठभुजी प्रतिमा अवलोकनीय है। बाहर ही दो स्तम्भों पर नवग्रह के चित्र ध्यातव्य हैं। स्वामी कार्तिकेय, शिव विवाह के चित्र भी आकर्षित कर लेते हैं।

मन्दिर के चार दरवाजे हैं जिनके ऊपर चार द्वारपाल विराजमान हैं। 1905 के भूकम्प में इसे भी भारी क्षति हुई लेकिन शीघ्र ही इसका पुनः जिर्णोद्धार हुआ और मन्दिर अपनी पूर्व अवस्था में आ गया। अपनी अद्वितीय शिल्पकला के कारण अब यह मन्दिर पुरातात्विक विभाग के संरक्षण में है।

मन्दिर में स्थापित शिव लिंग के बारे में एक धार्मिक कथा कही जाती है। लंका के राजा रावण ने कैलाश पर्वत पर भगवान शिव की कई सौ बरसों तक उपासना की जिसके कारण भगवान शिव उससे बहुत प्रसन्न हुए। रावण ने अपने दस सर भी उन्हें भेंट कर दिए। शिव भगवान ने जब रावण को दर्शन दिए तो वरदान मांगने को कहा। इस पर उन्होंने शिव से लंका में साथ चलने का आग्रह किया। भगवान शिव ने आग्रह स्वीकार तो कर लिया लेकिन लिंग रूप में और साथ एक शर्त रखी कि रावण रास्ते में कहीं भी इस लिंग को लंका तक धरती पर नहीं छोड़ेगा। उसने यह बात मान ली और शिव को लिंग रूप में उठा कर अपने देश चला आया। प्राचीन त्रिगर्त के कीरग्राम अर्थात् वर्तमान बैजनाथ में जब वह पहुंचा तो उसे तेज शौच लगा। तभी एक वृद्ध सामने से आता दिखाई दिया। उसने वह लिंग कुछ देर के लिए उसके पास थमा दिया। लेकिन जितने में वह वापिस आया उसे वह धरती पर पड़ा मिला। वह वृद्ध वहां से कहीं चला गया था। इस पर उसको गुस्सा तो बहुत आया लेकिन निरर्थक था। शिव लिंग को पुनः उठाने का प्रयास किया तो जैसे वह धरती में गड़ गया हो। मजबूरन रावण को वहीं उसकी स्थापना करनी पड़ी। बताया जाता है कि उसने यहां बैठकर कई बरसों तपस्या की और तभी से यह लिंग यहां स्थापित माना जाता है।

शिव लिंग के यहां प्रकट होने सम्बन्धी एक अन्य कथा में कहा जाता है कि यहां पहले बहुत ही उपजाऊ जमीन हुआ करती थी। एक दिन जब एक किसान हल जोत रहा था तो उसके फाले से कोई भारी वस्तु टकरा गई। उसने खोद कर जब देखा तो एक विशाल लिंग वहां मौजूद था। उसने यह बात अन्य लोगों को जब बताई तो सभी एकत्रित हो गए और भगवान शिव का चमत्कार मानकर आसपास की जगह को साफ

सुथरा बना दिया और उसकी पूजा करने लग गए। उस किसान ने अपना पूरा खेत भगवान के नाम दान दे दिया। इसकी महिमा दूर-दूर तक फैली और हजारों लोग यहां आकर शिव की उपासना करने लग पड़े। इसी समय यहां एक छोटा सा मन्दिर भी बना दिया गया। बताया जाता है कि अपने बनवास काल में जब पांडव यहां आए तो उन्होंने भी इसके निर्माण में मदद की।

इस तरह मन्दिर का निर्माण काल 804 ए०डी० माना जाता है। बैंजनाथ प्राचीनकाल में कीरग्राम के नाम से विख्यात था। यह व्यास की सहायक नदी बिनुवन के बाईं छोर पर स्थित है। यहां अन्य कई मन्दिरों के आज भी खण्डहर मौजूद हैं। यहां कटोच राजवंशी राजा प्राचीन काल से निवास करते थे। यह गांव समृद्ध व्यापारियों और विद्वानों का केन्द्र भी था।

इस तरह यह केन्द्र कालान्तर से शैव प्रधान रहा है। आज भी इसकी महत्ता दूर-दूर तक है और मन्दिर के कारण एक प्रसिद्ध तीर्थ और प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण भ्रमणीय स्थल है। श्रावण मास में सोमवार के दिन मन्दिर में शिवलिंग के दर्शन विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं इसलिए इस महीने में यहां श्रद्धालुओं की भीड़ लगी रहती है। यहां का शिवरात्री पर्व भी धूमधाम से मनाया जाता है।

मसरूर मन्दिर

कांगड़ा घाटी के हरिपुर कस्बे से लगभग 3 किमी० की दूरी पर और समुद्रतल से 2500 फुट अर्थात 763 मीटर की ऊंचाई पर एक रेतीली पहाड़ी पर स्थित है। गग्गल हवाई पट्टी से यहां तक की दूरी 20 किमी० है। इस स्थल के उत्तर-पूर्व की ओर धौलाधार की सुन्दर पर्वत मालाएं अवलोकित होती हैं और पश्चिम की ओर व्यास घाटी की मनोरम दृश्यावली। इसे "रोक कट टैम्पल" के नाम से जाना जाता है अर्थात पत्थर से काट कर बनाया गया एक कला का अभूतपूर्व स्तम्भ जो लम्बाई में 160 फुट के करीब और चौड़ाई में 105 फुट है। इस तरह का विशाल पत्थर को तराश कर निर्मित मन्दिर शायद ही भारत में कहीं हो। वास्तुकला का अद्भुत अविस्मरणीय पत्थर का यह स्तम्भ सपाट छत और शिखर शैली में बनाया गया है।

मसरूर का यह मन्दिर कुरद्वारा के नाम से पूजनीय है। वास्तव में यह भगवान श्रीराम को समर्पित है और वैष्णव धर्म का द्योतक है। मुख्य मन्दिर के भीतर भगवान राम, लक्ष्मण और सीता की प्रतिमाएं स्थापित हैं जो पत्थर को नक्काश कर बनाई गई हैं। मूलतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह भगवान शिव को समर्पित था लेकिन समय के उतार-चढ़ाव के साथ बाद में यहां वैष्णव धर्म का प्रादुर्भाव होने से इसे विष्णु भगवान को समर्पित कर दिया गया।

क्योंकि प्राचीन काल में यह आम लोगों, यात्रियों और श्रद्धालुओं की पहुंच से बाहर रहा, इसलिए ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं होते कि यहां बहुत लोग भ्रमण और दर्शनार्थ गए हों जैसा कि कांगड़ा के अन्य मन्दिरों में लोगों की अपार भीड़ से प्रमाणित

है। हां जो यात्री कला प्रेमी हो या फिर यहां की वास्तुकला की परख रखते हों उन्होंने बराबर यहां आकर इसकी उत्कृष्ट कला को सूक्ष्मता से परखा-देखा है। पुरातात्विक विभाग के संरक्षण में यह प्राचीन कला और इतिहास का मूक साक्षी है। इसके बाहर भीतर जिस तनह की मूर्तियां पत्थर पर तराशी गई हैं वह महाबलिपुरम में छठी और इलोरा के मन्दिरों में दसवीं शताब्दी की याद दिला देती हैं। बहुत कुछ इन प्राचीन मन्दिरों की कला से मिलता-जुलता है।

इस मन्दिर के मूल मन्दिर के साथ कुल पन्द्रह के करीब छोटे-बड़े शिखराकार मन्दिर हैं। इनमें कुछ मन्दिरों के भाग टूट चुके हैं। कांगड़ा में 1905 को आए भूकम्प के कारण भी इन मन्दिरों को काफी क्षति पहुंची थी।

मन्दिर के सन्दर्भ में कोई प्रमाणिक ऐसा दस्तावेज उपलब्ध नहीं है जिससे इसके निर्माण काल का सही अनुमान लगाया जा सके। यह बताया जाता है कि इसका निर्माण पांडवों द्वारा ही किया गया था। आश्चर्य है कि यहां प्राचीन काल में कोई यात्री भी नहीं पहुंचा जिसने इस मन्दिर का उल्लेख किया हो। कहा जाता है कि केवल सन् 1913 में पुरातात्विक विभाग के श्री हरग्रीव्ज ने इसकी वास्तुकला का गहराई से निरीक्षण किया था।

इस मन्दिर के बारे में कुछ किवदन्तियां भी लोगों में प्रचलित हैं। एक में कहा जाता है कि एक दिन इसी गांव में एक महिला रोटियां बना रही थी। क्योंकि उसका पति सुबह दूर नौकरी पर जाता था इसलिए वह रात्री में ही रोटियां बना लिया करती। लेकिन उस दिन उसके न वह रोटियां पूरी हुईं और न ही सुबह का उसे आभास हुआ। इस पर उसके मन में तरह-तरह के विचार आने लगे। उसके बाद जब सारा आटा खत्म हो गया तो उसने गुस्से में अपना बर्तन दूसरी तरफ पटक दिया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब रोटियां उछल कर छत में फंस गई। वह डर कर चीखने लगी तो उसका पति दौड़ कर रसोई में आया लेकिन तब तक वह महिला पत्थर की शिला बन गई थी। दूसरे दिन जब वहां देखा तो एक पत्थर का अधूरा मन्दिर निर्मित था। लोग कहते हैं कि यह मन्दिर पहले से ही बीच-बीच में टूटा-फूटा है।

लेकिन यह मनघड़ंत कथा ही लगती है। जिस तरह से हिमाचल में कई स्थानों पर पांडवों के समय के कई मन्दिरों का उल्लेख मिलता है, यह मन्दिर भी उसी काल का हो सकता है। किसी शिल्पकार ने यहां एक विशाल चट्टान को देखकर इसका निर्माण किया हो। आज यहां उस तरह की भीड़ देखने को नहीं मिलती है जिस तरह अन्य कांगड़ा के शक्तिपीठों में है और न ही लोगों द्वारा यहां विशेष रूप से कोई चढ़ावा ही अर्पित किया जाता है। यहां कभी आते हैं तो केवल अनुसन्धित्सु, कला प्रेमी और लेखक वर्ग जो इसके महत्व और शिल्प को अपने कागजों में जिन्दा रखे हुए हैं।

महाकाल मन्दिर

बैजनाथ से लगभग सात किलोमीटर की दूरी पर महाकाल गांव स्थित है। यहीं

पर प्राचीन महाकाल मन्दिर निर्मित किया गया है । इस गांव को इसी मन्दिर के नाम से महाकाल कहा जाता है । मन्दिर परिसर में प्रवेश करने से पूर्व पौराणिक नदी 'माला' को पार करना होता है जिसे अब मल्हूण नदी कहा जाता है । मन्दिर का दरवाजा लघु है । गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है । त्रिकोण तिपाई पर ताम्बे का बर्तन है जिससे निरन्तर लिंग पर जल की बूंदें गिरती रहती हैं । कलश तक ताम्बे का नाग फन फैलाए है । यह बताया जाता है कि सम्पूर्ण भारत में केवल दो ही महाकाल के मन्दिर हैं जिनमें एक उज्जैन में तथा दूसरा महाकाल में । मन्दिर के सन्दर्भ में कई पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं ।

कहा जाता है कि एक शक्तिशाली दैत्य ने भगवान शिव की घोर तपस्या करके उनसे यह वरदान प्राप्त किया था कि उसे कोई भी मार नहीं सकेगा । इसलिए उस दैत्य ने पृथ्वी पर दैत्यों की एक राजधानी स्थापित करने का संकल्प कर लिया । इस पर देवतागण परेशान हो गए और उन्होंने भगवान शिव के पास जाकर अपनी रक्षा के लिए विनती की । इस पर भगवान शिव ने महाकाल का विराट रूप धारण करके उस राक्षस का वध कर दिया । बताया जाता है कि शिव भगवान ने जब उस दैत्य के शरीर के टुकड़े किए तो वे इस स्थान पर एकत्रित किए गए । इसलिए इसी स्थान पर भगवान ने 'महाकाल' मन्दिर की स्थापना की । मन्दिर में स्थापित लिंग कालान्तर से है और जिसके पीछे सती की प्रतिमा है, राजा यक्ष की पुत्री के रूप में यह प्रतिमा पूजी जाती है ।

ऐसा भी कहा जाता है कि ऋषि भृगु ने तीन कल्प भगवान के दर्शन करने की लालसा से यहां तपस्या की थी । भगवान ने भृगु को प्रसन्न होकर अर्धनारीश्वर के रूप में दर्शन दे दिए लेकिन भृगु ने भगवान से प्रार्थना की कि वह केवल उन्हीं के वास्तविक रूप में दर्शन करना चाहते हैं । ऋषि भृगु को शिव भगवान ने यह भी कहा कि यह उन्हीं का रूप है लेकिन इस पर भी उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया और केवल शिव रूप देखने के लिए पुनः तपस्या में बैठ गए ।

एक कथा पाण्डवों से भी जोड़ी जाती है । बताया जाता है कि महाभारत युद्ध में रामपुर बुशहर का एक राजा पाण्डवों की ओर से लड़ा था और अपना जीवन उनके चरणों में अर्पित कर दिया । युद्ध में उस राजा की मृत्यु हो गई जिससे उसका सर महाकाल में जाकर गिरा था । इसका प्रतीक मन्दिर की दीवार में एक पत्थर का सर विद्यमान है । इस राजा की रानी यहीं पर सती हो गई थी ।

महाकाल मन्दिर के साथ पानी के नौ कुण्ड हैं जिनमें प्रत्येक का अलग महत्व माना जाता है । मन्दिर के बाईं ओर के कुण्ड को शिव कुण्ड कहा जाता है । इसी कुण्ड का जल महाकाल मन्दिर में स्थित शिव लिंग पर गिरता है । इसके साथ दूसरा सती कुण्ड है । पहले जब कोई औरत सती होती थी तो वह इसमें स्नान किया करती थी । मन्दिर के दाहिने अहाते में दो अन्य कुण्ड ब्रह्मा और विष्णु कुण्ड के नाम से प्रख्यात हैं । पश्चिम की तरफ कुतबा कुण्ड है । यह मान्यता है कि यदि पागल कुत्ता किसी मनुष्य

को काट देता है और वह इस कुण्ड में स्नान कर लें तो वह ठीक हो जाता है। इसके साथ दो अन्य कुण्ड लक्ष्मी और सूर्या कुण्ड से जाने जाते हैं। यहां से एक किलोमीटर दूर कुन्ती स्थल है। कहा जाता है कि पाण्डवों वनवासकाल में कुन्ती यहां कुछ दिनों के लिए अपने पुत्रों सहित रुकी थी।

मन्दिर के साथ दुर्गा भगवती का भी एक मन्दिर है। इसमें संगमरमर की प्रतिमा है। भैरव की विशाल मूर्ति भी स्थापित की गई है। तन्त्र सिद्धी के लिए इसका नाम उज्जैन के बाद आता है।

जखणी देवी मन्दिर

जिला कांगड़ा के अति रमणीक एवं प्रमुख शहर पालमपुर से 5 किलोमीटर की दूरी पर चांदपुर गांव बसा है। इसी गांव से ऊपर एक पहाड़ी पर माता जखणी का प्राचीन मन्दिर दर्शनीय है। यहां से मन्दिर तक पहुंचने के लिए खड़ी चढ़ाई लगती है। यात्री जब यहां पहुंचते हैं तो चारों ओर का विहंगम दृश्य मन को मोह लेता है। दूर-दूर तक फैली हरी-भरी घाटियां अति रमणीक लगती हैं।

बताया जाता है कि माता जखणी की प्रतिमा लगभग 450 वर्ष पूर्व यहां स्थापित की गई थी। उस समय यहां केवल एक छोटा-सा मन्दिर ही होता था। माता के यहां आने की कथा इस प्रकार कही जाती है। बताया जाता है कि कभी भरमौर से गद्दी जाति का एक परिवार यहां आकर बसने लग गया। इस परिवार की यह देवी कुल देवी थी। इसी परिवार ने इस देवी को भरमौर से यहां लाकर बसाया था। लोगों की यह भी धारणा है कि देवी एक टांग से हीन है। इसका प्रमाण देवी मां का गूर है। जब उसमें देवी का प्रवेश होता है तो वह एक टांग से मन्दिर की परिक्रमा करता है। लंगड़े होने सम्बन्धी घटना के विषय में लोगों का कहना है कि एक बार भरमौर में सूखा पड़ गया। सभी पानी के चश्में भी सूख गए। लोगों ने इस देवी के पास फरियाद की। देवी ने कुल देवी होने के नाते उनकी फरियाद को स्वीकार लिया। इस पर देवी पानी की तलाश में निकल पड़ी। बहुत दूर एक अन्य देवता के चश्में से देवी ने पानी चुरा लिया और वापिस आने लगी। तभी उस देवता ने देवी को देख लिया और उस पर अपने तीर से वार कर दिया। यह तीर देवी के हाथ में उठाए पानी के बर्तन में लगा जिसमें उसमें छेद हो गया। पानी की धार बहती गई लेकिन देवी नहीं रुकी। दूसरा तीर देवी की टांग में लग गया और लंगड़ाती हुई देवी अपने गांव वापिस पहुंच गई जिससे लोगों को पानी मिल गया। दूसरे दिन जब लोगों ने देखा तो भरमौर में एक पानी का नाला बह रहा था। जहां-जहां भी उस बर्तन से पानी गिरता गया वहां-वहां पानी की धार बनती गई जिसने बाद में एक नाले का रूप ले लिया।

'जखणी' नाम 'जख्मी' से पड़ा प्रतीत होता है। हो सकता है कि माता के लंगड़े होने पर लोगों ने इसे जख्मी माता पुकारना शुरू कर दिया हो जो बाद में जखणी बन गया। वैसे गद्दी बोली में 'जख' शब्द देवता के लिए भी प्रयोग किया जाता है।

इसलिए जख से जरूणी शब्द की उत्पत्ति भी स्वाभाविक सी लगती है। शायद देवी के लिए लोगों ने इस 'जख' शब्द से 'जरूणी' स्त्रीलिंग के रूप में लिया हो।

माता का यहां जो छोटा मन्दिर है उसको विस्तार एक गद्दी ने बहुत समय पूर्व दिया था। लोग कहते हैं कि जब यह गद्दी सर्दियों के बाद अपनी भेड़ बकरियों को लेकर वापिस लौट रहा था तो रास्ते में किसी बीमारी से उसकी कई बकरियां मर गई। चलते-चलते उसने इस देवी की मनौती की और कहा कि यदि यह रोग समाप्त हो जाए तो वह माता के मन्दिर का निर्माण करेगा। इस पर माता ने उसकी पुकार सुन ली और रोग खत्म हो गया। यह गद्दी इलाके में काफी धनवान भी था। उसने गांव लौटकर माता के मन्दिर का विस्तार किया। लोगों की इस माता के प्रति गहन आस्था है।

बाबा बालक रूपी मन्दिर

पालमपुर तहसील में सुजानपुर टीहरा से व्यास नदी का पुल पार करने पर पांच किलोमीटर की दूरी पर बाबा बालक रूपी मन्दिर अति प्रसिद्ध है। यहां के जन-मानस में मन्दिर को विशिष्ट माना जाता है। इस मन्दिर के साथ जुड़ी घटना अति रोचक है।

कहा जाता है कि एक बार जसवाल राजाओं के पुरोहित ने अपना पद त्याग दिया और जंगलों में रहने लगे। एक दिन इस पुरोहित का छोटा लड़का कन्धे पर हल उठाकर खेती करने जा रहा था तो उसे रास्ते में एक महात्मा मिले। उस महात्मा ने उस लड़के को कहा कि क्या वह उनका सेवक बनेगा। उस लड़के ने यह बात स्वीकार कर ली। उस महात्मा ने इस घटना को गुप्त रखने के लिए भी कहा। इसके बाद वह लड़का अपने खेतों में आ पहुंचा। वहां पहुंचने पर नाचने लगा और बोला कि मेरा हल कहां चला गया। लोगों ने उसके पागलपन को देखा और कहा कि तुम्हारा हल तो तुम्हारे ही कन्धे पर है। उसने हल को कन्धे पर से नीचे रखा और महात्मा के मिलने की सारी घटना लोगों से कह डाली। वह पुनः पागलों की तरह हरकतें करने लगा। उसके पिता ने जो पुरोहित था सोचा कि इस पर किसी भूत की छाया पड़ गई है। पुरोहित उसका इलाज करवाने एक-दूसरे महात्मा के पास गया जिसने बन्धेज देकर उसको ठीक कर दिया। इस महात्मा का नाम लालपुरी बताया जाता है। महात्मा को यह विदित हो गया कि यह सभी बाबा बालक रूपी के कारण हुआ है। तदोपरान्त महात्मा लालपुरी ने बालक रूपी की खोज शुरू कर दी। उस महात्मा के साथ दूसरा व्यक्ति जोगी कथरनाथ था। जब वह इस स्थान पर पहुंचे जहां मन्दिर निर्मित है, वहां महात्मा ने जोगी को झाड़ियों को काटने के लिए कहा। उसके बाद यहां खुदाई शुरू की गई। कुछ क्षणों बाद खुदाई करते हुए कुदाली का नुकीला हिस्सा पिण्डी से टकराया जिसके कारण गड्ढा खून से भर गया। थोड़ी देर बाद खून बन्द हो गया और दूध की धारा प्रवाहित होने लगी। महात्मा ने श्रद्धापूर्वक उस पिण्डी को उठाया और पास ही

जल में स्नान करवा दिया। उसके बाद उसे एक पालकी में उठाकर ले आए। लेकिन मन्दिर के साथ ही एक स्थान पर वह पिण्डी स्वतः ही गिरकर लुप्त हो गई। यह कुण्ड मन्दिर के साथ आज भी देखा जा सकता है। इसके बाद वह महात्मा दैव्य शक्ति से उस पिण्डी को ढूंढ़ लाया और पहले वाले स्थान पर उसे स्थापित कर दिया। यहां पहले गुग्गा मन्दिर होता था लेकिन बाबा बालक रूपी के आदेश से इस मन्दिर को गिराकर यहां बाबा का मन्दिर बनाया गया जिसके भीतर इस पिण्डी को स्थापित किया गया है। पिण्डी पर कुदाली का घाव आज भी देखा जा सकता है।

मन्दिर के परिसर में एक विशाल नन्दी की प्रतिमा है जो ताम्बे की है। यह प्रतिमा बहुत सुन्दर है। ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में यहां विशाल मेलों का आयोजन होता है। लोग इसी मन्दिर में बच्चों के मुण्डन संस्कार भी करते हैं। मन्दिर के साथ ही न्यूगल नदी कल-कल की मधुर ध्वनि में प्रवाहित हो रही है। यहां का दृश्य अति सुन्दर है। लोग बराबर बाबा को घी, दूध, अनाज चढ़ाते रहते हैं। नई फसलों का अन्न तब तक नहीं खाया जाता, लोग जब तक अनाज का कुछ अंश मन्दिर में नहीं चढ़ा लेते।

छिद्र गंगा

यह पवित्र स्थान जिला कांगड़ा की पालमपुर तहसील में स्थित है। धीरा-नौरा सड़क पर भनारी नामक स्थान आता है जहां साढ़े तीन किलोमीटर की दूरी पर एक नाले में छिद्र गंगा का यह स्थान है। इसे छिद्र महादेव के नाम से भी पुकारा जाता है। यहां कोई भी मन्दिर नहीं है केवल एक गुफा से शीतल जल की धारा प्रवाहित हो रही है। मान्यता है कि यह धारा भगवान शिव की जटा से निकलती है। इस गुफा में भगवान शिव अर्थात् महादेव विराजमान बताए जाते हैं। इस स्थान पर काफी समय से ही कई महात्माजन आते-जाते रहे हैं जिन्होंने यहां भगवान शिव की अराधना की है। महादेव के साथ महाभारत काल की एक रोचक घटना पाण्डवों के साथ जुड़ी बताई जाती है। जब पाण्डव इस स्थान पर लाक्षा गृह के जलने के उपरान्त आए तो कुम्भ पर्व आने वाला था। द्रोपदी की यह इच्छा हुई कि इन दिनों स्नान गंगा के शीतल और पवित्र जल से ही करना चाहिए। लेकिन इस जंगल में यह किसी भी तरह से सम्भव नहीं था। उन्होंने इसी चिन्ता और विचारों में लीन रहते हुए अपनी यात्रा जारी रखी। जब वह एक घने जंगल में पहुंचे तो रात्रि हो चुकी थी उन्होंने इन्हीं वृक्षों के मध्य अपना डेरा जमा दिया। जहां पाण्डव ने डेरा जमाया था वहां भीम ने रक्षार्थ एक विशाल चट्टान रख दी थी जो आज भी यहां विद्यमान है। जब द्रोपदी सो गई तो सभी भाइयों ने भगवान शिव को अपनी चिन्ता के निवार्ण हेतु स्मरण किया। बताया जाता है कि उन सभी को भगवान शिव ने स्वप्न में दर्शन दिए और गंगा के जल के बारे में बताया। सुबह जब वे उठे तो द्रोपदी ने भी भगवान शंकर के स्वप्न में आने का जिक्र किया। इस पर पाण्डव ने वह स्थान ढूंढ निकाला जहां गंगा का जल विद्यमान था।

यहां पहले एक शिला थी। भीम ने जब इस शिला को हटाया तो एक सुरंग से जल की धारा प्रवाहित होती दिखाई दी। भीम ने इसकी गहराई मापने का प्रयत्न किया लेकिन उसकी गहराई नहीं मिल पाई और पाण्डव ने इस तरह इस पवित्र स्थान पर कई दिनों अपना पड़ाव डाले रखा और भगवान शिव की जटा से निकल रही गंगा में द्रोपदी के साथ खुद भी स्नान करते रहे।

बताया जाता है कि इसके बाद काफी समय तक यह स्थान निर्जन रहा। मुस्लमानों का जब यहां आधिपत्य हुआ तो कुछ परिवार डर के मारे इस बीहड़ में बस गए। इस तरह उन्होंने यहीं नाले में श्मशान घाट भी बना दिया लेकिन यहा से अस्थियां हरिद्वार ले जाना अति कठिन था। एक दिन भगवान शंकर से लोगों ने प्रार्थना की कि उन्हें हरिद्वार जाने की शक्ति प्रदान करें ताकि वे अपने बुजुर्गों और अन्य मृतकों की अस्थियां वहां जाकर प्रवाहित कर सके। इस पर एक रात को सभी निवासियों को भगवान ने स्वप्न में इस स्थान के महत्व के बारे में बताया कि यहां का गंगा जल है जो मेरी जटा-जूट से निकल रहा है। लोगों ने इस पर यहीं अस्थियां प्रवाहित करनी शुरू कर दी। धीरे-धीरे इस स्थान का महत्व बढ़ने लगा और लोगों ने यहां आना-जाना शुरू कर दिया।

गंगा जल की तरह यह जल भी खराब नहीं होता है। इस गुफा के प्रवेश द्वार पर पाण्डवों के स्नान का स्थान आज भी विद्यमान है। यहां पर छोलियों के पत्थर पर चिह्न मौजूद हैं। यह स्थान कालान्तर की तरह आज भी वैसा ही है।

नूरपुर

धर्मशाला से 95 कि०मी० तथा पठानकोट से 24 कि०मी० पर बसा नूरपुर प्राचीन काल में उत्तरी क्षेत्र में चम्बा तक, पूर्व में कांगड़ा और गुलेर की सीमा तक तथा दक्षिण में पंजाब और पश्चिम में रावी की सीमा तक फैला हुआ था। उस समय नूरपुर राज्य की राजधानी पठानकोट को ही बताया जाता है जिसे मुगल शासन-काल में 'पेथान' कहा जाता था। 'पेथान' मूल शब्द 'प्रतिष्ठान' से ही लिया गया है। वास्तव में इस राज्य के राजवंशी पठानिया राजपूत ही कहलाते हैं। शाहजहां के राज्य-काल तक इस राज्य का नाम 'पेथान' ही रहा। जब पठानकोट से राज्य की राजधानी को नूरपुर बदला गया फिर इसे 'धमेड़ी' के नाम से जाना गया। यह घटना अकबर के राज्य काल में हुई बताई जाती है और अभी तक 'नूरपुर' नाम कहीं भी लिया जाता था। इससे यह अनुमान लगाना सम्भव है कि नूरपुर एक प्राचीन नगर रहा होगा और राजाओं के राज्यकाल में इस नगर का नाम कई दिशाओं में बदलता चला गया। जिसके कुछ उदाहरण भी समक्ष आए हैं जैसे दहमेल, दमाल, धमेड़ी, धामड़ी इत्यादि। इन नामों में धमेड़ी ही एक ऐसा नाम है जो वर्तमान समय में भी प्रचलित है। इब्राहिम गजनवी ने यहां पर स्थित किले को एक लम्बे समय के आक्रमण के बाद अपने कब्जे में किया। किले को कब्जे में करने के बाद इब्राहीम ने अपना ध्यान एक बहुत ही सुन्दर और पहाड़ी

पर स्थित स्थान की ओर आकर्षित किया जिसे 'दमेल' के नाम से जाना जाता था। किले के एक ओर एक बड़ी नदी थी जिसे इतिहास में बहुत गहन बताया जाता है और दूसरी ओर कंटीला भयंकर जंगल था। लेकिन इब्राहिम ने अपने यश और शक्ति से इस किले पर विजय प्राप्त कर ली। यह किला धमेड़ी में प्राचीन काल से विद्यमान है जिसका निर्माण उस समय के प्रसिद्ध राजा बासु द्वारा किया बताया जाता है। अब यह किला नष्ट हो गया है केवल इसके कुछ अंश अभी भी विद्यमान हैं जिससे यह घटना अतीत से जुड़ी लगती है। इस राजा को लोग बसु के नाम से अधिक जानते हैं और इसी राजा ने अपनी राजधानी 'प्रतिष्ठान' से बदल कर 'धमेड़ी' लाई थी। इससे पूर्व जिन राजाओं ने इस राज्य पर अपना राज्य रखा वे पठानिया राजपूत थे और अपने नाम के साथ 'पाल' प्रत्यय लगाया करते थे। प्रमुख राजा जिन्होंने शासन किया उनमें कैलाशपाल, नागपाल, पृथीपाल, भीलपाल इत्यादि थे और अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में राजा जसपाल ने ही इस राज्य का निर्माण किया बताया जाता है। इससे हम यह अनुमान लगाते हैं कि यह राज्य 1000 ई०प० में निर्मित किया गया था। राजा बसु ने 1580-1613 ई०प० तक अपना शासन यहां कायम रखा। कहा जाता है कि 1622 ई० में जब नूरपुर में राजा जगत सिंह का शासन चल रहा था, बादशाह जहांगीर इस स्थान पर आए। बेगम नूरजहां को यह स्थान इतना सुहावना लगा कि उसने इस स्थान पर एक सुन्दर महल बनाने की इच्छा व्यक्त की। लेकिन राजा जगत को बादशाह का यह निर्णय बिल्कुल पसन्द नहीं आया। उसने एक उल्टी चाल चली। जब महल का निर्माण आरम्भ किया गया तो उसने 'गिल्हड़े' मजदूर काम पर लगा दिए। जब बादशाह जहांगीर ने इसका कारण पूछा तो उसे यह बताया गया कि यह रोग सम्पूर्ण राज्य में यहां की जलवायु के कारण फैला है। इस पर बेगम नूरजहां ने यहां पर महल बनाने का काम स्थगित कर दिया। बेगम नूरजहां के नाम से ही इस राज्य का नाम 'नूरपुर' पड़ा बताया जाता है।

राजा वासुदेव के बाद उनका बड़ा लड़का सूरजमल उनका उत्तराधिकारी बना और उनका छोटा भाई उस समय कोटले का किलेदार था। इसी राजा का कनिष्ठ लड़का जगत सिंह 1619 से 1646 ई०प० तक इस राज्य का राजा रहा। जगत सिंह अपने समय का सफल और लोकप्रिय शासक हुआ है। इस समय की परिस्थिति को भली प्रकार परख लेता था। उसने जहांगीर और शाहजहां के राज्यकाल में सीमावर्ती क्षेत्रों गजनी, कंधार और काबुल में ऊंचे पदों पर कार्य किया और इनका कृपा-पात्र बना रहा। जगत सिंह के शासन काल में बहुत से बाहरी आक्रमण होते रहे लेकिन वह पहले ही दुश्मनों से लोहा लेने के लिए तैयार रहा करता था। इसी दृष्टिकोण से उसने अपने राज्य में तीन प्रमुख किले स्थापित किए जो माओकोट, नूरपुर और तारागढ़ थे। माओकोट बिल्कुल पठानकोट के साथ सुगम रास्ते में पड़ता था। यह किला चारों ओर से भयानक जंगलों से घिरा था जिससे यहां जाना असम्भव था। तारागढ़ किला चम्बा राज्य की सीमा में बनाया गया था जबकि किला नूरपुर नगर के दक्षिण-पश्चिम की

ओर 2125 फुट ऊंची पठार पर निर्मित किया गया था। यह किला आज भी एक बहुत बड़े खण्डहर के रूप में विद्यमान है। इस किले का मुख्य द्वार उत्तर की ओर है। इस किले में आज भी श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति एक विशाल रूप में स्थित है। कहा जाता है कि महान कृष्ण भक्त और कवयित्री मीरा यहां आकर कृष्ण भगवान की पूजा किया करती थी और मूर्ति के समक्ष बैठकर उससे वार्तालाप किया करती थी। यह कृष्ण भगवान की मूर्ति आज भी अपने विशाल काले रूप में ज्यों-की-त्यों देखी जा सकती है। राजा जगत सिंह की मृत्यु के बाद इसी वंश के राजा वीर सिंह अन्तिम राजा के रूप में जाने जाते हैं। इनसे पहले राजरूप सिंह 1646-1661 ई०प० तक राजा रहे। इनकी मृत्यु 1666-67 ई० में हुई बताई जाती है उसके बाद इस राज्य का शासन मधाता ने सम्भाला जो 1700 ई० तक रहा। राजा दयाधाता 1700-53 ई० तक, पृथ्वीसिंह 1735-89 ई० और इसी वंश के अन्तिम राजा वीर सिंह 1789-1846 ई० तक राज्य करते रहे। राजा वीर सिंह की मृत्यु के बाद वे अपने पीछे 10 वर्षीय बालक जसवन्त सिंह को छोड़ गए। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य पूर्ण रूप से छाया हुआ था। इसी समय नूरपुर राज्य की समाप्ति हुई बताई जाती है।

नूरपुर आज जिला कांगड़ा की एक प्रसिद्ध तहसील है। इसकी प्राकृतिक छटा दिल को मोह लेती है। ऐसा लगता है कुदरत ने इस नगर को खुद अपने हाथों से संवारा होगा। नूरपुर की सुन्दरता और मनोहारी दृश्यावली के कारण ही बेगम नूरजहां का मन यहां समय व्यतीत करने को हो उठा था।

भागसूनाग मन्दिर

धमशाला बाजार से लगभग 11 कि० मी० दूर और समुद्रतल से 1765 मीटर की ऊँचाई पर प्राचीन भागसुनाग मन्दिर स्थित है। मकल्योड़गंज तक का रास्ता चढ़ाई वाला है और उसके बाद मन्दिर तक लगभग दो किलोमीटर सीधी सड़क है। मन्दिर तक वाहन से भी जाया जा सकता है। मन्दिर परिसर में प्रवेश होते ही एक अजीब सुख का अनुभव होता है। मुख्य मन्दिर के लिए कुछ सीढ़ियां हैं। प्रांगण से लेकर पूरे मन्दिर में सुन्दर सिमेंट की टाईलें लगी हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका प्राचीन स्वरूप कुछ और था और अब इसकी पूरी तरह से मुरम्मत की गई है। प्रांगण में प्रवेश करते ही दांई ओर नाग का मन्दिर है जिसके मध्य धातु के असंख्य सांप नाग देवता के प्रतीक हैं। कुछ पत्थर की प्रतिमाएँ भी गर्भगृह में विद्यमान हैं। बाह्य स्वरूप की अपेक्षा भीतरी भाग प्राचीन लगता है। परिक्रमा पथ में पीछे कई छोटे-छोटे मन्दिर निर्मित है जिनमें कई अवतारों की प्रतिमाएँ स्थापित की गई हैं। इसी के साथ महात्मागणों की समाधियां भी हैं। मन्दिरों में हनुमान, राधा-कृष्ण और गणेश तथा दुर्गा के मुख्य मन्दिर हैं। मन्दिर के दांई ओर सुन्दर कक्षों में भगवान शिव, राम-सीता, बाबा बालक नाथ जी, गणेश तथा हनुमान की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं।

मन्दिर के साथ नीचे की ओर धार्मिक जलाश्य हैं जिसे अमृतकुण्ड के नाम से जाना जाता है। स्नान हेतु एक अन्य कुण्ड इससे नीचे की ओर हैं। इस कुण्ड में पाँच फुहारों से पानी निकल रहा है।

नाग देवता के जन्म और मन्दिर निर्माण को लेकर एक रोचक किवदन्ती कही जाती है। बात द्वापर युग की बताई जाती है। इस युग के मध्य काल में दैत्यों के राजा भागसू की राजधानी अजमेर नामक देश में थी। इस राजा के राज्यकाल में एक बार भीषण सूखा पड़ गया और प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गई। पक्षी और पशु प्यास के कारण तड़फ-तड़फ कर मरने लगे। प्रजा ने एकत्र होकर एक दिन अपने राजा से प्रार्थना की कि वह कहीं से पानी का प्रबन्ध कर दें अन्यथा सारा राज्य खत्म हो जाएगा। उन्होंने यह भी कहा कि यदि राजा ऐसा करने में असमर्थ हैं तो सारी प्रजा कहीं अन्यत्र इस देश को छोड़कर चली जाएगी। राजा ने प्रजा को विश्वास दिलाया कि उन्हें ऐसा नहीं करना पड़ेगा और वह कहीं से भी पानी का प्रबन्ध अवश्य करेगा। इस पर भागसू पानी की तलाश में निकल पड़ा। वह एक मायावी तो था ही इसलिए दो-तीन दिनों की यात्रा के बाद यहाँ की प्रसिद्ध डलझील पर पहुँच गया। उसने अपनी माया व तन्त्र शक्ति से उस विशाल झील का सारा पानी अपने कमण्डल में समाहित कर लिया और वापिस अपने देश लौटने लगा। कुछ दूर चलने के बाद उसे रात्री के कारण रुकना पड़ा। बताया जाता है कि जिस झील का पानी भागसू लाया था उसमें नाग देवता रहा करते थे। उन नागों में जो मुख्य नाग था वह बड़ा ही शक्तिशाली था। शाम को जब वह पहाड़ियों के भ्रमण करके लौटे तो सूखी झील देखकर हैरान रह गए। अपनी शक्ति से उन्होंने यह पता लगा लिया कि इसका पानी कहाँ गया है। वह नाग उसी वक्त क्रोध में वहाँ पहुंचा जहाँ भागसू विश्राम कर रहा था। दोनों का घोर युद्ध हुआ और आखिर भागसू को हारना पड़ा। लड़ते हुए उसके कमण्डल में समाहित पानी बाहर बह गया और उसने एक जलाश्य का रूप धारण कर लिया। अमृत कुण्ड वही झरना बताया जाता है जिससे निरन्तर कई धाराएँ पानी की बह रही है। हारने के बाद उस राजा भागसू ने नाग देवता की स्तुति की जिससे नाग प्रसन्न हो गया। उसने भागसू को वरदान मांगने के लिए कहा। इस पर भागसू ने पहले अपने देश में जल मांगा और उसके बाद कहा कि मेरा नाम विश्व में हो, तुम्हारे साथ मेरी भी लोग पूजा करे। नाग ने बात मान ली और कहा कि जब भी यहाँ लोग आएंगे और पूजा करेंगे तो पहले तेरा नाम "भागसू" लिया जाएगा और बाद में "नाग" का नाम आएगा। इस तरह से यहाँ का नाम भागसूनाग पड़ा बताया जाता है। यह घटना हजारों वर्ष पूर्व की बताई जाती है।

राजा धर्मचन्द के राज्यकाल में भगवान शिव ने इस स्थान के बारे में राजा को एक रात स्वप्न दिया और नाग देवता के मन्दिर निर्माण के लिए प्रेरित करवाया। राजा ने ऐसा ही किया और इस स्थान पर भागसूनाग मन्दिर का निर्माण करवा दिया।

उसके बाद यह स्थान एक धार्मिक स्थल एवं तीर्थ के रूप में विख्यात है। धर्मशाला का भ्रमण करने वाले पर्यटक और यात्री यहाँ अवश्य दर्शनार्थ जाते हैं।

कुछ लोग भागसूनाग नामकरण वासुकिनाग से मानते हैं। एक अन्य कथा के अनुसार यह कहा जाता है कि एक बार वासुकिनाग ने भगवान शिव का अमृतपात्र चुरा लिया था और इसके लिए शिव भगवान ने उसके पीछे अपना त्रिशूल छोड़ दिया। इस स्थान पर आकर भय से उसके हाथ से पात्र गिर गया जिससे यहाँ अमृतकुण्ड बना। लोग इस स्थान को शिव तीर्थ के रूप में पूजते हैं।

धर्मशाला से यहां तक पहुंचते हुए सबसे पहले सड़क के साथ मां वैष्णु देवी मन्दिर के दर्शन होते हैं। इस मन्दिर में वैष्णु माता की सुन्दर मूर्ति स्थापित है। इसके बाद पहाड़ी पर सड़क के दाईं ओर सुन्दर नाग मन्दिर निर्मित है। तिब्बत के परम धर्म चौदवें दलाई लामा श्री तेनजिन ग्याछो जिनका निवास स्थल थकचन चोलिंग मकलोड़ गंज में हैं, उनके सहयोग से ही यह मन्दिर बना है। उनकी सुरक्षा हेतु यहां पुलिस नियुक्त है। कहा जाता है कि उन्हें अपनी डियूटी के समय कई तरह के सांप दिखाई देते थे। उन्होंने इसके लिए भागसू में नाग देवता की अराधना की और यहां पर एक मन्दिर निर्माण का संकल्प किया। उसके बाद उनके साथ ऐसी घटना नहीं हुई। इस मन्दिर की नींव 15.4.1986 को रखी गई और 16.2.1988 को विधिवत रूप से मन्दिर में सर्वधर्म मूर्तियों की स्थापना की गई।

इसके बाद परम पावन दलाई लामा का निवास स्थल है और उसके साथ एक विशाल बौद्ध मठ, जिसके भीतर विशाल बौद्ध गुरुओं और भगवान बौद्ध की प्रतिमा स्थापित हैं।

यहां से धौलाधार पर्वत श्रृंखलाओं और पूर्ण कांगड़ाघाटी का सुन्दर दृश्य मन को मोह लेता है।

(ख) ऊना

चिन्तपूर्णी मन्दिर

चिन्तपूर्णी नाम से यह प्राचीन शक्तिपीठ ऊना जनपद से 33 कि० मी०, धर्मशाला से 80 कि० मी० होशियारपुर—धर्मशाला सड़क पर बसे भरवाई कस्बे से तीन कि० मी० की दूरी पर स्थित है। 976 मी० की ऊंचाई पर निर्मित इस मन्दिर को भी कांगड़ा में स्थित मां पारवती के शरीर के भागों से बने प्राचीन शक्तिपीठों में गिना जाता है। मान्यता है कि यहां पारवती के चरण गिरे थे जो एक पिंडी में चिन्हित हैं और देवी की यह पिंडी आज भी मन्दिर के गर्भगृह में पूजनीय है। इस पिंडी के साथ माता की प्रतिमा छिन्न मस्तिका के रूप में स्थापित है। माता की यह भव्य प्रतिमा अनेकों रंगीन कपड़ों और कीमती सोने-चांदी के छत्तरों से सुसज्जित रहती है। गर्भगृह के बाहर परिक्रमा पथ है। मन्दिर के तीन दरवाजे हैं। मन्दिर की छतों में असंख्य

घण्टियां लटकी हैं। भक्तजनों द्वारा घण्टियों के चढ़ाने की प्रथा सदियों पुरानी है। मन्दिर के पीछे की ओर नीचे लगभग 184 सीढ़ियां उत्तर दिशा की ओर उतर जाती हैं जो एक तालाब के किनारे पहुंचती हैं। यह तालाब प्राकृतिक सौन्दर्य का भण्डार है। बताया जाता है कि इसे विक्रमी सम्वत् 1900 के आसपास महाराजा रणजीत सिंह के एक मन्त्री ने बनवाया था। इसमें धार्मिक दृष्टि से स्नान करने का महत्व है।

देवी के पिंडी रूप में प्रकट होने की रोचक कहानी कही जाती है। बताया जाता है कि किसी समय मैदानों से आकर एक ब्राह्मण परिवार भरवां में रहने लगा। इस परिवार की दुर्गा माता पर अपार श्रद्धा थी। इसी परिवार में माईदास नामक एक ब्राह्मण हुआ। एक दिन वह कहीं जाते हुए इसी स्थान पर विश्राम करने बैठ गया। उसकी आंख लग गई। उसने आंख लगते ही एक सुन्दर सपना देखा। एक कन्या अति आकर्षक कपड़ों में उसके समक्ष थी। वह उठा तो आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगा। लेकिन वहां कोई नहीं था लेकिन उस कन्या का वह रूप उसकी आंखों में बस गया। उसने यह सपना जब लोगों को सुनाया तो उन्होंने कहा कि उसे देवी के दर्शन हुए हैं। इससे वह और भी प्रभावित हो गया।

दूसरे दिन पुनः वह उसी रास्ते अपने काम पर जा रहा था कि उसकी बैठने की इच्छा हुई। बैठते ही पुनः आंख लग गई और उसे फिर वह देवी कन्या रूप में दिखाई दी। देवी ने उसे आशीर्वाद दिया और कहा कि वह पिंडी के रूप में वृक्ष के नीचे प्रकट हो रही है। इसलिए उसका मन्दिर बनाकर पूजा की जाए तो इस जनपद की महत्ता बढ़ेगी। वह उठा और वृक्ष के नीचे खोदने लगा। सचमुच वहां एक पिंडी थी। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वर्तमान में जहां मन्दिर स्थापित है यह पिंडी उसके कुछ दूर केले के वृक्ष के नीचे मिली थी। वह कई दिनों तक वहीं पूजा करता रहा। लोगों को विदित हुआ तो भारी संख्या में यहां दर्शन के लिए आने शुरू हो गए। एक दिन देवी ने स्वप्न देकर मायादास को यह प्रेरणा दी कि देवी छपरोह जाना चाहती है। इसलिए उसने एक पालकी को सजाया और देवी की पिंडी को लाने का प्रबन्ध पूरा कर लिया। लेकिन जहां वह स्थित थी यह डाडासिब्बा और जसवां रियासतों की सीमा थी। उनका आपस में विवाद हो गया। इस समस्या के समाधान हेतु मायादास ने एक शर्त रख ली। दोनों राजाओं ने उसे मान लिया। तत्काल दो बकरे रियासतों के नाम पर देवी के समक्ष खड़े कर दिए गए और यह माना गया कि जो बकरा देवी के आगे स्वेच्छा से कंपकपाएगा देवी वहीं जाएगी। इस पर छपरोह की ओर से जो बकरा था उसे ही देवी ने स्वीकार किया और पालकी में वर्तमान स्थान के लिए श्रद्धापूर्वक उस पिंडी को लाया गया। आज जहां यह पिंडी स्थापित है, पूर्व में वहीं इसकी स्थापना हुई और श्रद्धालुओं ने धन एकत्रित करके धीरे-धीरे देवी का मन्दिर बनवा दिया। देवी की प्रेरणा से ही यहां पानी का चश्मा भी फूट गया था। मायादास ही को देवी ने स्वप्न देकर इस जगह पर ही एक पत्थर उठाने की प्रेरणा दी और जब वह पत्थर उठाया

गया तो उसके नीचे पानी का चश्मा था। आज भी इसी पानी से देवी को नहलाया जाता है। यह पत्थर मन्दिर के बाहर विद्यमान है।

लोगों ने अपने दुख-सुख के निवारण हेतु बराबर यहां विनती की और उनकी मुरादें पूरी होती रही। इसी कारण लोगों की चिन्ताओं को दूर करने वाली इस देवी का नामकरण चिन्ताओं को पूरा करने वाली अर्थात् 'चिन्तपूर्णी' हो गया। आज इस स्थान को चिन्तपूर्णी नाम से ही जाना जाता है।

मन्दिर निर्माण से सम्बन्धित कोई प्रमाणिक दस्तावेज मौजूद नहीं है। प्रांगण में एक विशाल बट वृक्ष स्थित है और ऐसा लगता है जैसे वह इस देवी के जन्म का साक्षी हो। उसी ने जैसे उस कन्या के बालकपन को अपनी गोदी में सहलाया हो। कथा से यह प्राचीन शक्तिपीठ मालूम पड़ता है। प्रतिदिन लोग दर्शनों के लिए आते रहते हैं लेकिन नवरात्रों में तो जैसे दुनिया ही यहां आ चली हो। दस दिनों तक नवरात्रों में लाखों लोग यहां आते हैं। यहां तक अपने वाहनों में आया जा सकता है। लाखों रुपए की आमदनी माता के मन्दिर के लिए होती है। लोग मनोकामना पूर्ण होने पर दूर-दूर से यहां नंगे पांव चलकर आते हैं। लोग बच्चों का मुण्डन संस्कार भी यहां करते हैं।

यात्रियों की सुविधा के लिए असंख्य दूकानें उमड़ पड़ी हैं। पर्यटक सराय भी निर्मित की गई हैं। अस्थायी दूकानें भी धन कमाने के लिए यहां लगाई जाती हैं। लंगरों का आयोजन भी होता हैं। मन्दिर सरकार की देखरेख में है लेकिन दुकानों की अधिक भीड़ से यहां का वह एकाकीपन चला गया है जो प्राचीन काल में होता था।

आज के सन्दर्भ में यह मन्दिर लोगों की अपार श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र हैं। यह प्रमाण यहां आने वाले भक्तों से मिलता है। यहां का सौन्दर्य भी कम नहीं है। चारों ओर की मनोहारी दृश्यावली मन को मोह लेती है।

डेरा बाबा भड़भाग सिंह

यह धार्मिक स्थल ऊना से लगभग चार किलोमीटर दूर है जिसके लिए नहरी-ज्वार मार्ग से जाया जाता है यह बाबा सिक्खों के छठवें गुरु श्री हरगोबिन्द सिंह के पड़पोत्र बाबा रामसिंह के पुत्र थे। इनका जन्म 1773 ई० को करतारपुर में हुआ था। कोई इनका जन्म 1716 ई० पूर्व मानते हैं। इन्होंने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष किया था। अहमदशाह अब्दाली के तेहरवें युद्ध से क्षुब्ध होकर करतारपुर छोड़कर बाबा जी मैड़ी गाँव चले गए। यही स्थान उन्होंने अपने वास के लिए चुना और यहां 18 वर्षों तक तप करते रहे। यह भी कहा जाता है कि यहां उस समय सरदार देव नाहर सिंह रहा करते थे जो तन्त्र विद्या में अति प्रवीण थे। इन्हें भूतों के राजा भी कहा जाता था। अपनी तपस्या से बाबा ने इन्हें अपने बस में कर लिया और लोगों को उनके कष्टों से छुटकारा मिल गया। यह देव अब लोगों की सेवा करने लग पड़ा। हजारों लोग इनके भक्त बन गए।

यहां तपस्या के बाद बाबा जी ने खालसा और अदीना बेग की फौजों को एकत्रित करके एक दल में परिवर्तित किया तथा जालन्धर पर हमला कर दिया। हमले में फौजदार नासिर अली जिनके हमले से बाबा यहां आए थे, को जिन्दा जला दिया और अपने अपमान का बदला ले लिया।

यहां से कुछ दूरी पर एक शीतल जल का झरना है, जहां बाबा जी स्नान किया करते थे। इस झरने को धौलीधारा और बाण गंगा कहकर भी पुकारते हैं। मान्यता है कि जिन लोगों पर भूत प्रेतों की छाया पड़ जाती है वह उसके निवारण हेतु यहां आकर डेरा बाबा भड़भाग सिंह में मथ्था टेकते हैं और इस प्रपात में स्नान करते हैं। लोगों का विश्वास है कि यहां आकर भूत-प्रेतों से छुटकारा मिल जाता है। बाबा के डेरे या गुरुद्वारे के प्रांगण में देव नाहर सिंह का स्थान है। महिलाएं देव नाहर सिंह (नारसिंह) की पूजा करती हैं और उसके चेले से वर्ष में दो या एक बार घर में भी पूजा करवाती हैं। गुरुद्वारे के प्रांगण में जहां बेरी का वृक्ष है उसके नीचे ही बाबा जी ने तपस्या की है। उनके निधन के बाद उनके चेलों ने उनकी समाधि इस बेरी के वृक्ष के नीचे भी बनाई है।

इस डेरे में 80 के लगभग कमरे हैं जिनमें यात्रियों को निःशुल्क ठहरने की सुविधा है। यहां प्रतिवर्ष होली के अवसर पर आठ दिनों का मेला लगता है। इस मेले में हजारों लोग भाग लेते हैं। लोगों का यह भी कहना है कि इस दौरान कई स्थानों से यहां जेबकतरे और डाकू भी आते हैं लेकिन वे किसी भी व्यक्ति को यहां नुकसान नहीं पहुंचाते केवल अपने धन्धे को फलने-फूलने के लिए दुआ मांगते हैं और मनौतियां चढ़ाते हैं।

डेरा सिद्ध बाबा रुद्रू

ऊना नगर से 12 किलोमीटर दूर बाबा रुद्रू का प्रसिद्ध डेरा है। इन्हें महानयोगी रुद्रानन्द से भी पुकारा जाता है। इस डेरे में 125 वर्ष से ही एक अखण्ड धुणी जल रही है। इस धुणी की राख अत्यन्त पवित्र एवं उपयोगी समझी जाती है जिसे अनेक व्याधियों को ठीक करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। इसी के साथ योग समाधि है जहां रुद्रानन्द बाबा जी के स्मृति चिन्ह विद्यमान हैं।

कहा जाता है कि बाबा रुद्रू ऊना जनपद में स्थित गांव बड़साला के निवासी थे और घी का व्यापार किया करते थे। एक दिन जब वह घी का व्यापार करने होशियारपुर की ओर जा रहे थे तो उनकी भेंट पांच महात्माओं से हो गई। इनमें महात्मा भवानीगिरी और उनके चार शिष्य थे। बाबा ने इनको खूब घी खिलाया और ये प्रसन्न हो गए। उनके बाद डेरा बाबा रुद्रू के प्रांगण में इन महात्माओं ने समाधि ली और वहां पांच पीपल के वृक्ष उत्पन्न हो गए। ये पांचों वृक्ष इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। इनको बोध वृक्ष कहा जाता है। लोगों का विश्वास है कि यदि किसी व्यक्ति को सांप

डंस लेता है या वह पागल हो जाता है तो इन वृक्षों की परिक्रमा करके वह ठीक हो जाता है।

प्रतिवर्ष यहां पंच भीष्म पर्व मनाया जाता है जिसमें खिचड़ी को दही और घी से बांटा जाता है।

डेरा जोगी पंगा

यह डेरा ऊना से 13 कि० मी० दूर, ऊना-होशियारपुर सड़क पर है। यह भी इस जनपद का प्रसिद्ध धार्मिक स्थान है। यह डेरा निर्जन वन में है। प्रकृति का यह अति सुन्दर स्थल है। कहा जाता है कि इस स्थान पर भी बाबा रुद्रानन्द जी कई सालों तक तपस्या करते रहे। इस डेरे की स्थापना महात्मा आत्मनन्द जी ने की थी। यहां भी लोग मनोकामना पूर्ण होने के लिए आते हैं। यहां प्रतिदिन यात्रियों को मुफ्त भोजन खिलाया जाता है और आवास का उचित प्रबन्ध है।

द्रोण शिव मन्दिर

होशियारपुर-धर्मशाला सड़क पर गगरेट गाँव है। इसके साथ ही स्वां नदी बहती है जिसे सोमभद्रा के नाम से भी जाना जाता है। इस नदी के किनारे एक सुन्दर छोटा सा जंगल है जिसके मध्य द्रोण शिव मन्दिर स्थित है। इस स्थान को शिव बाड़ी भी कहते है। शिव बाड़ी का अर्थ है भगवान शिव का निवास स्थल। यह जंगल अम्बोटा गांव का है। इस शिव मन्दिर की मान्यता इसलिए सर्वाधिक मानी गई है कि गुरु द्रोणाचार्य जिन्होंने कौरवों और पांण्डवों को धनुर्विद्या सिखाई थी, द्वारा बनाया गया है। उन्होंने ही इस मन्दिर में शिव लिंग की स्थापना की है। इसी स्थान पर शमशान-भूमि भी है। कहा जाता है कि इस जंगल की लकड़ी केवल मुर्दों को फूंकने के लिए प्रयोग की जाती है यदि यही लकड़ी घर में जलाई जाए तो उस घर का सर्वनाश हो जाता है।

इस बात का उदाहरण गांव के लोग इस तरह देते हैं कि एक बार यहां से कुछ लोग जो सैनिक थे लकड़ी काटकर ट्रक में भरकर ले गए। रास्ते में ट्रक दुर्घटनाग्रस्त हो गया और वह लकड़ी सचमुच उन्हीं के दाह संस्कार के काम आई।

इस मन्दिर के साथ कई अन्य छोटे-छोटे शिव लिंग स्थापित हैं जिनमें संगमरमर पत्थर और तांबे के हैं। यहां अनेक महात्मा रहते हैं।

ऊना में इसके अतिरिक्त कई धार्मिक स्थल और मन्दिर हैं। ऊना नगर के पूर्व की ओर 84 पौड़ियों का दृश्य अति सुन्दर है। इन पौड़ियों के साथ ही एक ओर शिव मन्दिर तथा दूसरी तरफ भगवान श्री कृष्ण जी और मां भगवती का मन्दिर स्थित है। पश्चिम की ओर बाबा तेगसिंह जी का गुरुद्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। ऊना नगर के बीच भव्य गीता मन्दिर, शिवालय और सत्यनारायण जी का मन्दिर प्रसिद्ध हैं। नगर के उत्तर की ओर शीतला माता मन्दिर है जिसमें कई प्रस्तर

प्रतिमाएं हैं। यहीं पर महायोगी श्री अरविन्द जी महाराज का योग मन्दिर धार्मिक दृष्टि से अति लोकप्रिय है।

धौम्यश्वर ऋषि मन्दिर

ऊना जिले की बंगाणा तहसील के बही गांव में ऋषि धौम्य का प्राचीन मन्दिर स्थित है जिसे अब धुन्सर महादेव के नाम से जाना जाता है। लोग इस मन्दिर को धौम्यश्वर सदाशिव मन्दिर के नाम से भी पुकारते थे। यह स्थान चौकीधार से दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। महाभारत की कथानुसार धौम्य ऋषि पांडव के कुल पुरोहित थे। इन्होंने भगवान शिव को अपनी भक्ति से प्रसन्न किया तो भगवान शिव ने उन्हें अपनी इच्छा से वरदान मांगने को कहा। धौम्य ने कहा कि भगवान शिव उन्हें केवल इतना वरदान दे दें कि लोग उनकी पूजा करके धन्य हो जाएं और उनके पवित्र स्थान में आने के बाद मुक्ति प्राप्त करें। भगवान शिव ने उन्हें ऐसा ही वरदान दिया जिस पर धौम्य ने इस स्थान पर स्वयं मन्दिर का निर्माण करवाया और भगवान शिव के आशीर्वाद से उसी में वास करने लगे।

लगभग 50 वर्ष पूर्व स्वामी आनन्द गिरी को उत्तर काशी में स्थित लंक्शनेश्वर शिव तीर्थ जो गंगा के किनारे हैं, भगवान शिव ने स्वप्न में कहा कि वे ऊना में स्थित इस पवित्र स्थान पर जाकर तपस्या करें। भगवान के आदेशानुसार उन्होंने उसी दिन से इस स्थान की खोज आरम्भ कर दी और 10 सालों के उपरान्त उन्होंने इस स्थान को खोज लिया। स्वामी ने तभी से इस मन्दिर के उत्थान के लिए बहुत कार्य किया है।

लोगों की धारणा है कि इस मन्दिर में मनौती मांगने के उपरान्त पुत्र प्राप्ती होती है। मन्दिर के भीतर शिव लिंग स्थापित है। यह भी धारणा है कि वर्षा न हो रही हो तो लोग यदि मन्दिर का दरवाजा बन्द करके पानी गिराते रहें और वह पानी शिव लिंग के ऊपर तक चला जाए तो वर्षा हो जाती है। इस दृष्टि से लोगों की यहां अपार श्रद्धा है। यहां लोग दूर-दूर से भ्रमण हेतु और दर्शनों के लिए आते हैं। ऊना का यह भी प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है।

भद्र काली मन्दिर

भद्रकाली ऊना का प्रसिद्ध शक्ति पीठ माना जाता है लेकिन वर्तमान में सड़क के रास्ते से दूर होने के कारण यह मन्दिर अब पहले की तरह लोगों की आस्था का केन्द्र नहीं रहा है। हम यदि इस मन्दिर के अतीत को देखें तो ज्ञात होता है कि एक समय ऐसा भी रहा है जब ज्वालामुखी और चिन्तपूर्णी जैसे विख्यात शक्तिपीठों की यात्रा करने से पूर्व भक्तजन यहां श्रद्धासुमन अर्पित करते थे। शायद यह इसलिए भी सम्भव था कि यहीं से पैदल मार्ग आगे चला जाता था। लेकिन इस सुविधाभोगी समय में

भी भद्रकाली शक्तिपीठ अपना अस्तित्व बनाए हैं और भक्तजन पैदल भी यहां आते-जाते रहते हैं।

भद्रकाली का यह प्राचीन मन्दिर दौलत चौक से चार किलोमीटर की दूरी पर समुद्रतल से 600 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। यह स्थान स्वां नदी के किनारे स्थित है। भद्रकाली मां दुर्गा की ही रूप है। महाभारत में भद्रकाली की उत्पति के सन्दर्भ में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस मन्दिर के बारे में कहा जाता है कि इसे पांडव ने बनाया था। मन्दिर का मुख्य दरवाजा पूर्व की की ओर खुलता है। पश्चिम की दीवार में एक प्लेटफार्म पर देवी की प्रतिमा स्थापित है। मध्यभाग में देवी की पिंडी है जिसमें दो छिद्र हैं। ये दो छिद्र ही माता की आंखें मानी जाती हैं। पिंडी काले रंग की है। प्लेटफार्म पर भी प्रतिमाएं टाईलों पर निर्मित हैं। ये प्रतिमाएं गणेश भगवान, हनुमान तथा लक्ष्मी और भगवान श्रीकृष्ण की हैं। एक और पत्थर पर महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति बनी है। सवारी शेर की है और चतुर्भुज हैं। मन्दिर की दीवारें भांति-भांति के दैव्य चित्रों से सुसज्जित हैं। कहा जाता है कि एक बार यहां भयंकर बाड़ आई थी जिसमें यह मन्दिर टूट गया था। उसके बाद भक्तजनों ने इसका निर्माण करवाया। मन्दिर के भीतर एक प्लेट पर श्रीमती चिन्ता देवी धर्मपत्नी शाह जगतराम का नाम खुदा है जिन्होंने ही बाड़ के बाद इस मन्दिर को नया रूप दिया है।

इसके बाद भी समय-समय पर भक्तजनों ने इस मन्दिर का उद्धार करवाया है और आज भी लोगों की अपार श्रद्धा इस मन्दिर पर हैं। मई-जून के मध्य यहां एक मेले का आयोजन भी किया जाता है।

(ग) हमीरपुर

दयोथ सिद्ध बाबा बालक नाथ

दयोथ सिद्ध कालान्तर से एक धार्मिक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्थान हमीरपुर और बिलासपुर की सीमा पर स्थित होने के कारण जिला हमीरपुर में ही आता है। हमीरपुर जिले की उत्तर-पश्चिम सीमा के साथ यह स्थान बिलासपुर से 55 किलोमीटर और हमीरपुर से 46 किमी० की दूरी पर है जहां वाहन द्वारा जाया जा सकता है। सड़क से कुछ मील का रास्ता पैदल चढ़ना पड़ता है।

बाबा बालक नाथ से सम्बन्धित एक कथा के अनुसार कहा जाता है कि हजारों वर्ष पूर्व गुजरात के काठियावाड़ क्षेत्र में एक बालक रहता था। जब वह 12 वर्ष का हुआ तो उसने अपना घर छोड़ दिया और हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों में भ्रमण करता हुआ पहुंच गया। चलते-चलते वह शिवालिक पहाड़ियों में घुमारवीं तहसील के गांव तलाई में पहुंच गया जहां एक बुढ़िया चन्द्रा अकेली रहा करती थी। इस बुढ़िया के नाम के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। कोई इसे रत्नों और कुछ कुम्हारी बताते हैं। बालक इस बुढ़िया के घर गया और कहा कि वह गरीब बालक है। बुढ़िया चाहे तो

वह रोटी के बदले उसके घर काम कर लिया करेगा। बुढ़िया ने सोचा कि वह खुद अकेली तो है ही, इसलिए यदि बालक उसके घर रह कर पशुओं को चुगाया करे तो उसे आराम मिल जायेगा। इस पर वह सहमत हो गई और बालक को अपने घर बतौर नौकर रख लिया। बालक ने नियमित पशु चुगाने शुरू कर दिए।

बालक पूरे दिन एक केले के पेड़ के नीचे बैठा तपस्या में लीन रहता और शाम के वक्त सभी पशुओं को लेकर वापिस घर लौट जाता। इसके बदले बुढ़िया उसे मक्की की रोटी और लस्सी दिया करती।

लोगों ने जब देखा कि बालक पूरे दिन पशुओं को स्वतन्त्र छोड़ कर खुद केले के पेड़ के नीचे बैठा रहता है तो उन्होंने एक दिन बुढ़िया से शिकायत कर दी कि उसके यहां रह रहे उसके नौकर ने उनकी फसल का पशुओं से नुकसान करवा दिया। सायंकाल जब बालक पशुओं को लेकर वापिस लौटा तो बुढ़िया का गुस्सा उस पर निकल पड़ा। उसे खूब डांट पड़ी लेकिन बालक ने विनम्रता से निवेदन किया कि लोग सत्य नहीं कहते हैं। यदि विश्वास नहीं है तो गांव वाले इकट्ठे होकर मेरे साथ चलकर देख लें कि मेरे पशुओं ने कहीं भी कोई नुकसान नहीं करवाया। सभी सहमत हो गए और उस स्थान पर चले गए जहां उनकी फसल को पशुओं ने खा लिया था। जब खेत में वे लोग पहुंचे तो यह देखकर हैरान रह गए कि फसल पहले से कहीं ज्यादा अच्छी उगी है। लोगों की शिकायत पर जो डांट बुढ़िया ने बालक को दी उसे वह सहन न कर सका और बुढ़िया को गांव के पास एक झाड़ी में ले गया और कहा कि उसने बुढ़िया का कुछ भी नहीं खाया है। बारह सालों तक जो रोटियां वह उसे देती रही वे सारी एक केले के पेड़ के नीचे उसी तरह सुरक्षित थीं। अब उसने एक गड्ढा दिखाया जहां सारी लस्सी एकत्रित करके रखी गई थी। बुढ़िया इस चमत्कार को देखकर आश्चर्यचकित रह गई। कहा जाता है कि शाह तलाई गांव का नाम इसी आधार पर पड़ा है। लस्सी को स्थानीय बोली में "छा" कहते हैं और "तलाई" तालाब को। यानि लस्सी का तालाब।

बालक के चमत्कार से गांव के लोग भी अब उसे साधारण बालक नहीं समझते थे। इन घटनाओं के बाद उस बालक से लोगों का स्नेह बढ़ गया था। एक दिन इसी गांव के एक तालाब के पास जब वह बालक बैठा था तो कुछ साधु वहां से गुजरे। उनमें एक महात्मा सिद्ध था। उस बालक और महात्मा में काफी समय तक धर्म के सम्बन्ध में बहस हुई। इस पर महात्मा ने उस बालक की गहराई को जानने के लिए अपनी गुटकी हवा में उछाल दी और बालक को उसे वापिस लाने के लिए कहा। बालक ने तत्काल उसे वापिस बुला लिया। लेकिन जब बालक ने अपनी छड़ी हवा में उछाली तो वह महात्मा उसे वापिस लाने में असमर्थ रह गया। इसके बाद उस तालाब में वे दोनों कहीं लुप्त हो गए। लोगों ने जब सुना कि बालक एक साधू के साथ तालाब में डूब गया तो उन्होंने उसे बहुत तलाश किया लेकिन वह नहीं मिला।

एक दिन इस गांव से लगभग तीन किलोमीटर दूर एक पहाड़ी पर कुछ

लोगों ने उन दोनों को एक साथ देखा। यहां एक गुफा थी। पहले तो लोगों को विश्वास नहीं हुआ लेकिन अब कई बार रात्री को उस गुफा में ज्योति भी दिखने लग पड़ी। लोग यहां आने एकत्रित हो गए। इसी के बाद लोगों ने उस बालक को ईश्वर का अवतार मान कर इसे गुफा में पूजना आरम्भ कर दिया और इस स्थान का नाम "बाबा बालक नाथ" पड़ गया। लोगों ने उसे साधारण बालक नहीं समझा था इसलिए "बाबा" शब्द प्रयुक्त हुआ जिससे वह "बाबा बालक" बन गया। वह महात्मा जिसके साथ अदृश्य हुआ उसके लिए "नाथ" शब्द का प्रयोग हुआ और "बाबा बालक नाथ" से यह स्थान प्रचलित हो गया। इसके बाद आस-पास के लोगों ने यहां पहुंचना शुरू किया। लोगों को उनके मन के भाव के साथ ही फल भी मिला और धीरे-धीरे यह स्थान प्रसिद्ध तीर्थ बन गया। इसे भगवान शिव का रूप भी मानत हैं। यहां कोई मन्दिर नहीं है लेकिन एक गुफा में बाबा बालक नाथ विराजमान हैं जहां रोज लोगों की भीड़ लगी रहती है। दूर-दूर से लोग अपनी इच्छा पूर्ति के लिए बाबा से आशीर्वाद लेने आते हैं और मनौनियां चढ़ाते हैं।

एक यह धारणा भी रही है कि यह बालक गुरु गोरखनाथ जी हैं। यहां आकर बुढ़िया के जो नौकरी बारह सालों तक उन्हें करनी पड़ी वह इसलिए की गई कि पूर्व जन्म में उस बुढ़िया का बाबा पर कुछ कर्ज था। ईश्वर भक्ति करने पर उन्हें यह आन्तरिक ज्ञान हुआ कि उनकी तपस्या तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक वह उस बुढ़िया का कर्ज नहीं चुकाएंगे। इस दृष्टि से वह बालक रूप में तलाई में आए और वहां पशु चुगा कर बुढ़िया का कर्ज उतार दिया। बजाए वापिस आने के उन्हें यहीं शिवालिक की इन पहाड़ियों में रहना पसन्द आ गया और आज तक अदृश्य शक्ति को उस गुफा में छोड़ कर वे लोगों की अपार श्रद्धा और आस्था का केन्द्र बने हुए हैं।

सुजानपुर के मन्दिर

हमीरपुर से 25 किलोमीटर की दूरी पर यह कस्बा ब्यास नदी के किनारे अपनी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर एवम् ऐतिहासिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। 1809-1810 ई० में कांगड़ा के किले पर महाराजा रणजीत सिंह ने कब्जा कर लिया जिसके कारण महाराजा संसार चन्द ने अपनी राजधानी यहां बसा ली थी। यहां से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर प्राचीन राजमहलों के खंडहर आज भी इसके मूक साक्षी हैं। 1905 में आए भूकम्प के कारण इन राजमहलों को भारी क्षति पहुंची थी।

यह स्थान चौगान के लिए भी बहुत प्रसिद्ध हैं। कांगड़ा चित्रकारी यहां की अमूल्य धरोहर है। टीहरा में महाराजा संसार चन्द द्वारा निर्मित बारहदरी की भव्य इमारत आज भी दर्शनीय है जहां वह अपना दरबार सजाया करते थे। यहां बारह राजाओं के लिए कक्ष स्थापित किए गए थे। इनमें बारह दरवाजे हैं जिनके कारण इसका नाम बारहदरी पड़ा है। प्रांगण के साथ बने महल महारानियों के निवास

हेतु थे। इस प्रांगण के मध्य लघु तालाब है जहां होली उत्सव का आयोजन किया जाता है। यहां एक ऐसा कक्ष भी है, जहां यदि कोई रानी किसी बात पर रुष्ट हो जाती तो महाराजा उन्हें मनाने वहां जाया करते थे क्योंकि रानी रुठ कर उस "अन्धेरी कोठरी" में चली जाती थी। यहीं एक विशाल तालाब भी है। इसे प्रकृति का अनूठा तालाब माना जाता है क्योंकि लोगों का यह मानना है कि यदि देश पर किसी किस्म की आपत्ति आने वाली हो तो इसका जल लाल हो जाता है।

सुजानपुर टीहरा एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थान भी है जहां आसपास कई प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। इन मन्दिरों में कांगड़ा चित्रकला के अनूठे भण्डार मौजूद हैं। ऐसा लगता है कि यह प्राचीन न होकर आज ही किसी चित्रकला ने बनाए हैं। कई मन्दिरों में तो राजा संसार चन्द ने स्वयं भी चित्रकला का प्रदर्शन किया है। यहां स्थित कुछ प्राचीन मन्दिरों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

गौरीशंकर मन्दिर सुजानपुर

सुजानपुर टीहरा महाराजा संसार चन्द के राज्य की राजधानी रही है जहां एक पहाड़ी पर गौरीशंकर का प्राचीन मन्दिर स्थित है। इस मन्दिर की समस्त दीवारें चित्रकारी से भरी पड़ी हैं। यह मन्दिर राजा संसार चन्द ने 1804 ई० में बनाया था। मन्दिर में चित्रकला के अभूतपूर्व नमूने हैं। इसकी दीवारों में मूलतः मन को लुभा देने वाली रंगीन चित्रकारी है जिसे दूसरे शब्दों में हम रोमांटिक कह सकते हैं। एक भित्ति चित्र में नव विवाहित जोड़े को दर्शाया गया है जिसमें शिव की प्रतिमा स्वयं संसार चन्द की तथा पारवती की उनकी रानी प्रसन्ना देवी की दर्शायी गई है। कुछ विद्वानों का यह भी मत रहा है कि राजा संसार चन्द ने इसे अपने निजी प्रयोग हेतु बनवाया था क्योंकि मन्दिर यहां के दुर्ग के भीतर है। यहां पहली बार पहाड़ी चित्रकला में पहाड़ों को चित्रित किया गया है और जब बाहर से मन्दिर के पीछे का दृश्य देखें तो वही पहाड़ वहां भी दिखाई देते हैं। कुछ विद्वान इसे 1793 ई० का मानते हैं। शिखर शैली में निर्मित इस में चांदी की शिव-पार्वती की सुन्दर मूर्ति है।

नर्वदेश्वर मन्दिर

नगर के प्रसिद्ध मन्दिर नर्वदेश्वर का निर्माण महाराजा संसार चन्द की रानी प्रसन्ना देवी ने 1802 ई० करवाया था। मन्दिर व्यास नदी के किनारे एक पहाड़ी पर निर्मित है। इसमें मुगल-राजपूत की मिश्रित राजस्थानी शैली का प्रयोग हुआ है। कांगड़ा के प्रख्यात पहाड़ी चित्रकला के चितेरों मनकु, निक्का, नयनसुख इत्यादि ने इस के भीतर दीवारों पर अद्भुत चित्रकारी की है जो अद्वितीय है। इनमें राधा-कृष्ण और शिव-पारवती के जीवन सम्बन्धी चित्र अति सूक्ष्म ढंग से उकेरे गए हैं। भगवान शिव को समर्पित होने के कारण इस मन्दिर के अधिकतर चित्र भगवान

शिव से सम्बन्धित हैं। कहीं शिव भगवान का विवाह पारवती के साथ दर्शाया गया है तो कहीं वे दोनों पहाड़ पर बैठे चित्रित किए गए हैं। साथ ही रामचन्द्र भगवान से सम्बन्धित विभिन्न मुद्राओं में सुन्दर चित्रकारी है। राजा संसार चन्द ने इस मन्दिर के निर्माण में बहुत दिलचस्पी ली थी, ऐसी धारणा है।

मुरली मनोहर मन्दिर

इस मन्दिर का निर्माण इसी नगर में बैजनाथ के मन्दिर की तरह राजा संसार चन्द ने अपनी माता की पुण्य स्मृति में करवाया था। मन्दिर के भित्ति चित्र अभूतपूर्व हैं और इनमें राधा-कृष्ण की जीवनी सूक्ष्म अद्‌भुत चित्रकला के माध्यम से दर्शायी गई है। कहा जाता है कि इस मन्दिर में राजा संसार चन्द ने अपनी माता की मूर्ति भी यहां स्थापित की थी लेकिन वर्तमान में ऐसी कोई प्रतिमा यहां नहीं है। केवल चित्रकारी ही इन मन्दिरों की भव्यता और प्रसिद्धि की अनूठी दास्तान है।

इनके अतिरिक्त राजा संसार चन्द द्वारा निर्मित 1790 ई० का लक्ष्मी नारायण मंदिर भी दर्शनीय हैं। इसमें लक्ष्मीनारायण की प्रतिमा स्थापित है। 19वीं शताब्दी में बना भगवान गणेश का मन्दिर भी प्रसिद्ध है।

महावीर मन्दिर मट्टन सिद्ध

यह गांव जिला हमीरपुर की डुग्घा पंचायत में बसा है। इसी गाँव की एक पहाड़ी पर शिमला से आने वाली सड़क से इस मन्दिर तक पहुंचा जाता है। सड़क से मन्दिर तक सीढ़ियां चली जाती है। यहां हनुमान की प्रतिमाओं के प्रकट होने की कथा रोचक है। कहा जाता है कि हमीरपुर निवासी एक युवक जो बचपन से ही हनुमान भक्त था, 20 वर्ष पूर्व घूमता हुआ यहां से आगे जा रहा था। तभी उसे झाड़ियों में एक प्रतिमा नजर आयी। वह कुछ देर रुका और फिर उसकी ओर चला गया। वहां देखा हनुमान जी की प्रतिमा जमीन पर गड़ी थी। इसे देख कर वह अचम्भित हो गया। वह साथ गांव गया और दराट लेकर प्रतिमा के चारों तरफ की झाड़ियां काट दी। वह इसे भगवान हनुमान जी की कृपा मानकर नियमित यहां पूजा करने लगा।

गांव के लोगों को भी जब पता लगा तो वे भी यहाँ आने शुरू हो गए। उन के सहयोग से इस युवक ने कुछ दिनों के बाद यहां कुश्ती का आयोजन किया जिसे हनुमान जी के आशीर्वाद से आयोजित किया गया।

कहा जाता है कि जिस दिन इस प्रतिमा के सामने मैदान में कुश्ती का आयोजन हुआ तो इस रात्री में इस युवक को स्वप्न हुआ कि जहां दिन में दंगल करवाया गया वहां हनुमान जी की प्रतिमा के साथ दो अन्य मूर्तियां प्रकट हो गई। इसी प्रेरणा से सुबह युवक उसी स्थान के लिए रवाना हो गया और जब वह वहां पहुंचा तो देखा कि सचमुच पूर्व स्थित मूर्ति के साथ अन्य दो प्रतिमाएं विद्यमान हैं। ये प्रतिमाएं भैरव और बाबा बालक नाथ की हैं। लोगों को जब इस चमत्कार का पता लगा तो असंख्य ग्रामीण

यहां आ पहुंचे और भगवान महावीर की दैव्य शक्ति से प्रभावित होकर यह स्थान उनकी आस्था का केन्द्र बन गया। इस स्थान की दूर-दूर तक महत्ता बढ़ने लगी और लोगों ने यहां एक मन्दिर का निर्माण करवा दिया। मन्दिर के आगे सुन्दर मैदान है जहां दंगल का आयोजन किया जाता है। लोगों का यह मानना है कि यहां मन्दिर निर्माण के उपरान्त उनकी मनोकामना पूर्ण हुई है। यहां जो भी लोग आते हैं महावीर उनकी अवश्य मनोइच्छा पूर्ण करते हैं। यह स्थान बहुत सुन्दर भी है।

4

मण्डी

3,950 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में फैले मण्डी जिले में अनेक प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार अकेले मण्डी जिले में लगभग 460 से अधिक देवी-देवताओं के मन्दिर स्थित हैं। मण्डी तहसील में ही 130 मन्दिर निर्मित हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार इस जिले की जनसंख्या 6,44,827 है। इसकी सीमाएं उत्तर में कांगड़ा-कुल्लू, पूर्व में कुल्लू जिले, पश्चिम में हमीरपुर तथा बिलासपुर और दक्षिण में बिलासपुर तथा शिमला जिलों के साथ लगती हैं।

इस क्षेत्र का भी प्रदेश के इतिहास में विशेष महत्व है। मण्डी और सुकेत इसकी प्रमुख रियासतें रही हैं। इन रियासतों की राजधानी मण्डी नगर, सुन्दर नगर और पांगणा में थी जिन्हें मिलाकर अन्य जिलों ही की तरह मण्डी को पूर्ण जिले का स्वरूप प्राप्त हुआ और मण्डी इसका मुख्यालय बना। मण्डी नामकरण के बारे में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं।

कुछ विद्वान मण्डी का नाम माण्डव्य ऋषि से मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि प्राचीन काल में यह प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र था। जहां ऋषि माण्डव्य तपस्या किया करते थे। पुराणों में इसका उल्लेख माण्डव्य नाम से मिलता है। इस बात के कुछ प्रमाण यहां के अति प्राचीन मन्दिरों में मिलते हैं। इन मन्दिरों में माता शीतला, जालपा तथा भीमाकाली के मन्दिर हैं। इनमें स्थापित कुछ प्राचीन मूर्तियां इसकी प्राचीनता को दर्शाती हैं। मण्डी शहर के भव्य और प्राचीन मन्दिर इसे छोटी काशी के नाम से पुकारने के लिए विवश कर देते हैं। इसलिए ही लोग हिमाचल का बनारस भी इस नगर को कहते हैं।

एक अन्य धारणा यह भी रही है कि यह नगर प्राचीन काल में एक व्यापारिक केन्द्र भी रहा है। क्योंकि यह कुल्लू-मनाली और लाहौल-स्पिति जाने वाले मार्ग में पड़ता था। व्यापारियों के आने-जाने के लिए पैदल मार्ग हुआ करते थे और यह स्थान इनका केन्द्र पड़ता था। आज भी हम किसी व्यापारिक केन्द्र को "मण्डी" के नाम से पुकारते हैं और हो सकता है कि व्यापारिक केन्द्र होने के कारण लोगों ने इसे मण्डी कहना शुरू कर दिया हो। रियासतों की स्थापना जहां सातवीं ई०पू० मानी जाती है

वहां मण्डी नगर की स्थापना राजा अजबरसेन द्वारा 1526 ई० में की गई थी। राजा ने इस स्थान को अपनी रियासत की राजधानी नियुक्त कर दिया जिस कारणवश आज यह जिले का मुख्यालय और प्रमुख ऐतिहासिक और धार्मिक स्थल भी है। मण्डी समुद्र-तल से 760 मीटर की ऊंचाई पर व्यास नदी के तट पर बसा है। यह शहर शिमला से 158 कि०मी०, चण्डीगढ़ से 202 कि०मी० और पठानकोट से 212 कि०मी० की दूरी पर स्थित है।

मण्डी जनपद में लगभग सभी धर्मों के मन्दिर स्थित हैं। मण्डी शहर में ही शैव और शाक्त धर्म के प्राचीन भव्य मन्दिर कला और धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। यहां बौद्ध धर्म भी प्रचलित है। आठवीं शताब्दी में गुरु पद्मसम्भव रिवालसर आए और कई सालों तक वहां बौद्ध का प्रचार करते रहे।

मण्डी के समस्त मन्दिरों को एक साथ एक ही अध्याय में लेना सम्भव नहीं है लेकिन कुछ महत्वपूर्ण मन्दिरों को इस अध्याय में लेने का प्रयास किया गया है।

भूतनाथ मन्दिर

भूतनाथ मन्दिर उतना ही पुराना माना जाता है जितना कि मण्डी शहर। मूलत: मण्डी शैव धर्म का प्रधान केन्द्र माना जाता है। प्राचीनकाल में यह स्थान शैव धर्म के लिए अति प्रसिद्ध था। यहां निर्मित प्राचीन शिव मन्दिरों की शृंखला में भूतनाथ मन्दिर का अधिक महत्व है। यह मण्डी शहर के मध्य में बना है। मन्दिर ऊंचा है कि शहर के किसी भी कोने से इसका शिखर अवलोकित हो जाता है। शिखर-शैली का इसे अनूठा उदाहरण माना जाता है।

मण्डी में राजा अजबर सेन ने 1500 से 1564 ई० तक राज्य किया। बताया जाता है कि जहां यह मन्दिर बना है वहां पहले बीहड़ जंगल हुआ करता था। आस-पास के गांव के लोग यहां दिनभर अपने पशुओं को चुगाया करते थे। व्यास नदी के तट पर बसे होने के कारण राजा अजबर सेन ने अपने राज्य की राजधानी हेतु यह स्थान नियुक्त किया। उसी समय यहां एक घटना घट गई। एक कपिला गाय झाड़ियों के मध्य रोज जाया करती और एक स्थान पर खड़ी होकर अपने थनों से दूध की धाराएं स्वत: ही नि:सृत करती रहती। शाम को घर में जब इस गाय को दूहते तो इसके थनों का दूध सूखा होता। इस पर घर वालों ने छानबीन की और एक दिन उस गाय का पीछा कर लिया। वह यह देखकर हैरान थे कि गाय किसी पत्थर पर खड़ी है और उसके थनों से स्वत: ही दूध की धारा प्रवाहित हो रही है। जब लोग वहां गए तो वहां उन्होंने देखा कि गाय का दूध एक शिला पर गिर रहा है जो लिंग की तरह।

ऐसा होना आश्चर्य से कम नहीं था। बात चारों तरफ फैल गई। राजा अजबर सेन को भी इस घटना का पता चल पड़ा। इसी मध्य राजा को स्वप्न में शिव भगवान ने दर्शन दिए और कहा कि यह सभी उन्हीं की माया है। इस स्थान में मैं भूतनाथ के रूप में कालान्तर से अवस्थित हूं। राजा ने सुबह यहां की यात्रा की और यह देखकर हैरान

हो गया कि झाड़ियों के मध्य एक शिवलिंग स्थापित है जिस पर वह गाय दूध दिया करती थी। अपनी राजधानी के बदलते ही भगवान की ऐसी कृपा से राजा धन्य हो गया। उसने मदिर की नींव के साथ ही अपनी राजधानी की नींव भी यहां रखी। यह बात 1527 ई० की है । मन्दिर निर्माण पूर्ण होने पर विधिवत् लिंग की प्रतिष्ठा की गई। महायज्ञ का आयोजन हुआ जिसमें मण्डी क्षेत्र के समस्त देवी-देवता आमन्त्रित किए गए। इस समारोह की नींव उसी दिन से पड़ी और आज यह पर्व महा शिवरात्री के रूप में आयोजित होता है। भूतनाथ भगवान शिव का ही रूप हैं। इसलिए यह देव शिवरात्री मेले के अधिष्ठातृ देव भी हैं।

मन्दिर के गर्भगृह में भगवान शिव की स्थापना लिंग रूप में है। साथ मण्डप निर्मित है। इसके स्तम्भों और गर्भगृह की द्वारशाखा पर उत्कृष्ट नक्काशी की गई है। शिखराकार मन्दिर कला और भव्यता का अनूठा उदाहरण है। प्रांगण में दरवाजे के समक्ष नन्दी की सुन्दर प्रतिमा स्थापित है। शिखर सोने के मढ़े हुए एक कलश से युक्त है जो दूर से चमचमाता रहता है।

भूतनाथ मन्दिर को मण्डी शहर के संस्थापक देव के रूप में भी स्मरण किया जाता है।

जनपदीय इष्टदेव के रूप में पूजनीय भूतनाथ मन्दिर में हजारों लोग पूजा हेतु आते रहते हैं। जब कभी सूखा पड़ जाए तो लोग इस मन्दिर में आकर भगवान शिव की आराधना करते हैं। ऐसी मान्यता है कि यदि व्यास का पानी निरन्तर शिवलिंग पर प्रवाहित करके पुनः व्यास में मिल जाए तो वर्षा हो जाती है। इस आस्था से सूखे की स्थिति में लोग एकत्रित होकर घड़ों में व्यास नदी से पानी लाकर भूतनाथ मन्दिर में स्थापित शिवलिंग पर गिराते रहते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि इस पानी की धारा व्यास नदी में न मिल जाए।

अर्द्धनारीश्वर मन्दिर

मण्डी के शिव मन्दिरों में अर्द्धनारीश्वर मन्दिर का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यह मन्दिर भी शिखराकार है। शहर में व्यास नदी के तट पर निर्मित इस मन्दिर को 16वीं शताब्दी का बताते हैं। एक प्रमाण के अनुसार मन्दिर को मियां कलेशर मण्डी निवासी ने 16वीं शताब्दी में बनवाया था। इसके गर्भगृह में स्थापित भव्य प्रतिमा अर्द्धनारीश्वर को समर्पित है। जिसमें दायीं ओर शिव और बाईं ओर पार्वती के रूप को दर्शाया गया है। प्रतिमा के पार्श्व में नन्दी और सिंह, शिव-पार्वती के वाहन के रूप में अवलोकित होते हैं। गर्भगृह के बाहर दरवाजे की शाखाओं पर गंगा और यमुना की अपने वाहनों पर आकृतियां बनाई गई हैं। मन्दिर के पीछे कार्तिकेय की प्रतिमा बनी है। इसके अतिरिक्त भैरव और कुछ योगियों की प्रतिमाएं भी मन्दिर में दर्शनीय हैं।

सभा मण्डप स्तम्भों पर सुन्दर नक्काशी है। इस मण्डप पर छत का ढांचा नहीं

है। इसके भीतर भी कई प्रतिमाएं रखी हैं। बाहर भीतर-पत्थर पर नक्काशी का उत्कृष्ट कार्य अनूठा है।

इस मन्दिर का वास्तविक स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है। यह उचित देख-रेख के अभाव में है। कई स्थानों से पीपल के वृक्ष की टहनियां दीवारों को फाड़कर ऊपर निकल चुकी हैं।

पंचवक्त्र महादेव मन्दिर

मण्डी के शैव भग्नावशेषों में पंचवक्त्र महादेव का मन्दिर सबसे प्राचीन माना जाता है। इस मन्दिर को भी राजा अजबर सेन ने निर्मित किया बताया जाता है। इसका निर्माण 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जाता है। यह भूतनाथ और त्रिलोकीनाथ मन्दिरों जैसा बनाया गया शिखराकार भव्य मन्दिर है। मन्दिर की छत में उत्तम किस्म का पत्थर प्रयुक्त किया गया है। मन्दिर के शिखर पर आमलक के साथ कलश नहीं है। गर्भगृह में भगवान पंचवक्त्र की पंचमुखी विशाल प्रतिमा स्थापित है। यह प्रतिमा धर्म, मूर्तिकला और आराधना की दृष्टि से अनूठी मानी जाती है। इस उत्तर भारतीय शिखर शैली में निर्मित मन्दिर में गर्भगृह और मण्डप भी बनाए गए हैं। मण्डप की छतें गिर चुकी हैं लेकिन दीवारें मौजूद हैं। इसमें की गई नक्काशी इस बात की ओर संकेत करती है कि यह मन्दिर कभी साज-सज्जा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और वैभवपूर्ण था।

मन्दिर का दरवाजा व्यास नदी की ओर है। दोनों ओर द्वारपाल हैं। कई स्थानों पर सांप की आकृतियां मौजूद हैं। नन्दी की मूर्ति भी भव्य है जिसका मुख गर्भगृह की ओर है।

राजा सिद्धसेन के समय व्यास में भयंकर बाढ़ आई थी जिससे इस मन्दिर को भारी क्षति पहुंची लेकिन पुनः इस मन्दिर का निर्माण राजा ने किया था। उचित देख-रेख के अभाव में मन्दिर की भव्यता नष्ट होती जा रही है।

त्रिलोकनाथ मन्दिर

भगवान शिव को समर्पित त्रिलोकनाथ मन्दिर को राजा अजबरसेन की रानी सुल्तान देवी ने बनवाया था। रानी ने विशेषकर इसे अपने राजपाट और स्वामी की सुख-समृद्धि के लिए 1520 ई० के आस-पास निर्मित करवाया और गर्भगृह में विशाल त्रिलोकनाथ की एक आदमकद प्रस्तर प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। इसमें भगवान शिव पार्वती को अपनी गोद में लिए नन्दी पर बैठे दर्शाए गए हैं। इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त मन्दिर में जगह-जगह कई अन्य प्रतिमाएं भी अवलोकनीय हैं। इनमें काली, विष्णु, गणेश, भैरव, और कुछ अन्य सुन्दर प्रतिमाएं प्रमुख हैं। मन्दिर की पिछली दीवार जहां ब्रह्मा जी की प्रतिमा स्थापित है उसके समस्त पत्थर पर लोकशैली में गणेश भगवान की मूर्ति दर्शनीय है। कई प्रस्तर प्रतिमा नृत्य मुद्राओं में हैं। मन्दिर का सभा मण्डप सुन्दर है। इसमें नन्दी की प्रस्तर प्रतिमा विद्यमान है।

मन्दिर के बाहर हनुमान जी की मूर्ति है जो उत्तम श्रेणी की है। परिसर में कई लघु शिवालय हैं जो जीर्ण-शीर्ण स्थिति में हैं। इनमें शिवलिंग देखे जा सकते हैं।

प्राचीनकाल में यह मन्दिर भगवान शिव की पूजा का प्रधान केन्द्र रहा है। भूतनाथ मन्दिर की ही तरह भव्य यह उत्तर भारतीय शिखर शैली का सजीव उदाहरण माना जाता है।

माधवराय मन्दिर

हालांकि मण्डी क्षेत्र में विशेषकर शैव धर्म का अधिक प्रभाव रहा लेकिन 17वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में वैष्णों धर्म का प्रचार भी हुआ। इस बात का प्रमाण मण्डी नगर में स्थित भगवान माधव राय के मन्दिर से मिलता है। यह मन्दिर अति प्राचीन माना जाता है। राजा सूरज सेन ने मण्डी रियासत पर 1637 से 1664 तक राज्य किया। बताया जाता है कि उनके 18 पुत्र थे जो सभी उनके जीवनकाल में ही स्वर्ग सिधार गए। राजा के वंश में अब कोई भी ऐसा न बचा जो इस शासन व्यवस्था को आगे चला सके। इसलिए किसी उत्तराधिकारी के न होने पर राज पुरोहितों ने राजा सूरज सेन को परामर्श दिया कि वह अपना समस्त राजपाठ भगवान माधवराय को सौंप दे। राजा ने ऐसा ही किया। 1658 ई० में सारा राजपाठ माधव राय को भेंट करके राजा ने एक प्रतिनिधि के रूप में रहना स्वीकार किया और भगवान की एक सुन्दर प्रतिभा बनवाई। यह प्रतिमा चांदी की है।

सम्भवत: इसी काल में यहां के विशाल शिवरात्री पर्व में भी परिवर्तन आया और इस उत्सव के देवाधिपति भगवान माधवराय अर्थात विष्णु बन गए। इसलिए आज तक यह परम्परा है कि इस उत्सव में जितने भी देवी-देवता पधारते हैं वे सभी प्रथम दिन भगवान माधवराय के मन्दिर में जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं और यही से एक विशाल शोभायात्रा का आयोजन किया जाता है। यही अवसर इस पर्व के शुभारम्भ का होता है।

इसलिए माधवराय मन्दिर राजा सूरज सेन के शासनकाल में ही निर्मित किया लगता है और इसी मन्दिर के बाद यहां वैष्णो धर्म का बोलबाला भी हुआ।

टारना देवी मन्दिर

टारना मन्दिर मण्डी शहर की टारना पहाड़ी पर स्थित है। शहर के बीच से सीढ़ियां बनी है जो मन्दिर तक चली गई है। इन सीढ़ियों के काफी ऊपर एक प्राचीन शिव मन्दिर हैं तथा कई अन्य मन्दिर भी बने हैं। शहर के एक ओर से सड़क द्वारा भी जाया जा सकता है। मन्दिर काफी स्थान में बना है और यहां से चारों की दृष्यावली अवलोकित होती है।

राजा श्याम सेन ने यहां 1664 से 1679 ई० पू० तक शासन किया और इसी दौरान उसने प्रसिद्ध काली मन्दिर बनाया जो श्याम काली के नाम से प्रसिद्ध है।

अब लोग टारना की पहाड़ी पर होने के कारण इस मन्दिर को टारना देवी ने नाम से ही पुकारते हैं। ऐसी भी धारणा है कि राजा श्याम से सुकेत के राजा पर विजय प्राप्त की थी और उसके बाद उसने इस मन्दिर की स्थापना की।

मन्दिर से जुड़ी एक और कथा के अनुसार राजा बलबीर सेन ने इस मन्दिर को बहुत ही आकर्षक बनाया था। एक बार राजा रणजीत सिंह ने अपनी रियासत के लिए अधिक कर वसूली की बात कही और बलबीर सेन ने उसे मानने से मना कर दिया। इस पर उसे राजा रणजीत सिंह ने पकड़ कर कैद कर दिया। राजा बहुत परेशान था। लेकिन वह अपनी कुल देवी श्यामा की निरन्तर उपासना किया करता था। इसलिए एक दिन देवी कन्या के रूप में प्रकट हो गई। राजा ने यह भी प्रतिज्ञा की कि वह वापिस मण्डी लौटने पर मां के मन्दिर को अत्यधिक सुन्दर रूप से सजाएगा। राजा कुछ दिनों के बाद जब मण्डी लौटा तो सबसे पहले मन्दिर गया और मन्दिर की साज सज्जा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। देवी की जिस गर्भ गृह में मूर्ति प्रतिष्ठापित है उसके पूरे स्थान को बाहर से कारीगर बुलाकर राजा ने सोने की पत्तियों से मढ़वा दिया। और आज भी वह सोने से अलंकृत गर्भ गृह उसी रूप में सुन्दर है। मन्दिर निर्माण कला में यह अनुपम और अनूठा उदाहरण है। यह सर्वमान्य है कि भारतवर्ष में इस तरह का मन्दिर और देखने में नहीं मिलता है। मन्दिर का परिसर विशाल है और मुख्य मन्दिर के चारों ओर परिक्रमा पथ निर्मित है जहां लोग परिक्रमा करते हैं।

धार्मिक दृष्टि से मन्दिर शक्ति पीठ माना जाता है। यहां देवी के दर्शन करने रोज लोग चले रहते हैं। मन्दिर में मूर्ति अवलोकनीय है। यह विशाल और भव्य हैं। और मूर्ति त्रिमुखी है। इसके साथ अनेक प्रतिमाएं भी रखी गई हैं। गणेश की प्रतिमा भी साथ है। देवी का एक और रूप महिषासुरमर्दिनी का यहां देखा जा सकता है। यह मूर्ति खड़ी है। भैरवी की मूर्ति भी देवी के साथ रखी गई है। प्रदक्षिणा मार्ग पर नव दुर्गा के चित्र चित्रित हैं।

मन्दिर में नियमित सफाई होती है जिससे यह मन्दिर ऐसा प्रतीत होता है कि हाल ही में बनाया गया हो। गर्भ गृह, जहां मां की मूर्ति स्थापित है, सोने के बेल-बूटे ऐसे दिखते हैं जैसे बिल्कुल नए हो। इसका कारण इसकी उचित देखभाल है। इस सोने की परतों पर कभी पालिश नहीं किया जाता—मन्दिर में धूप जलने से किसी तरह की धूल इत्यादि न बैठे इसके लिए मन्दिर के गर्भ गृह के बिल्कुल ऊपर रूई लगाई जाती है जो धूल को अपने में समेट लेती है और धूप में धुंए इत्यादि से बनावट और साज-सज्जा पर कोई असर नहीं पड़ता है। इस रूई को अक्सर बदला जाता है।

मन्दिर विशाल वृक्षों के मध्य निर्मित है। बाहर का स्थान भी साफ सुथरा है। इस मन्दिर की नियमित देखभाल और संरक्षण ही इसके मूल रूप को बरकरार रखने में सहायक हैं। मण्डी में अन्य प्राचीन मन्दिरों की इतनी देखभाल नहीं लगती जितनी इस मन्दिर की है।

मण्डी शहर में इन विशाल मन्दिरों के अतिरिक्त भी अन्य कई मन्दिर है जिनमें

नए बस स्टाप पर सिद्ध काली मन्दिर शमशानघाट के पास शिव मन्दिर, कामेश्वर महादेव मन्दिर इत्यादि मुख्य है। ये मन्दिर भी प्राचीन हैं लेकिन उचित देखभाल के अभाव में जीर्ण शीर्ण हो चुके हैं।

शहर के अन्य मन्दिरों में पड्डल मैदान के निकट जालपा देवी का मन्दिर 17वीं शताब्दी पूर्व का है। इसमें पत्थर की पाषाण प्रतिमा विद्यमान है।

पुरानी मण्डी में शीतला देवी का मन्दिर भी 17वीं शताब्दी पूर्व का है जिसमें अष्टधातु की देवी की प्रतिमा स्थापित हैं।

मण्डी नगर में सिद्ध भद्र मन्दिर का निर्माण 16वीं-17वीं शताब्दी के मध्य राजा सिद्ध सेन ने करवाया था। इसमें पाषाण पत्थर की देवी काली की प्रतिमा हैं। इसी राजा ने अपने शासनकाल में यहीं पर भटुका भैरव, शम्भू महादेव मन्दिर पड्डल, में बनवाए थे।

14वीं शताब्दी में निर्मित मण्डी शहर का जग्गनाथ मन्दिर जिसमें खड़ी पत्थर की प्रतिमा भगवान जग्गनाथ तथा विष्णु की कांस्य प्रतिमा स्थापित हैं। 18वीं शताब्दी का भगवान रामचन्द्र मन्दिर में विष्णु की पाषाण पत्थर की प्रतिमा दर्शनीय हैं।

रिवालसर तीर्थ

मण्डी से रिवालसर 24 किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं। यहां तक नियमित बस सेवा है। यह स्थान हिन्दुओं, सिक्खों और बौद्धों का धर्म केन्द्र हैं। यह प्रमाण यहां स्थित तीनों धर्मों के पूजा स्थलों से मिलता है। धार्मिक दृष्टि से रिवालसर की झील भी महत्वपूर्ण मानी गई हैं। इसका वर्णन स्कन्द पुराण तथा बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। यह माना जाता है कि यहां प्राचीन काल में एक बौद्ध मठ की स्थापना की गई थी।

आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पद्मसम्भव रिवालसर के स्थान पर कई सालों तक रहे।

यहां एक बौद्ध मठ अभी भी स्थापित हैं। झील के दूसरे किनारे ऊपर की ओर ऐतिहासिक गुरुद्वारा स्थित हैं। तथा एक किनारे पर ऋषि लोमश का मन्दिर जिसमें पत्थर का शिवलिंग स्थापित हैं। इस मन्दिर का निर्माणकाल 17वीं शताब्दी आंका जाता है।

बैशाखी में इस स्थान पर विशाल मेले का आयोजन होता है जिसमें तीनों धर्मों के लोग एक साथ पूजा हेतु एकत्रित होते हैं। झील में कुछ प्राकृतिक टीले हैं जो तैरते रहते हैं। बताया जाता है कि यह टीले गुरु पद्मसम्भव और उनकी एक शिष्या के प्रतीक चिह्न हैं।

ऋषि पराशर मन्दिर

पराशर ऋषि का प्राचीन मन्दिर मण्डी जिले से 40 मि० मी० दूर स्थित है।

इस मन्दिर तक मार्ग आठ किलोमीटर पैदल तय करना पड़ता है। मण्डी-कटौल राज मार्ग पर बागी नामक स्थान आता है, इसी जगह से मन्दिर के लिए पैदल मार्ग चला है। मन्दिर काष्ठ निर्मित है और पिरामिडाकार पैगोडा शैली का है। भीतर महर्षि की भव्य पाषाण प्रतिमा स्थित है। मन्दिर के साथ सुन्दर झील है जिसे पराशर झील के नाम से जाना जाता है। बिल्कुल एकान्त स्थान पर बने इस मन्दिर का विशेष महत्व है। यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य भी अनूठा है। लगभग 2550 मीटर की ऊंचाई पर बने इस मन्दिर की घाटी जहां दक्षिण की ओर 30 किलोमीटर नीचे सतलुज को स्पर्श करती है वहां उत्तर में लगभग 75 कि० मी० की दूरी पर लाहौल-स्पिति की गगनचुम्बी चोटियों का दृष्य अवलोकनीय होता है।

मन्दिर में प्रयुक्त लकड़ी पर की गई नक्काशी अद्वितीय है। इसमें भीतर की ओर पक्षियों, सांपों, बर्तनों, देवी-देवताओं, पेड़ों और पत्तियों की आकृतियां मन को छू जाती है। ऊपरी हिस्से में स्लेट की छत पड़ी हैं। इसके ऊपर लकड़ी का सुन्दर गुम्बद हैं। महर्षि पराशर की प्रतिमा के अतिरिक्त भीतर एक फ्रेम में चार भुजाओं वाली किसी देवी की प्रतिमां हैं। विद्वानों का मत है कि यह प्रतिमा गंगा की हैं।

बताया जाता है कि इस स्थान पर महर्षि ने तप किया था और बाद में उन्हें देवता के रूप में पूजा जाने लगा। देव रूप में उनका जन्म लोग यहीं मानते हैं। इसका प्रमाण भाद्रपद महीने की अमावस्या की पंचमी को "सौरा पांजू" लगने वाला मेला है जिसे जन्मोत्सव के रूप में आयोजित किया जाता है। एक अन्य मेला सौरा नाहुली आषाढ़ की सक्रान्ति को लगता है जिसमें कई देवी-देवता अपने पारम्परिक परिधानों, वाद्य यन्त्रों और रथों में सवार होकर यहां पधारते हैं। कुछ दूरी पर बांहदी गांव स्थित है जहां महर्षि पराशर का भण्डार है। पराशर ऋषि का रथ अन्य देवताओं की तरह सिर पर या कन्धों पर नहीं उठाया जाता, लोग उसे पीठ में उठाते हैं।

कुल्लू के कमांद नामक गांव में महर्षि ने घोर तप किया है, जहां उनका आदि आश्रम माना जाता है। इस गांव के कुछ ऊपर कोटी महाराजा में यह स्थान है।

पराशर मन्दिर तथा झील धार्मिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही लेकिन पर्यटन की पृष्टि से भी प्रसिद्ध हैं। यह स्थान अति सुन्दर माना जाता है।

देवता की शक्ति की एक घटना अति प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार गिद्धों ने इस झील में मरी हुई भैंस का सिर फेंक दिया था। इससे झील अपवित्र हो गई। उस समय मन्दिर में कोई पुजारी अथवा कारदार नहीं रहता था। ऐसा मन्दिर दूर होने के कारण था। इनसे झील का पानी धीरे-धीरे फैलता गया और उसमें आधा मन्दिर डूब गया। देवता का गूर उस दौरस्न खेतों में कार्य कर रहा था। कार्य करते हुए उसे पहाड़ी के ऊपर से जोर की आवाज सुनाई दी जिसमें कहा गया था कि ऋषि पराशर का मन्दिर डूब रहा है। गूर ने जैसे ही यह सुना वह काम छोड़ कर गांव आया और इस घटना से लोगों को अवगत करवा दिया। उसके साथ ग्रामीण निवासी भी चल पड़े। जब मन्दिर के पास पहुंचे तो बात सत्य निकली, मन्दिर डूब रहा था। तत्काल

उस गूर को दैव्य शक्ति प्रवेश हो गई और उसने झील में छलांग लगा दी। लोग दिन भर उसका इन्तजार करते रहे लेकिन न पानी कम हुआ और न ही वह बाहर निकला। हार कर लोग वापिस गांव आ गए और उस गूर को मृत ही समझ लिया। लेकिन चार-पांच दिनों के बाद गूर बाहर आया जिसके एक हाथ में भैंस का सिर था। बाहर आकर उसने वह सिर फेंक दिया। झील का पानी कम हो गया। लोगों को जब इस घटना का पता चला तो वह हैरान रह गए। उसके बाद नियमित पुजारी मन्दिर की पूजा करता है तथा यहीं रहता है।

यहां से 10 किलोमीटर की दूरी पर बांहदी गांव है, जहां ऋषि पराशर का भव्य भण्डार निर्मित है। इसमें ऋषि के पांच अष्टधातु के मोहरे स्थापित हैं। साल में यहां दो भव्य मेलों का आयोजन होता है। यह मेला ऋषि पराशर का जन्मोत्सव के रूप में मनाया जाता है। यह मेला सौरा पांजू के नाम से भाद्रपद मास की अमावस्या की पंचमी को लगता है। दूसरा मेला आषाढ़ की संक्रान्ति को लगता है जिसमें क्षेत्रीय लगभग तीस देवी-देवता यहां रथों में पधारते हैं। देवता पराशर का सुन्दर भव्य रथ है जिसे मेले में सजा कर लाया जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मेलों का आयोजन भी यहां किया जाता है।

धार्मिक स्थल के साथ यह स्थान प्राकृतिक सौन्दर्य का भण्डार है। चारों तरफ की घाटियां मानों इस परिसर की प्रहरी बन कर विराजमान हैं।

नबाही देवी मन्दिर

जिला मण्डी के सरकाघाट नामक स्थान से लगभग चार किलोमीटर की दूरी पर सड़क के किनारे बसे एक छोटे से गांव में माता नबाही का मन्दिर स्थित है। देवी के यहां प्रकट होने के उपरान्त ही लोगों ने अब इस गांव का नाम नबाही देवी रख लिया है जबकि कभी इस गांव का नाम संगरोह हुआ करता था। मण्डी नगर से यह स्थान 60 कि०मी० तथा घुमारवीं/बिलासपुर से 40 कि०मी० की दूरी पर है। मन्दिर के चारों तरफ सुन्दर बाग हैं। मन्दिर के उत्तर की ओर विभिन्न पेड़ों के मध्य एक तालाब है जिसमें सदैव कमल खिले रहते हैं। समुद्रतल से लगभग 750 मीटर की ऊंचाई पर स्थित यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य अति मनोरम है।

धारणा है कि प्रारम्भ में वर्तमान मन्दिर के साथ कुल मिलाकर नौ मन्दिरों का समूह हुआ करता था। यह समूह नव-दुर्गा का रूप माना जाता था लेकिन मुगल-काल में औरंगजेब की सेना ने नबाही के इस समूह को तोड़ डाला था। उसके बाद यहां के सभी मन्दिर जीर्ण-शीर्ण स्थिति में रहे लेकिन लोगों के मन में इस देवी के लिए श्रद्धा खत्म नहीं हुई और बीसवीं शताब्दी के मध्य यहां एक लघु मन्दिर का निर्माण हो गया। खुदाई करने पर पुरातन मन्दिरों के अवशेष और कुछ खण्डित प्रतिमाएं भी मिलीं जो प्राचीन मन्दिर समूह के प्रमाण थे। ये मूर्तियां अब वर्तमान मन्दिर के आंगन में स्थापित

हैं जो दर्शनीय ही नहीं अपितु उत्कृष्ट मूर्ति-कला निर्माण का नमूना भी मानी जाती है। मन्दिर में स्थापित मूर्ति प्राचीन न होकर नई है।

सड़क के साथ मन्दिर की ओर माता शीतला देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई है। मुख्य गेट पर स्थित इस प्रतिमा के दर्शन के बाद ही भीतर जाया जाता है। नबाही मन्दिर परिसर में कुछ ऋषि-मुनियों की समाधियां भी दर्शनीय हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि यहां इन महात्माओं ने तप किया है।

नबाही देवी लोगों की कुलजा अर्थात् कुल देवी है। मन्दिर संचालन हेतु एक कमेटी बनी है जो इस परिसर के उत्थान हेतु कार्य करती है। श्रावण में जहां यहां विशाल मेला लगता है वहां नवरात्रों में निरन्तर देवी पूजा और अनुष्ठान होते रहते हैं। देवी नव दुर्गा मानी जाती है क्योंकि इस देवी ने एक बंजारे को अपनी नौ बांहों के दर्शन दिए थे। यह रोचक कथा है जिसे लोग देव जन्म के साथ सुनाया करते हैं।

बताया जाता है कि एक बार वह चूड़ियां बेचने वाला इस गांव में चला आ रहा था। यह जंगल का रास्ता था और गर्मियों के दिन। पेड़ों की छांव देखकर कुछ पल आराम करने वह वहां बैठ गया। उसने चूड़ियों की गठड़ी एक ओर रख ली। आंख झपकते ही उसके स्वप्न में एक सुन्दर बालिका आई जिसने चूड़ियां पहनाने का आग्रह किया। वह तत्काल उठ गया और देखा कि एक कन्या उसके सामने बैठी है। उसे वह बहुत सुशील और सुन्दर लगी। उसने अपनी गठड़ी खोली और चूड़ियां पहनाने लग गया। उस बालिका ने बारी-बारी अपने नौ बाजू निकाले। हतप्रभ होकर बंजारे ने चूड़ियां तो पहना दीं लेकिन उस नौ बांहों वाली बालिका को साधारण न मानकर किसी दैव्य शक्ति के रूप में उसे देखने लगा। चूड़ियां पहन कर वह बालिका आंखों से ओझल हो गई। कुछ देर बाद शेर की सवारी पर नौ बांहों वाली वही लड़की पुनः देवी रूप में प्रकट हो गई। उसने बंजारे को आशीर्वाद दिया और फिर वहीं लुप्त हो गई। वह बंजारा इस चमत्कार को देखकर हैरान था।

उसके बाद निरन्तर गांव के लोगों को उस देवी के वहां दर्शन होने शुरू हो गए। यह समय आस्था और धर्म का था। लोगों ने एकत्रित होकर इस पर विचार-विमर्श किया होगा और जहां उस बंजारे ने कन्या को चूड़ियां पहनाई थीं वहीं नौ मन्दिरों का एक समूह बनवा दिया।

आज भी श्रद्धालु दूर-दूर से इस देवी से आशीर्वाद लेने आते-जाते रहते हैं।

मगरू महादेव छतरी

छतरी गांव मण्डी जिले की आखरी सीमा निर्धारित करता है। इस गाव से आनी क्षेत्र लगभग 8 कि०मी० दूर रह जाता है। मण्डी शहर से जहां यह मन्दिर 158 कि०मी० की दूरी पर समुद्रतल से 1750 मीटर की ऊंचाई पर बसा है वहां करसोग से केवल 45 कि०मी० की दूरी पर है। इस मन्दिर में जंजहैली के रास्ते से भी लोग

आते-जाते रहते हैं। यह रास्ता बहुत ही आकर्षक है। जंजहैली क्षेत्र प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर है। यहां का परिदृश्य देखते ही बनता है।

मगरू महादेव का यह प्राचीन मन्दिर सतलुज वर्गीय पहाड़ी शैली का उत्कृष्ट नमूना उत्तरी भारत के मन्दिरों में माना जाता है। मन्दिर तीन मंजिलों वाला है। बाहर से अवलोकन करने पर मन्दिर साधारण लगता है। मन्दिर के भीतर गर्भगृह की छत पूर्णतया नक्काशी से सजी है। इसकी छत पर अत्यन्त सूक्ष्मता से जो चित्रकारी की गई है वह अद्भुत और अद्वितीय है। इनमें कई युगों का जिक्र किया गया है। महाभारत के वीरों को दर्शाया गया है। एक स्थान पर राजा जनक जी हल चलाते हुए दिखाए गए हैं। एक जगह भीम को युद्ध करते हुए अवलोकित किया जा सकता है। ब्रह्माजी एक स्थान पर सृष्टि को रच रहे हैं। श्रीकृष्णलीला के चित्र भी मन को लुभा लेते हैं।

यह उत्कृष्ट चित्रकारी आश्चर्यपूर्ण है। इसी कारण आज इस मन्दिर को पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। कुछ लोगों का मत है कि यह मन्दिर 13वीं शताब्दी के मध्य का है। मन्दिर के भीतर शिव और पार्वती की पाषाण प्रतिमा उल्लेखनीय है। गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा पथ है। इस पथ पर भगवान के प्रहरी की मूर्ति भी दर्शनीय है। इसे मशाणू के नाम से भी पुकारते हैं। यह लकड़ी की प्रतिमा है।

मन्दिर निर्माण और लोक-कथाओं को लेकर काफी भिन्नता है। कुछ लोग मानते हैं कि यह मन्दिर एक ही पेड़ से निर्मित किया गया है। प्राचीनकाल में गांव के एक व्यक्ति ने देवदार का एक पेड़ काट दिया था। वास्तव में उसने वह पेड़ घर की लकड़ी के लिए काट गिराया था लेकिन बहुत यत्न करने पर भी यह कटा वृक्ष अपनी जगह से नहीं हिला। इस पर उस व्यक्ति ने ईश्वर को स्मरण किया तो उसे भविष्यवाणी हुई कि इसकी लकड़ी मन्दिर निर्माण में ही लगाई जाए। गांव के लोगों ने जब ऐसा सुना तो उसी निर्देश के अनुसार उस पेड़ से यह मन्दिर निर्मित हुआ। इससे पूर्व मन्दिर में स्थापित मूर्ति के प्रकट होने की घटना घट चुकी थी। यह मूर्ति एक ग्रामीण को हल चलाते छतरी गांव से दूर स्वान नामक गांव में मिली थी। देवता की आज्ञा से उस मूर्ति को यहां स्थापित कर लिया गया।

वर्ष भर यहां मेलों की भरमार लगी रहती है। दूर-दूर से लोग यहां दर्शनार्थ आते रहते हैं।

हुरंग नारायण

हुरंग नारायण देवता के मण्डी के जियाजी और टण्डारी नामक गांवों में मन्दिर निर्मित है। यह देवता इस क्षेत्र के लोगों के सुख-दुख का साथी माना जाता है। इस देवता के प्रकट होने की अत्यन्त रोचक कथा कही जाती है।

मण्डी क्षेत्र में गुमा नामक स्थान नमक की खान के लिए प्रसिद्ध था। यहां आज

भी नमक की खानें हैं। लोग यहां से प्राचीन समय में पैदल चलकर नमक लाया करते थे। एक दिन जियाणी, भमतीर इत्यादि गांव के लोग गुमा नमक लाने चले गए। वापसी में जब ये लोग किल्टों में नमक लेकर आ रहे थे तो कुछ वे लोग जो अधिक बलवान थे आगे निकल पड़े और कुछ काफी पीछे रह गए। इनमें एक गांव का लंगड़ा व्यक्ति भी था जो किल्टा उठाकर धीरे-धीरे चला आ रहा था। रास्ता चढ़ाई वाला था इसलिए वह थक भी गया था। उसका सांस फूल गया। तभी उसकी नजर रास्ते के किनारे एक वृद्ध पर पड़ी। वह उसके सहारे कुछ आगे आया और आराम करने बैठ गया। तभी उठकर वह बूढ़ा व्यक्ति उसके पास आया और कहने लगा—

"हे भाई मुझे किल्टे में उठाकर ले चल न।"

लंगड़ा युवक उसको आश्चर्य से देखने लगा और एकदम उसने कह दिया—

"अरे दिखता नहीं, मैं खुद पहले ही परेशान हूं। अपना बोझ तो उठाया नहीं जाता। ऊपर से तू कहता है कि उठाकर ले चल।"

लेकिन वह वृद्ध नहीं माना और जबरदस्ती ही उसके किल्टे में चढ़ गया। चढ़ते हुए उसने एक शर्त रखी कि वह किल्टा कहीं नहीं रखेगा। युवक ने मन के बाहर नमक की गठड़ी पर उसे बिठा दिया। किल्टा उठाया तो वह हल्का था। अब उसकी चाल भी तेज हो गई और पल-भर में उसने अपने सभी साथियों को पीछे छोड़ दिया।

गांव से कुछ दूर उसे किल्टे में चढ़े व्यक्ति की याद आई। उसने सोचा कि उसे देख लिया जाए। क्योंकि वह न बात कर रहा था न किल्टा भारी था। उसने जैसे ही किल्टा जमीन पर छोड़ा बूढ़े ने एकदम छलांग लगाई और कहा, "मैं हुरंग नारायण हूं।" मैं तेरे घर चलना चाहता था लेकिन तुमने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया। अब मैं यहीं रहूंगा। लेकिन तू मुझे यहां तक उठाकर लाया इसलिए तेरा घर सुख-समृद्धि से भर जाएगा। ऐसा ही हुआ। उसने लोगों को वह बात बताई और देखा कि उसका किल्टा एक जगह गड़ा है। यहां पर फिर हुरंग नारायण का मन्दिर बनाया गया। बाद में रथ छत्तर बनाए गए। यहां से हुरंग टण्डारी गांव में भी पैदा हुआ जहां उसका मन्दिर बना। मण्डी जनपद का यह प्रसिद्ध देवता माना जाता है।

कमरू नाग मन्दिर

मण्डी की पूर्वी-दक्षिणी सीमा पर श्री कमरूनाग मन्दिर चच्योट तहसील में स्थित है। शिमला-मण्डी सड़क जो वाया करसोग जाती है, इसी पर स्थित चौकी नामक स्थान से इस मन्दिर तक पैदल पहुंचा जा सकता है। मन्दिर ऊंचाई पर है और यहां तक का रास्ता कठिन होने के साथ सुन्दर है। मन्दिर के समक्ष प्राकृतिक झील है जिसे मन्दिर के नाम से ही कामरू झील से जाना जाता है। कालान्तर से ही इस झील में धार्मिक दृष्टि से लोग धन तथा सोना-चांदी डालते रहे हैं जिससे यह माना जाता है कि इस झील में अरबों रुपये की सम्पत्ति हो सकती है।

श्री कमरूनाग के जन्म सम्बन्धी कथा के अनुसार इन्हें सर्प-यज्ञ के उपरान्त

नागों में शिरोधिपति बासुकि नाग के भांदल में से निकले बच्चों में से एक माना जाता है। यह नाग बाल्यकाल में मण्डी क्षेत्र की तरफ चला आया था और वहां एक विकट और प्राकृतिक सम्पदा से पूर्ण एकान्त और शान्तमय स्थान में अपना वास ढूंढ लिया। यहीं बासुकि ने कई सालों घोर तपस्या की। यह शिव का अनन्य भक्त बन गया। भगवान शिव जब बासुकि की तपस्या से पूर्ण हो गए तो एक दिन यहीं पर उन्होंने अपने शिष्य को दर्शन दे दिए और मनवांछित वरदान मांगने के लिए कहा। इस पर बासुकि ने उनसे पाशुपतास्त्र मांग लिया और भगवान ने प्रसन्न होकर बासुकि को अपना यह शक्तिशाली अस्त्र दे दिया। इसके बाद श्री बासुकि नाग निरन्तर लोगों के दिल में अपने कई कार्यों से जगह बनाते रहे और श्री रत्न नाम से प्रचलित हुए। इन्होंने लोगों की कई तरह से रक्षा की। उन पर हो रहे विभिन्न अत्याचारों को खत्म कर दिया। लोगों ने इस शक्तिशाली युवक को अपना राजा घोषित किया और एक बृहद् क्षेत्र श्री बासुकि नाग की परिधि में आ गया।

इन्हीं दिनों महाभारत युद्ध होने वाला था। क्योंकि धर्म की रक्षा करना इस महाराजा का धर्म था इसलिए धर्म का पक्ष लेकर बासुकि राजा के रूप में पाण्डव पक्ष में अपनी सेना लेकर युद्ध के लिए चल पड़ा लेकिन एक घटना में यह भी कहा जाता है बासुकि किसी के पक्ष में नहीं था। चलते-चलते उनकी भेंट भगवान श्रीकृष्ण से हो गई। एक अपरिचित राजा को देखकर श्रीकृष्ण ने जब उनसे पूछा तो बासुकि का उत्तर था कि वह उसी के पक्ष में लड़ेगा जो इस युद्ध में हार रहा हो और उसमें इतनी शक्ति है कि वह हार को जीत बना देगा। एक साधारण राजा दिखने वाले इस राजा के मुख से एक आत्मविश्वास पूर्ण ऐसे शब्द सुनकर श्रीकृष्ण विस्मय में पड़ गए। उन्होंने बासुकि को अपने बल का प्रमाण देने को कहा। तभी श्री बासुकि नाग ने भगवान श्रीकृष्ण को बताया कि सामने जो पीपल का पेड़ है वह एक बाण चलाकर उसके सभी पत्ते बींध देगा। उसने बाण चलाया और पलभर में सभी पत्तों को बींध दिया। श्रीकृष्ण यह देखकर हैरान रह गए कि एक पत्ता जो उन्होंने अपने पांव के नीचे छुपा रखा है वह भी बींध गया।

भगवान श्रीकृष्ण को विश्वास हो गया कि यह राजा खतरनाक सिद्ध हो सकता है। एक दृढ़ विश्वास से बासुकि अपनी सेना के साथ आगे निकल पड़ा। श्रीकृष्ण जी ने ब्राह्मण का रूप धारण करने की सोची क्योंकि छल से ही इस महान योद्धा की शक्ति छीनी जा सकती थी। रास्ते में श्रीकृष्ण जी जब ब्राह्मण भेष में उसको मिले तो उन्होंने उनसे युद्ध से पूर्व दान मांग लिया। राजा ने दान देने का वचन दे दिया। इस पर श्रीकृष्ण ने राजा का सिर मांगा। एक पल के लिए श्री रत्न असमंजस में पड़ गए लेकिन दूसरे पल ही उन्हें अपने वचन की याद आ गई। अब उनके पास रास्ता ही कुछ नहीं था। रत्न ने अपना सिर देने से पूर्व एक शर्त रखी कि उनका सिर काट कर किसी ऊंची जगह में रखा जाए ताकि वह युद्ध की सारी घटना देख सके। श्रीकृष्ण ने ऐसा ही किया। (इसी तरह की कथा श्री गुल के बारे में भी कही गई है)

बताया जाता है कि युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद पाण्डव आपस में वाद-विवाद करने लगे कि युद्ध में विजय किस कारण हुई। वह कुछ निर्णय नहीं ले पा रहे थे। उन्हें याद आया कि श्रीकृष्ण ने एक राजा का सर ऊंचाई में टांग रखा है। वे सभी उनके पास गए और इस विजय का कारण पूछा। तब उस राजा ने कहा कि इस युद्ध में केवल भगवान श्रीकृष्ण का बल ही लड़ रहा था जिसके कारण धर्म की विजय सम्भव हो पाई है। सबने यह बात मान ली। पाण्डवों ने राजा से कुछ मांगने के लिए कहा तो राजा ने यह इच्छा की कि मुझे अपने देश वापस ले जाया जाए ताकि मरने के बाद भी लोगों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो सके। पाण्डवों ने ऐसा ही किया। वे सर को श्रद्धापूर्वक लेकर उसी सीमा में पहुंचे जहाँ पहले बासुकि ने तपस्या की थी। यहां एक झील के किनारे जो समुद्रतल से लगभग आठ हजार फुट की ऊंचाई पर थी, एक मन्दिर बनाकर उस सर को उसमें स्थापित कर दिया। यह दिन मन्दिर की स्थापना और बासुकि नाग के जन्म से सम्बन्धित दिन माना जाता है और आषाढ़ का दिन होने पर प्रति वर्ष हजारों लोग यहां पर एकत्रित होते हैं। यहां इस दिन एक विशाल मेले का आयोजन किया जाता है। झील में स्नान करना लोग धर्म मानते हैं। मन्दिर के स्थापित करने हेतु पाण्डव जो बहुमूल्य वस्तुएं लाए थे उन्होंने उसे इस झील में फेंक दिया और तभी से यह एक परम्परा बनी जो आज भी प्रचलित है। लोग देवता के नाम पर श्रद्धानुसार पैसे, धन सोना और चांदी इसमें फेंकते हैं। इस मन्दिर में लोग घास की पूलें पहन कर देवता की पूजा करते है।

देवता सम्बन्धी एक घटना यह भी प्रचलित है कि जब दूर होने के कारण लोग यहां पूजा के लिए नहीं गए तो बासुकि को चिन्ता हो गई। उन्होंने अपने बल से सम्पूर्ण मण्डी क्षेत्र में अकाल पैदा कर दिया। लोग परेशान हो गए। तत्कालीन राजा चिन्तित था। एक रात उसे स्वप्न में केवल धड़ दिखाई दिया। अपना पूर्ण परिचय देने के बाद राजा को देवता ने आदेश दिया कि उसकी कमरूनाग के रूप में पूजा की जाए तभी यह प्रकोप खत्म हो सकता है। राजा ने अपने दरबारियों को यह कहानी सुनाई और सामुहिक निर्णय लिया गया कि वहां जाकर सभी लोग पूजा करेंगे। ऐसा ही हुआ और क्षेत्र पर इसके बाद प्राकृतिक प्रकोप समाप्त हो गया। इससे लोगों में देवता के प्रति गहन आस्था हो गई।

शिव रात्री में इस देवता का बहुत महत्व माना जाता है। क्षेत्र के लोग बासुकि के चमत्कार और शक्ति के कई किस्से सुनाते रहते हैं। वैसे भी आज तक जिसने यहां जाकर सच्चे हृदय से जो मांगा वह उसे मिला। कहा जाता है कि एक बार कुछ शरारती लोगों ने झील में लुप्त सम्पत्ति को निकालने की योजना बनाई। उन्होंने झील के किनारे कई छेद कर दिये ताकि पानी समाप्त होकर सम्पत्ति हाथ लग जाए। लेकिन छेदों से जो पानी बहा उसने एक भयंकर बाढ़ का रूप ले लिया जिससे मण्डी के महल इत्यादि बहने का डर पैदा हो गया। लोगों ने कामरू जा कर निवेदन करना चाहा।

वहां गए तो वास्तविकता का पता चला। देवता से क्षमा मांगने के बाद यह विपत्ति टल गई। जिन लोगों ने ऐसा किया था उनकी आंखों की रोशनी जाती रही।

दूर-दूर से लोग यहां मनौतियां चढ़ाने आते रहते हैं। लोग श्रद्धा से कमरूनाग को अपने गांव से समय-समय पर जातरों के लिए भी ले जाते हैं। परम्पराएं और रीति-रिवाज प्राचीन हैं जो इस मन्दिर और इसके अस्तित्व के मूलाधार हैं। विरासत में मिली संस्कृति का यह मन्दिर अनूठा उदाहरण पेश करता है।

करसोग घाटी के मन्दिर

जिला मण्डी की करसोग घाटी अति रमणीक स्थली है। चारों तरफ से अनेकों पर्वत शृंखलाओं ने इस घाटी को जैसे अपनी गोदी में बसा लिया हो। करसोग क्षेत्र इन पर्वत मालाओं के मध्य समतल प्रांगण सा जान पड़ता है जिसके मध्य दूर-दूर तक फैले गांव, सीढ़ीनुमा खेत और उनके मध्य बहती पहाड़ी नदियां मन को मोह लेती हैं। प्राकृतिक सुन्दरता के साथ यह क्षेत्र अपनी प्राचीन संस्कृति और परम्परा के लिए भी समृद्धशाली है। इस घाटी में चारों तरफ अनेक मन्दिर निर्मित हैं जिनकी कालान्तर से मान्यता है और प्रमुख पूजा स्थल हैं। इनमें नागपूजा केन्द्र, शक्ति और शिव केन्द्र प्रमुख हैं। कुछ ऐसे ही प्रसिद्ध मन्दिरों का यहां वर्णन किया जा रहा है।—करसोग मण्डी से 120 कि०मी० और शिमला से 128 किलोमीटर के करीब है।

ममलेश्वर महादेव मन्दिर

ममलेश्वर महादेव का प्राचीन मन्दिर करसोग बाजार से लगभग डेढ़ किलो-मीटर की दूरी पर ममेल गांव के मध्य निर्मित है। यहां तक बस द्वारा या निजी वाहन से यात्रा की जा सकती है। मन्दिर परिसर में प्रवेश होते ही बरामदे में धुनि पर नजर जाती है। यह धुनि रात-दिन जलती रहती है और बताया जाता है कि जबसे यह मन्दिर बना है तब से यह धुनि इसी तरह जल रही है। इसकी आग कभी भी नहीं बुझती है। आश्चर्य की बात है कि इस धुनि में से आज तक भी जली हुई लकड़ियों की राख नहीं निकाली गई है। इसकी राख न कम होती है और न ज्यादा। इस राख को लोग भभूति के रूप में प्रयोग करते हैं। यह बताया जाता है कि यदि इस धुनि की कभी आग बुझ जाए तो इसको जलाया नहीं जा सकता। यहां से 15 किलोमीटर की दूरी पर माहूनाग मन्दिर स्थित है। वहां भी इसी तरह की अखण्ड धुनि जल रही है। इस धुनि से परम्परानुसार एक बकरे की पीठ पर आग ममलेश्वर महादेव मन्दिर लाई जाती है, जिससे इस धुनि को जलाया जा सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि इसकी आग एक-दो बार किसी देव प्रकोप के कारण बुझ चुकी है लेकिर अधिकतर लोग यही कहते हैं कि इसकी आग कभी भी नहीं बुझती।

मन्दिर को पाण्डवों द्वारा निर्मित बताया जाता है। मन्दिर को पैगोडा मिश्रित शैली में बनाया गया है। पत्थर और विशाल पेड़ के खम्बों पर मन्दिर का निर्माण चौका

देता है। इसकी छत ढलवां है जिसमें पेगोडा शैली में लघु छते जोड़ी गई है। मन्दिर की काष्ठकला अनूठी और उत्कृष्ठ है। विभिन्न देवी-देवताओं की काष्ठ पर नक्काशी द्वारा आकृतियां उकेरी गई हैं। मन्दिर के गर्भगृह के चारों तरफ परिक्रमा पथ हैं। इसमें अनेकों प्रस्तर पत्थर की प्रतिमाएं रखी गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लकड़ी के पूरे पेड़ ही उठाकर मन्दिर में लगा दिए गए हों। लोगों का मानना है कि यहां ऋषि भृगु ने भी तपस्या की है। लेकिन एक दिन ममलेष नामक कन्या ने उनकी तपस्या भंग कर दी थी।

एक अन्य दन्त कथा के अनुसार भगवान परशुराम ने महाभारत युद्ध के बाद अपने कई शिष्य यहां तपस्या करने भेजे थे। वे खुद भी यहां आये थे। यह धारणा भी है कि युद्ध से पूर्व परशुराम जी यहाँ तपस्या किया करते थे। युद्ध में जब राम ने रावण को धराशायी किया तो उनकी मुक्ति नहीं हो रही थी। यह तभी सम्भव था यदि परशुराम जी के तपस्या स्थल पर रावण भगवान शिव की प्रतिमा स्थापित कर दे। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं था। इसलिए भगवान राम ने लंका से शिव भगवान की प्रतिमा को फेंका था जो उड़ कर यहाँ स्थापित हुई और रावण को मुक्ति मिल गई। यह भी बताया जाता है कि परशुराम जी ने करसोग घाटी में 80 शिव लिंगों की स्थापना की थी और 81वां शिव लिंग भगवान शिव की प्रतिमा के रूप में इस मन्दिर में स्थापित किया गया था। मन्दिर के गर्भगृह में शिव की प्रतिमा अवलोकनीय है।

मन्दिर में कुछ पुरातन वस्तुएं आश्चर्यचकित कर देती हैं। इनमें एक भेखल का ढोल और ढाई सौ ग्राम गेहूं का दाना दर्शनीय है। भेखल का ढोल काफी बड़ा है। अब इस वृक्ष का तना इतना बड़ा नहीं होता। गेहूं का दाना एक चांदी के खोले में सुरक्षित रखा गया है। पुरातात्विक दृष्टि से इस मन्दिर का विशेष महत्व है। पुरातत्व विभाग के अधीन इस मन्दिर में विभाग की ओर से कर्मचारी तैनात हैं।

मन्दिर में जहां मूर्ति गर्भगृह में स्थापित है, लोगों का कहना है कि यहां से एक भूमिगत कोठरी की सीढ़ियां हैं। इस मन्दिर की इस कोठरी में कोई नहीं जा सकता है। सम्बन्धित लोगों द्वारा कई बार भीतर जाने के प्रयास भी किए गए लेकिन सांपों की फुंकार और भयंकर गर्जना किसी को भीतर नहीं जाने देती। हो सकता है कि इस कोठरी में कुछ पुरातन दस्तावेज और मन्दिर से सम्बन्धी सामग्री पड़ी हो।

यहां भुण्डायज्ञ का आयोजन भी होता रहा है लेकिन अब इस यज्ञ को बन्द कर दिया गया है। विजय दशमी को प्रतिवर्ष एक विशाल मेले का यहां आयोजन किया जाता है। यहां भुण्डा से सम्बन्धित एक विशाल रस्सा अभी भी देखा जा सकता है।

पण्डितों का कहना है कि इस स्थान को उत्तराखण्ड की देव काशी का स्थान प्राप्त है। क्योंकि प्राचीन समय में यह शैव धर्म का प्रधान केन्द्र रहा है। यह कालान्तर से एक महायज्ञ होता रहा है जिसमें पर्वतीय क्षेत्रों में बसे देवी-देवता भाग लेते थे। लेकिन कई सालों से यह यज्ञ नहीं हो रहा है। अन्तिम बार यह यज्ञ काशी के महाराजा

धिराज ने करवाया था जो 104वां यज्ञ था। शायद धन के अभाव के कारण अब यह परम्परा खत्म हो गई हो।

4 मार्च, 1989 को इस स्थान में एक विशाल शिव लिंग भी खदाई करते हुए मिला है। हालांकि प्राचीन समय में मन्दिर के नष्ट होने से यह लिंग भूमि में दब गया हो लेकिन लोग इसे प्रकृति का चमत्कार मानते हैं। संयोगवश यह दिन महा शिवरात्री का ही था और जैसे ही शिवलिंग जमीन में निकला हजारों लोगों की भीड़ इसे देखने उमड़ पड़ी थी। उसके बाद निरन्तर लोग यहां आने शुरू हो गए। वैसे भी दिन-प्रति-दिन श्रद्धालु दर्शनार्थ यहां आते रहते हैं। जिस तरह खुदाई में यह शिवलिंग प्राप्त हुआ है इसी तरह और भी प्राचीन अवशेष यहां मिलने की सम्भावना है।

एक धारणा यह भी है कि भगवान परशुराम ने तपस्या के बाद यहां भगवान शिव की प्रतिमा स्थापित करनी चाही थी और शिवलिंग भी लेकिन जितनी भी प्रतिमाएं निर्मित की जाती रहीं वह एक-एक करके उड़ जाती थीं। इसलिए 81वीं मूर्ति यहां स्थापित हो गई थी।

कामक्षा देवी मन्दिर

पाण्डवों द्वारा निर्मित मां कामक्षा मन्दिर करसोग के मुख्य बाजार से लगभग सात किलोमीटर दूर कावो गांव में स्थित है। यह बस योग्य सड़क का अन्तिम छोर है। करसोग घाटी में अन्य मन्दिरों की अपेक्षा यह कई कारणों से अपनी अलग विशिष्टता बनाए हुए है। शायद हिमाचल प्रदेश के प्राचीन मन्दिरों की शृंखला में कामक्षा मन्दिर ही वर्तमान में ऐसा एकमात्र मन्दिर है जहां नवरात्रों में लोग अपनी इच्छा-मनोकामना पूर्ण होने पर मां कामक्षा को भैंसा भेंट करते हैं और मन्दिर के द्वार पर माता की मूर्ति के बिल्कुल समक्ष उनकी बलियां दी जाती हैं। हजारों लोगों की भीड़ के बीच जब इन भैंसों का सर बारी-बारी काटा जाता है तो इस समय का यह दृश्य मन को दहला देने वाला होता है।

कावो ग्राम का जो मुख्य बाजार है उसके दायीं ओर तीन-चार सीढ़ियां चढ़ने के बाद कामक्षा मन्दिर के प्रांगण में पहुंचा जाता है। मन्दिर निर्माण में स्थानीय लकड़ी और छवाई में स्लेटों का प्रयोग मार्मिक और उस जमाने की कला का उत्कृष्ट नमूना है। मन्दिर निर्माण में जिस तरह की भरकम सामग्री का प्रयोग हुआ है और भीतर जिस तरह की कुछ पुरानी वस्तुएं रखी गई हैं इससे इस बात में तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि यह सभी कार्य किन्हीं महात्माओं और योद्धाओं ने ही किया होगा। मन्दिर में अति प्राचीन मूर्तियां हैं। यहां भेखल वृक्ष के ढोल भी अति प्राचीन है। यह ढोल इस बात के साक्षी हैं कि जिस वक्त उनको भेखल वृक्ष से बनाया होगा यह पेड़ कितना भारी होता होगा, क्योंकि अब हिमाचल प्रदेश में जहां भी यह पेड़ होता है केवल तीन या चार इंच मोटाई से ज्यादा नहीं होता।

मन्दिर के बिल्कुल समक्ष धूना लगा रहता है जहां इधर-उधर से आए महात्मा

लोगों को बैठे देखा जा सकता है। मुख्य मन्दिर में प्रवेश करने पर दांई ओर भेखल का ढोल लटकाया देखा जा सकता है, जिसकी लम्बाई ढाई से तीन और चौड़ाई तीन फुट के लगभग है। इसी तरफ भगवान विष्णु और मां लक्ष्मी की मूर्तियां स्थापित है। मन्दिर के गर्भभाग में मां कामक्षा की मूर्ति विशेष आकर्षक परिधानों में स्थित हैं। यह मूर्ति एक सिंहासन पर विराजमान चतुर्भुज है जो शेर की सवारी पर है। सिंहासन के नीचे शेर बने देखे जा सकते हैं जिनके बीच में गणेश जी की प्रतिमा है। मां कामक्षा की मूर्ति के चारों तरफ भी कई छोटी-छोटी मूर्तियां निर्मित हैं। सिंहासन के सामने यज्ञ कुण्ड है, कहा जाता है कि इस कुण्ड में कभी मानव बलि होती रही है। यज्ञकुण्ड ऊपर से बन्द है तथा सौ सालों के पश्चात् खोलने की रस्म/नियम है। परन्तु सौ साल बीत जाने के बाद भी इसे नहीं खोला जा रहा है। लोगों का कहना है कि जिस नियम से यह यज्ञ होता था और इस हवनकुण्ड को खोला जाता था उसका सही ज्ञान किसी को भी नहीं है, जिससे इसे खोलने पर किसी अनहोनी घटना के घट जाने का भय आम लोगों में व्याप्त है। कुछ वर्षों पूर्व इस मन्दिर में सहस्त्र चण्डी यज्ञ भी हुआ था जिसमें काशी से बड़े-बड़े विद्वान लोग पधारे थे लेकिन सर्वसम्मति से यही निर्णय हुआ कि हवनकुण्ड न खोला जाए।

मन्दिर में सिंहासन पर जो अष्टधातु की मूर्ति है वह वास्तव में मां महिषासुर-मर्दिनी की है। सिंहासन में प्राचीन भाषा भी अंकित है लेकिन आम आदमी उस भाषा को पढ़ नहीं पाता है, जिससे पुजारी सहित किसी को भी यह मालूम नहीं है कि यह कौन सी भाषा है और क्या लिखा गया है। यहीं से दाहिनी ओर एक रास्ता भीतर की ओर जाता है वह मन्दिर के गर्भगृह को चला गया है। यानि यह गर्भगृह भूमिगत है और सामने जो मूर्ति स्थापित है वह दूसरी मंजिल पर विराजमान हैं। आम आदमी को यह कतई मालूम नहीं हो पाता कि मूर्ति के नीचे कोई दूसरा कमरा भी हो सकता है। इस गर्भ भाग में कोई भी नहीं जा सकता। केवल पुजारी ही वहां जाता है। अन्य मन्दिर से सम्बन्धित सदस्य भी वहां नहीं जा सकते हैं। इस कमरे में पत्थर की कई प्राचीन मूर्तियां रखी गई हैं और कुछ दुर्लभ सामग्री तथा पाण्डुलिपियों के होने का भी संदेह है। इस विषय में किसी को भी जानकारी नहीं है। यहां रखी मूर्तियां पहले बाहर होती थीं लेकिन जिस वक्त कामक्षा की अष्टधातु की मूर्ति बनाई गई इनको गर्भगृह में रख दिया गया था। यह मूर्ति भी प्राचीन बताई जाती है जिसके निर्माण का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। मन्दिर के बाहर भैरों की विशाल मूर्ति स्थापित है। सतलुज वर्गीय पहाड़ी शैली का यह उत्कृष्ट मन्दिर है।

आश्विन नवरात्रों के दिन मन्दिर और ग्रामीण लोगों के लिए महत्वपूर्ण दिन होते हैं। इस दौरान लोग दूर-दूर से यहां श्रद्धा-सुमन अर्पित करने आते हैं। कुछ लोग मनोकामना पूर्ण होने पर देवी मां को मानी गई भेंट चढ़ाते हैं। माता का रथ-छतर भी सजाया जाता है। दुर्गा अष्टमी को ठीक बारह बजे रात्रि को बाहर से पधारे लोगों के अतिरिक्त सभी ग्रामवासी यहां एकत्रित हो जाते हैं।

मन्दिर के बाहर लम्बी-लम्बी लकड़ियों के बण्डल रखे होते हैं जिन्हें रात्रि में जलाया जाता है। कुछ लोग हाथ में मशालें पकड़े रखते हैं और जोर-जोर से अपनी ग्रामीण भाषा में मां कामक्षा को बुलाने का आह्वान करते रहते हैं। पुजारी भीतर मूर्ति के समक्ष बैठ कर मन्त्रोच्चारण सहित पूजा करता रहता है। एक ओर वाद्य दल शहनाई, ढोल-नगाड़ों और दूसरे सम्बन्धित साजों को एक विशेष शैली में बजाते रहते हैं। वातावरण देवी के आह्वान और ढोल-नगाड़ों से पूरी तरह गूंज पड़ता है। मन्दिर के कुछ दूर चबूतरों पर बाहर से आए लोग बैठे रहते हैं क्योंकि आंगन में हो रही पूजा में दूसरे ग्रामवासी और दूर-दूर से आए लोग शामिल नहीं हो सकते हैं। यह यहां का नियम बना है। पूजा का यह क्रम तकरीबन पूरी रात्रि चलता रहता है। सभी को यह उम्मीद होती है कि देवी किसी भी व्यक्ति में प्रकट हो सकती है। क्योंकि कुछ सालों पूर्व जब आंगन में इसी विधि से पूजा होती थी और देवी का आह्वान वाद्यों सहित किया जाता था तो किसी व्यक्ति में देवी की छाया आ जाती थी और वह छाया सुबह तक रहती थी। छाया इतनी भयंकर रूप से आती है कि वह व्यक्ति खेलते-खेलते मुर्दा हो जाता था।

अब ग्राम निवासी इस व्यक्ति को बिल्कुल शव की तरह सजाते और चार व्यक्ति उसे अपने कन्धे पर उठा लेते थे। अब देवी की यह यात्रा ढोल-नगाड़ों के साथ आरम्भ हो जाती। यह यात्रा पहले मन्दिर के पीछे जाती है जहां एक कम पानी वाला नाला है। इस नाले के किनारे तीन शीतल जल की बावड़ियां हैं, जिसके चारों ओर पत्थर की मूर्तियां रखी गई हैं। ये मूर्तियां भी तभी से लेकर हैं जब इस मन्दिर का निर्माण हुआ था। यहां पर लोग विधिपूर्वक उस व्यक्ति को कन्धों पर से उतार कर जमीन पर रख लेते हैं और कुछ देर देवी की पूजा करते हैं। ये तीन बावड़ियां तीन ही तरह की मानी जाती हैं। पहली ब्राह्मणों की, दूसरी देवी कामक्षा की और तीसरी क्षत्रियों की। अब कारवां वापिस नाले से ऊपर की ओर चलता है, उसी तरह जैसे यहां आया था। अब यह यात्रा कुछ दूर पहाड़ी पर पहुंचती है, जहा लोगों के अनुसार योगनियों का वास है। यहां भी कुछ देर लोग रुकते हैं और पूजा करते हैं। इसके उपरान्त उस व्यक्ति को उसी तरह उठाकर समस्त कावो ग्राम निवासी नीचे उतर कर कच्ची सड़क पर आते हैं तथा कावो बाजार होते हुए वापिस देवी कामक्षा के मन्दिर के बाहर पहुंच जाते हैं, जहां से यात्रा का प्रारम्भ हुआ था। यहां से लोग फिर कुछ दूरी पर आगे चले जाते हैं। यह जगह शमशान भूमि है। उस व्यक्ति को फिर नीचे उतार कर यहां काफी देर पूजा होती रहती। शमशान घाट के किनारे भी कई पत्थरों की मूर्तियां पड़ी हैं। इसके बाद यात्रा वापिस मन्दिर लौट जाती। यह क्रम पूरी रात्रि चलता रहता और वापिसी तक सुबह के चार बज जाते। अब उस व्यक्ति को जिसमें देवी का प्रवेश हुआ होता मां कामक्षा की मूर्ति के समक्ष भीतर रख देते थे। अब लोग बाहर आंगन में जहां लकड़ियों "बरलाज" भभका होता कुछ देर विश्राम करते। सुबह भोर होते ही वह मूर्दा बना व्यक्ति खुद उठ कर इस तरह बाहर आ जाता मानों इसे कुछ हुआ ही नहीं था। यह

पूर्ण घटना देवी की ग्राम निवासियों पर रक्षा और प्रसन्नता की सूचक मानी जाती थी। लेकिन जब से देवी का किसी व्यक्ति में प्रवेश नहीं हो रहा है, लोग इसी तरह पूरी रात्रि पूजा और देवी का आह्वान करते रहते हैं लेकिन देवी का किसी में भी प्रवेश नहीं होता है। अब सुबह के वक्त देवी के एक "गूर" को हल्की छाया आ जाती है और फिर जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, यात्रा शुरू होती है।

दुर्गा अष्टमी के दूसरे दिन नवमी यानि 9वां नवरात्रा माना जाता है, जिस दिन लोग सुबह ही मन्दिर में सज-धज कर आ जाते हैं। इनमें औरतें, बच्चे और दूसरे सभी लोग होते हैं जो इच्छानुसार मां को प्रसाद अर्पित करते हैं। इस दिन को ग्राम निवासी ही नहीं होते बल्कि पूरी करसोग तहसील तथा अन्य दूसरे क्षेत्रों के लोग इस मेले में देवी मां के दर्शन के लिए पधारते हैं। यह दिन जातर का होता है क्योंकि पहले दिन ही माता का रथ छतर सज-धज कर बाहर निकाल दिया जाता है। इस दिन देव "पुण्डरी नाग" को रथ-छतर के रूप में सजाया जाता है और नवमी के दिन दोनो जातर में नाचते हैं। कामक्षा मां का रथ अत्यन्त आकर्षक ढंग से सजाया होता है। रथ में जो मुख्य मूर्ति लगाई जाती है उसका मुख सदैव आकाश की ओर रखा रहता है। लोगों की धारणा है कि यदि इस मूर्ति को रथ के समक्ष आगे की तरफ मुंह करके रखें तो किसी अशुभ घटना होने का भय रहता है। लोगों के अनुसार ऐसी घटनाएं हो भी चुकी हैं।

अब धीरे-धीरे आंगन इस दिन भैंसों से भरना शुरू हो जाता है। लोग दूर-दूर से भैंसे को माता के मन्दिर में अर्पित करने के लिए ले आते हैं। तीन बजे के बाद इन भैंसों की बलि प्रारम्भ हो जाती है। कटे हुए भैंसों को मोची घसीटते हुए दूर ले जाते हैं। वर्ष 1987 अश्विन नवरात्रों में दुर्गा नवमी को लगभग तीस भैंसों की बलि दी गई थी।

आश्विनी नवरात्रों के दिन ठियोग तथा रामपुर क्षेत्रों के कुछ परिवार इस दिन अपनी-अपनी कुलदेवियों के निशान लेकर यहां पधारते हैं और उन्हें स्वच्छ जल में नहला-कर मन्दिर में रख देते हैं। ये परिवार भी कावो ग्राम के मूल वासी हैं जो इन क्षेत्रों में बस गए हैं। मां कामक्षा को अपनी कुल देवी मानते हैं।

इसी तरह से एक किवदन्ती के अनुसार यहां से मां कामक्षा की एक मूर्ति "सुहागे" पर उड़ कर धामी रियासत के ग्राम भज्याड़ पहुंची थी। बाद में लोगों ने उसे श्रद्धापूर्वक इस गांव से कुछ दूर पहाड़ी पर एक मन्दिर में स्थापित कर दिया था। यह मूर्ति/मन्दिर अब मां अम्बिका के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ दिनों पूर्व इस मन्दिर को लोगों ने नया रूप दिया है। इस स्थान को "देवरी धार" कहते हैं। यहां के दो-तीन परिवार अपने को कावो ग्राम के वंशज मानते हैं। उनका मानना है कि यह मूर्ति उनके साथ ही बहुत सालों पूर्व यहां उड़ कर आई थी। इससे सम्बन्धित भी एक अन्य लम्बी कथा कही जाती है जो अपने आप में बेहद रोचक है।

करसोग घाटी में मां कामक्षा का मन्दिर इन्हीं कुछ कारणों से अलग है जहां आज भी पुरानी परम्पराएं बरकरार हैं। यह मन्दिर पांडवों के समय का है या नहीं, यह

विस्तृत खोज का विषय हो सकता है, लेकिन जो कुछ वर्तमान में यहां उपलब्ध है और जो दुर्लभ प्रथाएं जिसमें भैंसों की बली भी एक है, वह इसके प्रामाणिक अंग हैं।

यह भी बताया जाता है कि इस मन्दिर को भगवान परशुराम ने बनवाया था। इसलिए साक्षी के रूप में भगवान परशुराम की प्रतिमा मन्दिर के भीतर एक गुफा रूपी कमरे में विद्यमान है। दर्शनार्थ पुरुष को धोती बांध कर ही यहां जाना पड़ता है। मन्दिर लकड़ी और पत्थर से निर्मित है। भीतर तीन कमरे हैं, एक में मां कामक्षा की अष्टधातु की मूर्ति, दूसरा कमरा मां के सोने का कमरा है, जो अत्यन्त आकर्षक ढंग से सुसज्जित है। तीसरे में भगवान परशुराम जी तथा शिव लिंग स्थापित हैं। भगवान विष्णु, बटक भैरव और माता के पुरोहित मन्त्री नाग पुंडरी की प्रतिमाएं भी विद्यमान हैं। मां कामक्षा का रथ जब भी सजता है, पुंडरी नाग का भी साथ सजाया जाता है।

चण्डिका देवी

शिमला करसोग मार्ग पर चिण्डी नामक गांव स्थित है। शिमला से यह स्थान लगभग 106 किलोमीटर दूर स्थित है। करसोग से लगभग 13 किलोमीटर। यहां प्राचीन दुर्गा का मन्दिर निर्मित है जिसे चण्डिका देवी के नाम से पुकारते हैं। गांव के नाम से ही शायद इसे चण्डिका नाम से पुकारा जाता है। इस मन्दिर का धार्मिक दृष्टि से स्थानीय लोगों में बहुत महत्व है। हालांकि मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से इतना महत्व-पूर्ण नहीं है। मन्दिर में पत्थर की प्रतिमा स्थापित है। यह अष्टभुजी मूर्ति अति प्राचीन मानी जाती है। इसके साथ भगवान विष्णु की प्रतिमा भी है। मन्दिर के साथ देवी का भण्डार कक्ष है जिसमें देवी से सम्बन्धित कीमती वस्त्र तथा सभी शृंगार प्रसाधन रखे हैं।

मन्दिर निर्माण के बारे में सही तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। लोगों में देवी के प्रकट होने की कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि एक दिन चुराग गांव में एक घटना घटी। चुराग गांव यहां से कुछ दूर पीछे स्थित है। अर्थात शिमला से आने वाले मार्ग की ओर। रात्रि को इस गांव के एक किसान का किसी ने दरवाजा खटखटाया। वह उठ कर देखने लगा तो बाहर एक सुन्दर कन्या थी। वह भीतर आई और उसने रात्रि विश्राम के लिए आग्रह किया। किसान ने उस कन्या को आदरपूर्वक भीतर बुलाया और बिठा दिया। एक मेहमान की तरह उसने उसका आदर किया। लेकिन कन्या ने भोजन नहीं किया, दूध अवश्य पी लिया।

रात्रि में जब किसान सोया तो उसे वही कन्या स्वप्न में दिखाई दी। उसने अपना परिचय दिया कि वह दुर्गा भगवती है। किसान यदि उसके लिए यहां मन्दिर बना दे तो वह यहीं रह कर लोगों के दुख: दर्द का निवारण करती रहेगी। स्वप्न टूटा तो किसान उठ कर उस कन्या को ढूंढने लगा। वह बिस्तर पर नहीं थी। किसान ने दरवाजा खोला और बाहर आ गया। उसे कन्या तो दिखी नहीं लेकिन पांव की पदचाप सुनाई देती रही और वह वर्तमान मन्दिर तक उसका पीछा करता रहा। यहां पर वह लुप्त हो गई लेकिन वहां जमीन में एक पत्थर की प्रतिमा पड़ी थी। किसान ने यह

घटना सभी को सुना दी और लोगों ने किसान सहित यहां एक मन्दिर का निर्माण करवा दिया। मन्दिर में अभी तक उसी वंश का पुजारी है। देवी के नाम पर वर्ष में एक मेले का आयोजन भी किया जाता है। यह मेला श्रावण मास में लगता है।

पांगणा मन्दिर

शिमला से मण्डी करसोग होते हुए जो मार्ग जाता है उस पर चुराग से कुछ दूरी पर पांगणा नामक स्थान आता है। करसोग से यह लगभग 13 किलोमीटर की दूरी पर है। रियासती काल में यह इस रियासत की राजधानी हुआ करती थी। यहां कुछ प्राचीन महल और मन्दिर इस बात के साक्षी हैं। पांगणा का मन्दिर राजकुमारी से सम्बन्धित माना जाता है। यहां राजकुमारी की समाधि स्थापित की गई। यह लगभग 350 वर्ष पहले की घटना है जब राजा श्यामसेन का राज्य था। उनकी कन्या अति सुन्दर थी। उसे मर्दाने कपड़े पहनने का बहुत शौक था। इसलिए वह अक्सर मर्दानी वेशभूषा पहने रहती थी। यह कपड़े वह राजा से छिपकर पहनती थी।

एक दिन उसने ऐसा ही वेश कर रखा था। जैसे ही वह अपने कमरे से बाहर निकली राजा की उस पर अचानक नजर पड़ गई। राजा को आश्चर्य हुआ कि उसकी बेटी के कक्ष से यह कौन पुरुष निकला है। राजा कई दिनों तक यह बात किसी से नहीं कह सका। एक दिन पुनः ऐसी ही बात राजा के समक्ष आई। इसी तरह से जब एक दिन राजकुमारी मर्दाने कपड़े पहने अपने कक्ष में टहल रही थी तो राज पंडित ने अचानक देख लिया। उसे शक हो गया कि राजकुमारी के कमरे में कोई लड़का टहल रहा है। उसने यह बात राजा से कह दी। इस पर राजा को शक हो गया लेकिन वह सोच भी नहीं सकता था कि राजकुमारी का चरित्र इतना संदिग्ध हो सकता है।

इसलिए उन्होंने अब इस तथ्य को बेटी से जानना चाहा। उसने लाख मना किया लेकिन राजा को विश्वास ही नहीं हुआ। इससे राजा का संदेह बढ़ता गया। राजा ने जब राजकुमारी पर चरित्र हनन का आरोप लगाया तो वह इस तथ्य को सहन नहीं कर सकी। उसने अपने पिता के नाम एक पत्र लिखकर आत्महत्या कर ली। राजा को बेटी की आदत का पता चला तो उसे बहुत दुख हुआ। इसलिए स्मृति हेतु राजा ने राजकुमारी की समाधि एक मन्दिर में बनवा दी।

धीरे-धीरे कन्या द्वारा चरित्र के लिए दिए इस बलिदान की बात दूर-दूर तक फैल गई और विशेषकर लड़कियों ने यहां आना शुरू कर दिया। अब विवाहिताएं यहां भारी संख्या में पूजा हेतु आती हैं और इस राजकुमारी की समाधि पर पूजा करती हैं। इसे पांगणा देई या देवी के नामसे मानते हैं।

पांगणा एक सुन्दर स्थान भी है।

माहूनाग मन्दिर

समुद्रतल से लगभग 1830 मीटर की ऊंचाई पर और करसोग से 25 किलोमीटर

के करीब बखारी गांव में प्राचीन माहूनाग मन्दिर शक्ति और प्राचीनता के लिए विख्यात है। शिमला-मण्डी मार्ग पर स्थित चुराग से यहां के लिए लिंक मार्ग चला जाता है। यह लगभग 15 कि०मी० है जो घने देवदार के जंगल में से जाता है। गाँव के मध्य से बखारी माहू नाग मन्दिर के लिए एक किलोमीटर पैदल चलना पड़ता है। क्योंकि मन्दिर गांव के बिल्कुल ऊपर एक पहाड़ी की गोद में अवस्थित है। एक किलोमीटर का यह रास्ता सीढ़ीनुमा खेतों जिनमें सेब, नाश्पाती और आड़ू के बागीचे लगे हैं, से भरा है। इस क्षेत्र का प्राकृतिक सौन्दर्य देखते ही बनता है।

माहूनाग का राजा करण माना गया है। अर्थात महाभारत का वह वीर योद्धा जिसने मित्रता के लिए अन्याय स्वीकार किया था। दूसरे शब्दों में उसे सूर्य भक्त भी कहा जाता है। युद्ध समाप्त होने के बाद सभी वीर योद्धा और ऋषि-मुनी हिमालय पर जगह-जगह तपस्या के लिए निकल पड़े थे और वहीं उन्होंने कई नामों से जन्म लिया और अब देवता के रूप में पूजे जाते हैं। इस मन्दिर में माहूनाग का जन्म कैसे हुआ इसकी एक रोचक कथा प्रचलित है।

वास्तव में इस देवता का जन्म स्थल गांव शेंदल माना जाता है। यह माहू पंचायत में है। कहा जाता है कि इस गांव का एक किसान हल चला रहा था। खेत के मध्य किसी भारी वस्तु से जब उसका हल फंसा तो बैल चलने से रुक गए। किसान ने तत्काल जमीन को कुरेदकर देखा तो हल के फाले से एक मोहरा टकराया था। उसने उसे श्रद्धापूर्वक उठाया और अपने कुरते के पल्लू से साफ किया। तभी उसे यह अहसास हुआ कि यह किसी देवता की कृपा है। वह उसे उठाकर अपने घर ले आया। वहां उसे प्रेम पूर्वक नहलाया और उसकी पूजा की। इस घटना को उसने अपनी पत्नी को भी बता दिया। लेकिन इसके बाद उसके सात पुत्र मर गए। वह बहुत परेशान था। गांव में दो ब्राह्मण की कन्याएं रहती थीं जो बचपन से बहुत विद्वान थीं। किसान ने जब उस घटना के बारे में उनसे पूछा तो उन्होंने यह सभी कुछ देव दोष के कारण बताया। मोहरे सम्बन्धी सारी घटना भी उन्होंने बता दी। गांव के लोगों को अब सारी बात का पता चल पड़ा था। उन्होंने सलाह दी कि इस मोहरे की विधिवत स्थापना मूल माहू यानि बखारी में की जाए। स्थापना के बाद मन्दिर भी बनाया जाए। कन्याओं ने लोगों को कहा कि बखारी के जंगल में जहां चोटियां घेरा बनाए दिखाई देंगी उसी परिधि में मंदिर बनना चाहिए।

इस स्थान पर एक ऐसी जाति रहती थी जो बराबर लोगों पर अत्याचार करती थी। लोगों के लिए उनको वहां से निकालना आसान नहीं था। उन्होंने मोहरे की पूजा की और इस समस्या को देवता पर हल करने हेतु छोड़ दिया। यहाँ उस समय घना जंगल होता था। कहा जाता है कि देव कृपा से आसमानी बिजली यहां गिर गई जिसमें वह जाति पूरी नष्ट हो गई। तदोपरान्त लोगों ने वहां एक लघु मन्दिर में मोहरे की स्थापना कर दी। लोगों का विश्वास है कि यह आसमानी बिजली एक कुण्ड में आज तक सुरक्षित है। माहूनाग मन्दिर में गर्भगृह के समक्ष यह कुन्ड सदा बन्द रहता है

और इसमें अग्नि आज भी प्रज्जवलित है। यह आग उस काल से आज तक बुझी नहीं है। इस तरह स्थापना जब विधिपूर्वक विद्वानों की उपस्थिति में हुई और मोहरे में प्राण प्रतिष्ठा डाली गई तो इसी गांव के एक व्यक्ति में देव छाया प्रवेश हुई जिसे लोगों ने देवता के गूर के रूप में स्वीकार किया। उसी ने इस देवता के जन्म सम्बन्धी कथा को विस्तार से सुनाया और कहा कि देवता राजा करण है।

मन्दिर निर्माण समय-समय पर गांव के लोगों ने करवाया लेकिन आज जो मन्दिर का भव्य स्वरूप है उसका निर्माण सुकेत रियासत के राजा श्याम सेन ने अपने शासन के दौरान 1664 ई० में करवाया था। इस देवता की इस मन्दिर पर शुरू से आस्था थी। एक बार किसी वजह से राजा को मुगलशासक ने दिल्ली में कैद कर लिया। राजा मुसीबत में फंस गया। वहां से छूटने का कोई रास्ता नहीं था। जेल में राजा को एक बड़े ढोल में रखा गया था।

अब केवल ईश्वर और इष्ट देवता ही सहायक हो सकते हैं। ऐसा विचार करके राजा ने पहले देवी कामक्षा को स्मरण किया। लेकिन कुछ नहीं हुआ। उसके बाद करसोग तहसील में स्थित देवता डोडाहवावली का स्मरण किया लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। तीसरी बार नाग धमुणी की स्तुति की लेकिन राजा को निराशा ही मिली। चौथी बार राजा ने अत्यन्त दुखी हृदय से महामाया और पांचवीं बार माहूनाग को याद किया। इस पर माहूनाग जिसे पहले नाग से पूजा जाता था, की कृपा हुई और देवता राजा के पास माहू (एक शहद की मक्खी जिसे घरों में पाला जाता है) के रूप में पहुंच गया। देवता ने राजा को आवाज दी और कहा कि वह डरे नहीं। राजा ने परिचय पूछा तो उसे विदित हुआ कि नाग देवता रक्षा हेतु पहुंच गया है।

देवता ने अब आदमी का रूप धारण कर लिया। राजा को अपना परिचय दिया। इस तरह राजा के साथ एक दिन जब शतरंज खेलने बैठा तो उसने राजा को बुरी तरह हरा दिया। राजा से माहू ने श्याम सेन के मुक्त करने को कहा लेकिन वह नहीं माना। इस पर देवता ने ढोल सहित राजा को उड़ा कर अपनी राजधानी पहुंचा दिया। इस पर देवता की अपार कृपा और शक्ति से राजा को मुक्ति मिली। राजा की देवता पर अपार श्रद्धा हो गई और उसने माहूनाग के नाम अपनी आधी राजधानी कर दी।

इसके बारे में कई प्रमाण पूरी रियासत में जगह-जगह निर्मित देवता के स्थानों से मिलते हैं। दिल्ली के बाद रियासत में पहुंचते हुए देवता राजा के साथ था। सुन्दर नगर रुक कर राजा देवता के साथ बखारी चला आया। वे दोनों पहले भुंगी नामक स्थान पर पहुंचे। यहां आकर राजा ने इस गांव का ऊपरी क्षेत्र देवता को दे दिया। यहां देवता सम्बन्धी देहरी और चिन्ह आज भी मौजूद हैं। यहां नाग ने अपने द्वारपाल की स्थापना भी की जिसे 'रक्सेटा' कहा जाता है। इसके बाद वे दोनों पांगणा आए। वहाँ राजा ने नाग देवता का मन्दिर बनवाया। यहाँ से चुराग आ गए। इस स्थान पर भी नाग का मन्दिर बनवाया। अब चलते-चलते ओडा नामक स्थान पर आकर रुक गए।

इस क्षेत्र को भी माहूनाग के लिए राजा ने छोड़ दिया और यहां पर कैथोगलाणी नामक स्थान पर नाग को दिए क्षेत्र की सीमा निर्धारित की गई। इसलिए इस सीमा के नीचे राजा की और ऊपर देव माहूनाग की जगह मानी गई। यही नहीं राजा मूल मन्दिर पहुंचा और मन्दिर का नए सिरे से निर्माण भी करवाया।

माहूनाग का मन्दिर एक हवेली की तरह चारों तरफ से सुरक्षित है। भीतर पहुंचने के लिए एक मुख्य लकड़ी का दरवाजा है जिस पर सुन्दर नक्काशी की गई है। प्रवेश करते ही दाईं तरफ मूल मन्दिर समूह है। कई कोठरियां हैं। मध्य में नाग देवता का मुख्य वास है। कुछ मोहरे और निशान यहाँ स्थापित हैं। लोहे और चांदी के नाग के रूप हैं। लकड़ियों पर भी नाग की आकृतियां देखी जा सकती हैं। इसके बाहर है वह अग्नि कुण्ड जिसमें आग सुरक्षित है। इस कुण्ड के साथ ही पाताल को एक लघु सुरंग है जो ऊपर से बन्द रहती है। लोगों का मानना है कि दरिया के किनारे यह सुरंग निकलती है। इससे नाग देवता आया-जाया करता है। यहां कई बार अकस्मात नाग को प्रकट होते पुजारियों और कई श्रद्धालुओं ने देखा है। इस कुण्ड से नाग कभी-कभार ही निकलता है। विशेषकर उस श्रद्धालु को दर्शन देता है जो नाग का उपासक हो और किसी भारी दुख से यहाँ आया हो। यह प्रमाण ऐसे हैं जो देवता की शक्ति के आज भी परिचायक हैं। मूल स्थान के साथ दो-तीन पूजा गृह हैं। जहां नियमित पूजा होती है। मूल मन्दिर सक्रान्त और किसी विशेष पूजा वाले दिन ही खोला जाता है।

लोगों ने नाग का सुन्दर रथ छतर बना लिया है। रथ में अठारह के करीब भिन्न देवी-देवताओं के मोहरे स्थापित किए जाते हैं जो सभी चांदी के हैं। यह रथ तभी सजाया जाता है जब या तो देवता की जातराएं होती हैं या मेले के आयोजन पर। रथ के पिछली ओर एक मोहरा काले बालों और कपड़ों से ढका रहता है। इसे इसलिए नहीं खोला जाता क्योंकि यदि इसे खोला जाए तो जहां तक भी इस देवता की दृष्टि जाएगी वहां तक की सारी वस्तुएं, मनुष्य, जानवर और पशु-पक्षी भस्म हो जाते हैं—ऐसी धारणा है।

नाग विष का देवता है। इसलिए आज भी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति को सांप काट लेता है तो लोग नाग का 'बान्ध' कर लेते हैं। अर्थात नाग के नाम से धूप जलाकर उसे कुछ पैसे बन्धेज के रूप में रख कर यह मनौती करते हैं कि यदि साँप द्वारा काटा हुआ व्यक्ति ठीक हो जाए तो उसे लेकर बन्धेज सहित नाग मन्दिर में आएंगे। नाग के गूर गांव में कई जगह होते हैं। लोग उन्हें भी पूजा के लिए बुलाते हैं और वह गूर साँप का विष कुछ विशेष पत्तों से मन्त्रों द्वारा झाड़ देता है।

माहूनाग का गूर भी एक विशेष परम्परा और देव शक्ति से नियुक्त होता है। अन्य देवताओं की तरह नाग अपने गूर को नहीं लेता। पुराने गूर को जब बदला जाता है तो नए गूर में स्वतः ही नाग देवता की इच्छा से देव छाया आ जाती है और उसके बाद उसे शक्ति परीक्षण देना पड़ता है। इस व्यक्ति को मन्दिर में लाया जाता है और देवता का पूरा बजंतर अर्थात् वाद्य यन्त्र निकाले जाते हैं और इन्हें परम्परागत ढंग से

बजाया जाता है। देवता कमेटी सहित गांव के सारे लोग भी इस गूर नियुक्ति उत्सव में शामिल हो जाते हैं। मन्दिर से अब एक यात्रा का आयोजन किया जाता है जिसमें सैंकड़ों लोग गूर के साथ होते हैं। यह यात्रा यहां से 10 किलोमीटर के करीब दरिया के किनारे जाती है। यहां एक विशाल चट्टान है। वह गूर वहां जाता है और दरिया में छलांग लगा देता है। पानी के भीतर लगभग वह आधे घण्टे रहता है। बाहर ढोल नगाड़ों के साथ लोग नाग देवता का स्तुतिगान करते रहते हैं। जब गूर वापिस आता है तो वह अपनी मुट्ठी में सूखी रेत लाता है जिसे इस बात का द्योतक माना गया है कि गूर को नाग का आशीर्वाद मिल गया है। कहा जाता है कि यहां पानी के भीतर नाग देवता का वास है जहां गूर जाता है और नाग देवता अशीर्वाद के रूप में सूखी रेत दे देते हैं। गूर बनने के बाद वह व्यक्ति एक सन्यासी का जीवन यापन करता है और उसे कड़े बन्धनों में रहना पड़ता है। यदि वह नियमों को भंग कर दे तो उसकी मृत्यु तक भी हो जाती है।

लोग हर सक्रान्त को मन्दिर में नुवाले करवाने जाते रहते हैं। इस देवता पर लोगों की अपार श्रद्धा है और इसकी शक्ति भी कम नहीं है।

नाग देवता की शक्ति से सम्बन्धित एक घटना का उल्लेख यहां कर रहा हूँ क्योंकि इस घटना का सम्बन्ध मुझ से है। इसी के बाद मैंने इस मन्दिर का भ्रमण किया था और इस देवता के बारे में पूर्ण जानकारी हासिल की थी।

"बात उस वक्त की है जब मैं आठवीं में पढ़ता था। अम्मा को एक दिन लोग घासणी से उठा कर ले आए। क्योंकि हमारे गांव में जब घास की कमी पड़ती है तो लोग 10—15 किलोमीटर दूर 'धार हरशिंग' पर घास काटने जाते हैं। यह स्थान ग्राम पंचायत चनावग तहसील सुन्नी में है। अम्मा के पांव में बहुत दर्द हो रहा था और तलवे के मध्य एक नीला निशान पड़ गया था। सभी की राय थी कि यहां सांप ने काट लिया है। क्योंकि अस्पताल यहां कोई नहीं है इसलिए नाग देवता का 'बान्ध' कर लिया और यह मनौती की गई कि यदि अम्मा ठीक होगी तो नाग देवता के मन्दिर में आएंगे। इसके बाद पास के ही एक गूर को भी पूजा के लिए बुलाया गया। यह नाग देवता का चेला है। इसने जब देखा तो बताया कि पांव में मरे हुए सांप के कांटे टूट गए हैं। घास को लोग उपरोक्त धार में नंगे पांव जाते हैं ताकि फिसल न जाए। एक सप्ताह तक वह चेला रोज नाग देवता के मन्त्र बोलकर विष को उतारता रहा लेकिन अम्मा की हालत बिगड़ती गई और उनका पांव बहुत सूज गया। किसी को यह भरोसा न था कि अम्मा ठीक होगी।

मुझे अभी भी याद है कि अम्मा को दरवाजे के बाईं तरफ सुलाया हुआ था और सिरहाने में एक पानी का लोटा रखा था जिस के बीच कुछ पुष्प और किनारे पर धूप जला रखा था। इसमें ही नाग देवता के नाम से कुछ पैसे बन्धेज के रूप में रखे हुए थे। हम सभी परेशान से बैठे हुए देवता की स्तुति कर रहे थे। एक तरफ वह चेला था। सिरहाने के पास मैं तथा पिताजी बैठे थे। अम्मा की हालत देखकर मैं रो रहा था।

समय यही होगा लगभग शाम के सात बजे का, दरवाजा बन्द था। एकदम से उस चेले ने चीख मारी और कहा कि नाग आ रहा है। मैं डर कर खड़ा हो गया और तभी एक झटके से दरवाजा खुला और ऐसा लगा कि बहुत बड़ा तुफान आ रहा है। दरवाजे के पास हम सभी को एक बारीक दीए की तरह कुछ चीज जलती दिखाई दी। यह एक प्रकार की ज्योति के समान थी। अम्मा भी झटके से उठ गई। कुछ पल में वह तूफान शान्त हो गया और चेले ने कहा की अब डरने की कोई बात नहीं है। कुछ देर के बाद अम्मा का पांव पक गया यानि तलवे के मध्य जहां वह निशान था वहां से पीक निकलनी शुरू हो गई। हम यह भी देखकर हैरान थे कि उस पीक में बालों जैसे बारीक-बारीक कांटे भी निकल रहे थे। यह क्रम एक-दो दिन तक चलता रहा और अम्मा ठीक हो गई। मैं इस घटना से बहुत प्रभावित हुआ और हम लोग उसी साल माहूनाग मन्दिर में पैदल गए थे।"

लोग भी ऐसी कई चमत्कारी घटनाएं सुनाते हैं। दो वर्ष पूर्व माहूनाग मन्दिर में एक औरत आई। उसने नाग का बन्धेज इसलिए किया था क्योंकि एक दूध/उरोज/दुख गया था। नाग देवता की शक्ति से वह ठीक हो गया। उसने यह मनौती की थी कि वह खुद आकर उस दूध से नाग देवता की पूजा करेगी। जैसे ही मन्दिर में नाग कुण्ड में उस औरत ने अपने वक्ष को नंगा किया और उरोज से दूध निकालने लगी तभी एक सांप कुण्ड से निकला और उसने अपने मुंह से औरत के उरोज से दूध पी लिया।

इसलिए यह संभव नहीं है कि देवताओं की शक्तियों की गहराईयों को नापा-परखा जाए।

शिकारी देवी

शिकारी देवी मन्दिर करसोग की शिकारी देवी पहाड़ी पर स्थित है। यहां तक कोई भी बस मार्ग नहीं है। लोगों को पैदल देवी के दर्शन हेतु जाना पड़ता है। करसोग तथा सुन्दर नगर से यहां की यात्रा के लिए एक-एक दिन के रास्ते हैं शिमला से करसोग मार्ग पर एक स्थान सनारली आता है। यह करसोग से तीन किलोमीटर पीछे है। यहां से नजदीक रास्ता है। सनारली से तीन किलोमीटर आगे शंकर देहरा स्थान है। यहां भी प्राचीन शिव मन्दिर अवलोकनीय है। इसके बाद गडवाह गांव है। इसी गांव से शिकारी देवी के लिए सीधी चढ़ाई लगती है।

रास्ता अनेक पेड़-पौधों तथा जड़ी-बूटियों से भरा है। चारों तरफ प्रकृति के सुन्दर परिदृश्य मन को मोह लेते हैं। जड़ी-बूटियों की सुगन्ध कभी-कभी तो यात्रियों को बेहोश-सी कर देती है। वास्तव में यह रास्ता पैदल यात्रा के लिए अति उपयुक्त है।

शिकारी देवी मन्दिर अति प्राचीन है। कला की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण नहीं है लेकिन धर्मिक दृष्टि से इसकी विशेषता है। लोग दूर-दराज से माता दर्शन हेतु जाते हैं। मन्दिर बिना छत का है। बताया जाता है कि इस मन्दिर पर छत टिकती ही नहीं है।

भीतर देवी की पत्थर की प्रतिमा है। यहां आने वाले यात्री रात्रि को यहीं रुकते हैं। यहां से गांव काफी दूर-दूर हैं।

देवी के नामकरण के बारे में कुछ नहीं कहा जाता। जैसाकि नाम से विदित है, हो सकता है पहाड़ी पर शिकार खेलने जाते-आते लोगों ने इस देवी को शिकारी देवी नाम दे दिया हो। वैसे भी यहां अनेक जानवर है जो शिकार के लिए उपयुक्त हैं। बहुत पहले राजा लोग यहां शिकार के लिए आया करते थे। लोग कहते हैं कि शिकार पर आए लोगों को देवी की मनौती पहले करनी पड़ती थी। यदि कोई ऐसा न करता तो दिन भर वह बन्दूक चलाता रहता लेकिन उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता। लेकिन देवी के पास अर्ज-विनती करने पर अच्छा शिकार हाथ लग जाता था और शिकारी लौट कर यहां उस जानवर का खून पत्थर पर देवी के नाम से लगाते थे।

लोग यहां बच्चों को लेकर भी जाते हैं। यह एक मनोरम स्थल है लेकिन किसी भी तरह की सुविधा न होने के कारण यहां का भ्रमण दुःखद लगता है। एक प्रकार का यह उपेक्षित सुन्दर पर्यटक स्थल है।

यह भी बताया जाता है कि वनवास के दौरान यहां पांडवों ने कई दिन व्यतीत किए थे तथा इस देवी की स्थापना भी उन्होंने ही की थी।

तत्तापानी तीर्थ

तत्तापानी वैसे तो जिला मण्डी में आता है लेकिन शिमला जिले की सीमा पर सतलुज के बिल्कुल छोर पर बसा होने के कारण शिमला से इस स्थान के लिए आसानी से बस द्वारा सफर किया जा सकता है। शिमला से 53 किलोमीटर दूरी पर स्थित यह प्राचीन धार्मिक तीर्थस्थल समुद्रतल से 620 फुट की ऊंचाई पर है। इस तीर्थ की महत्ता केवल यहां प्राकृतिक गृष्म जल के चश्मों के कारण ही है जिनमें स्नान करना कालान्तर से पुण्य समझा जाता है। ये चश्में तत्तापानी के मुख्य बाजार से पूर्व की ओर लगभग दो फर्लांग आगे दरिया के बिल्कुल किनारे पर हैं। ये चश्में स्थायी नहीं हैं बल्कि सतलुज नदी के किनारे-किनारे स्वतः ही गर्म जल निकल आता है जहां लोग रेत हटा कर नहाने हेतु चश्में बना लेते हैं। जब बरसात में सतलुज का पानी अधिक बढ़ जाता है तो ये चश्में दब जाते हैं। वैसे भूगर्भीयशाखा ने इस क्षेत्र में खुदाई करके भी गर्म पानी निकाला है। यहां लोगों ने नहाने के लिए सिमेंन्ट के "स्नानागृह" बनाए हैं लेकिन लोग उस पानी को धार्मिक दृष्टि से पवित्र नहीं मानते हैं। हालाकि स्थानीय लोग इसी पानी का प्रयोग नित्यप्रति केवल नहाने के लिए ही करते हैं।

यह पानी गन्धक युक्त है जो नमकीन है। लोगों की यह धारणा है कि इसके प्रयोग या स्नान से बाह्य शारीरिक रोग खत्म हो जाते हैं। इनमें लोग वैसे तो रोज ही स्नान करने आते-जाते रहते हैं लेकिन पूर्णिमा या सक्रान्त के दिन काफी लोग धार्मिक दृष्टि से यहां आते हैं। वर्ष में दो बार वैशाखी और लोहड़ी को यहां

विशाल धार्मिक पर्व लगते हैं जिसमें दूर-दूर से लोग स्नान हेतु आते हैं। लोग अक्सर इन चश्मों के साथ हर तरह के गृह निवारण हेतु दान करवाते रहते हैं। तुला दान करवाने के लिए यह स्थान उत्तम माना जाता है। स्थानीय ब्राह्मण जिन्हें पांडे कहते हैं यहां लोगों से तुला दान करवाते रहते हैं।

धार्मिक दृष्टि के अतिरिक्त यह स्थान अति सुन्दर है। पहाड़ों की गोद से सतलुज नदी सर्पीली चाल में बहती अदभुत दृश्य प्रस्तुत करती है। चारों तरफ ऊंचे पहाड़ आकाश से बातें करते अति रमणीक लगते हैं। यहां स्थान-स्थान पर कई छोटे-छोटे मन्दिर भी हैं। यहां से करसोग की रमणीक घाटी को सड़क चली जाती है जो मण्डी पहुंचने के लिए बहुत नजदीक रास्ता है।

हालांकि इन चश्मों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं का बहुत कम लोगों को पता है परन्तु फिर भी कुछ विद्वान इन चश्मों को ऋषि जगदग्नि से जोड़ते हैं। कहा जाता है कि बहुत पहले ऋषि जगदग्नि और उनकी पत्नी रेणुका सतलुज के किनारे गुफा में तपस्या किया करते थे। रेणुका जी की एक बहिन महाराजा संसरबाहू को ब्याही गई थी जो उस समय महाबलि राजा था। एक दिन रेणुका ने जिद की कि राजा और उसकी बहिन को प्रीतिभोज पर आमन्त्रित किया जाए ऋषि जमदग्नि ने इस बात को माना नहीं लेकिन रेणुका जी की जिद पर उन्हें सहमत होना पड़ा और राजा संसरबाहू को निमन्त्रण दे दिया गया। राजा को जब यह निमन्त्रण प्राप्त हुआ तो उसने अपना अपमान समझा क्योंकि वह तो एक राजा था भला एक फक्कड़ साधु के पास उसके लिए क्या हो सकता है। परन्तु रेणुका की बहिन ने अपनी जिद नहीं छोड़ी और बहिन का स्नेहपूर्ण निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। राजा को आखिर उसकी बात माननी पड़ी।

राजा ने ऋषि को सन्देश भिजवा दिया कि राजा अपनी प्रजा सहित भोज पर आएगा। वह इस अपमान को मन ही मन में छुपाए हुए था तथा देखना चाहता था कि जब प्रजा सहित ऋषि के पास आने का सन्देश जाएगा तो वह खुद ही मना कर देगा लेकिन ऋषि जमदग्नि उसके मन को भांप गए और उन्होंने राजा की बात सहर्ष स्वीकार कर ली। राजा भोज में प्रजा सहित आया और जब यहां प्रबन्ध देखा तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। तरह-तरह के भोज बने थे। कई तरह के लोग वहां मौजूद थे। राजा ने जब गहराई का पता किया तो उसे विदित हुआ कि ऋषि के पास जो कामधेनु गाय है यह उसी के कारण सम्भव हुआ है। राजा के मन में पाप उत्पन्न हो गया। यह अब इस ताक में था कि वह उस कामधेनु को अपने साथ ले जाएगा। राजा ने ऋषि से दक्षिणा के रूप में कामधेनु को मांग लिया लेकिन कामधेनु उसके पाप को भांप गई। ऋषि भी उसके मन की बात समझ गया था। जब ऋषि ने कुछ और मांगने का निवेदन किया तो राजा का भीतरी आक्रोश फूट पड़ा उसने जबरदस्ती कामधेनु पर अधिकार जमाना चाहा। जैसे ही उसके सैनिक उसे पकड़ने लगे वह आसमान में उड़ गई। राजा ने उसे मारने के लिए उस पर तीर से आक्रमण किया। वह तीर उसके एक पांव में

लगा जिससे खून के छींटे धरती पर गिर पड़े और जहां-जहां सतलुज नदी के किनारे वह खून की बूंदे गिरी वहीं पर गर्म जल उत्पन्न हो गया।

कुछ लोग यह मानते हैं कि जब कामधेनु को लेकर ऋषि जमदग्नि और संसर बाहू का युद्ध हुआ तो रेणुका जी ने अपने पुत्र परशुराम को स्मरण किया उस समय परशुराम जी स्नान कर रहे थे। स्मरण करने पर वे गीली धोती सहित वहां पहुंच गए इसलिए उनकी धोती से जहां-जहां भी छीटे गिरे वहीं पर गर्म जल निकल गया।

तीसरी धारणा यह है कि संसरबाहू के साथ युद्ध करते हुए परशुराम ने उसका बाजू काट दिया था और उसके बाजू से जहां-जहां खून गिरा वहीं पर गर्म जल पैदा हो गया।

ये तीनों कथाएं कहीं भी प्रमाणिक नहीं लगती। यह बात सत्य है कि संसरबाहू से ऋषि जमदग्नि का युद्ध हुआ था लेकिन तत्ता पानी तीर्थ से इस कथा को जोड़ना कहा तक उचित है यह कहना असम्भव है। क्योंकि इस तरह के चश्में या गर्म पानी हिमाचल प्रदेश के कई स्थानों पर हैं और जहां-जहां भी यह गर्म पानी हैं उनके साथ कोई न कोई पौराणिक सन्दर्भ जुड़ गया है।

शिव गुफा सरौर

तत्तापानी-करसोग सड़क पर से तीन किलोमीटर आगे चलकर एक सड़क सरौर गांव की ओर चली गई है। पांच किलोमीटर आगे सरौर खड्ड पर काफी बड़ा पुल है। उसके बिल्कुल नीचे एक गुफा का पता लगा है। संयोगवश जिस दिन कुछ लकड़-हारों ने इस स्थान को देखा उसमें भी तत्तापानी था। ये दिन बरसात के थे। इन लकड़हारों ने तत्तापानी पर्यटक बंगलो में कार्यरत प्रबन्धक श्री अमरदत्त शर्मा से यह बात कही। श्री शर्मा जन्म से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति रहे हैं। जैसे ही उन्हें पता लगा वे भरी बरसात में अपने कुछ मित्रों सहित वहां के लिए रवाना हो गए। मुख्य सड़क से यहां तक पहुंचने के लिए रास्ता लगभग डेढ़ किलोमीटर है जो जंगल से होकर जाता है। इस वक्त तो यहां रास्ता था ही नहीं। एक विशाल वट वृक्ष की टहनियों के मध्य छुपी इस गुफा के लिए सरौर नदी लांघनी पड़ती है जो यहां से कुछ दूर सतलुज में मिल जाती है। श्री शर्मा अत्यन्त कठिनाई और परिश्रम से उस टहनी को पकड़कर यहां पहुंचे और भीतर का दृश्य देखकर अचम्भित रह गए। वापसी पर श्री शर्मा जैसे ही नदी को पार करने लगे पानी के मध्य एक सांप ने उनका रास्ता रोक लिया। उन्होंने नाग को प्रणाम किया और एक पल खड़े रह गए। इस वक्त नदी का पानी घुटनों तक था। यह सांप जब श्री शर्मा की तरफ आने लगा तो वह भय से पीछे हट गए। जैसे ही वह नदी के किनारे पहुंचे तभी एक भयंकर शोर हुआ और खड्ड में बाढ़ आ गई। देखते-देखते वह खड्ड अपने साथ कई विशाल वृक्ष भी बहा कर ले आई। और यदि श्री शर्मा तथा उसके साथी नदी को पार करते रहते तो उस बाढ़ में बह जाते लेकिन सांप का नदी के बीच प्रकट होना एक आश्चर्यजनक घटना थी जिसे भला

किसी ईश्वर या दैव्य चमत्कार से न जोड़ें तो क्या माने। सांप को शिव भगवान का रूप मानकर श्री शर्मा ने इस गुफा को शिव गुफा का नाम दे दिया और आज इस गुफा में दूर-दूर से भ्रमण करने लोग आ रहे हैं। इसके बाद मुझे यहां स्वयं जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं खुद भी यहां के प्रकृतिक दृश्यों को देखकर हैरान रह गया। हम भी वट वृक्ष की टहनी को पकड़कर वहां गए थे। भीतर काफी खुला स्थान है। लगभग दो सौ व्यक्तियों के बैठने का। गुफा के द्वार पर दो पत्थर खड़े हैं जिनके मध्य में एक और लम्बा शिवलिंग आकार का पत्थर विद्यमान हैं। इससे कुछ आगे लगभग तीन फुट ऊंचा पत्थर है जो शिवलिंग के आकार का है। गुफा से इस पर स्वत: ही जल की बूंदे टपकती रहती है। यहां अन्य कई छोटे-छोटे आकार के शिव लिंग भी है जिन पर पानी की बूंदे टपक रही है। शिवलिंग के साथ-साथ असंख्य छोटे-छोटे आकार के पत्थर स्थित हैं उन्हें निरन्तर देखकर तरह-तरह की प्रतिमाएं नज़र आती है। इसका वैज्ञानिक पक्ष कुछ भी हो लेकिन अब तो लोगों ने इसे शिव की तपस्या स्थली के रूप में लिया है। यहां तक अच्छा रास्ता बन गया है। बिजली पहुंच गई है, और हजारों लोग दर्शन हेतु यहां आ रहे हैं। इसे पांडव से भी जोड़ा जाता है।

इस गुफा के काफी ऊपर पुल निर्मित है उसके साथ एक विशाल पीपल और बड़ के वृक्ष हैं। यहां कुछ लाल झण्डे और पत्थर की प्रतिमाएं वर्षों से रखी हैं। लोग इस जगह को देव स्थान मानते हैं। ग्रामीण लोगों का कहना है कि जब सरीर खड्ड पर यह पुल बनाये जाने लगा तो इसके साथ चमत्कारी घटना घटी। बताया जाता है कि मजदूर पहले दिन जब उस पुल का भाग सीध में बना कर चले जाते तो दूसरे दिन वह उन्हें टेढ़ा लगता और उसे वह दोबारा बना लिया करते। ऐसा कई दिनों तक होता रहा लेकिन उनकी समझ में वह बात नहीं आई। एक दिन गांव का एक व्यक्ति जिसे गूर भी कहा जाता है, देव शक्ति से कांपने लगा। लोगों ने देव शक्ति मानकर उससे इस बात के बारे में पूछा तो उसने यह कहा कि मेरे सर पर से मेरे बिना पूछे रास्ता क्यों बनाया है। लोगों ने इसकी गहराई को समझा नहीं लेकिन फिर भी क्षमा याचना करके यहा प्रसाद बांटा और देवता के लिए भोग लगा दिया। इसके बाद जब इंजिनीयरों ने कार्य किया तो ठीक हुआ। इसी पुल के लगने के कुछ दिनों बाद इस गुफा का पता चल गया।

देव वड़योगी मण्दिर

इस गुफा के लिए जहां से रास्ता जाता है वहां से दूसरा रास्ता इस मन्दिर के लिए चला जाता है। यह मन्दिर सतलुज नदी के किनारे एक ढांक पर स्थित है। चारों तरफ जंगल है। केवल एक ही ऐसा किनारा है जहां से यहां पहुंचा जाता है। दक्षिण की तरफ सतलुज और पूर्व की तरफ ढांक की तह में एक झील है। दूर से यह झील अदृश्य है लेकिन मन्दिर के रास्ते से यदि नीचे निहारा जाए तो हजारों फुट नीचे यह सुप्त अवस्था में लगती है। ये दृश्य मनोरम के साथ डरावने भी है। मन्दिर जाने के लिए

एक किलोमीटर दूरी पर जूते उतारने पड़ते हैं। मन्दिर कई सौ वर्ष पूर्व का निर्मित है। इसे सुकेत के प्रसिद्ध देवता बड़योगी का मूल स्थान माना जाता है। मन्दिर पत्थर और लकड़ी का है। छत पत्थरों से छवाई गई है। पश्चिम की तरफ बरामदा और मन्दिर का मुख्य दरवाजा है। दरवाजा बिल्कुल छोटा है जिसे आम व्यक्ति नहीं खोल सकता। जब पुजारी सक्रान्त को यहां पूजा के लिए आता है वही मन्त्रोच्चारण से एक मेख के साथ इस दरवाजे को खोलता है। आम आदमी यदि इसे खोलना चाहे तो यह दरवाजा नहीं खुलता। मैंने स्वयं इस दरवाजे को खोलने का प्रयास किया था लेकिन मुझे सफलता नहीं मिली। भीतर से ऐसा आभास होता रहा कि किसी भारी चट्टान से यह दरवाजा सटा है। भीतर देवता के कुछ पत्थर के चिन्ह हैं। दरवाजे पर चांदी और साधारण सिक्के के रुपये मेखों में लगाए हुए हैं। इस देवता का दूसरा मन्दिर कई मील दूर लगभग 3021 मीटर ऊंची एक पहाड़ी पर है जिसे बड़योगी धार कहते हैं। यहां से कुछ दूर नीचे बसे गांव तलैण में देवता का तीसरा मन्दिर है जहां इस देवता के कारदार और बजन्तरी रहते हैं। यहां देवता का रथ छतर है। मन्दिर में कई मोहरे पीतल के हैं। देवता का भण्डार अति सम्पन्न है। वर्ष में कुछ ही अवसरों पर यह देवता अपने क्षेत्र की परिक्रमा करता है। रथ अति सुन्दर ढंग से सजाया जाता है। माहू नाग का यह देवता पुरोहित माना जाता है। देवता सतलुज नदी को पार नहीं करता। एक धारणा यह भी है कि बारह सालों के बाद ही देवता सतलुज नदी तभी पार करता है यदि इसकी किसी ने मनौतियां की हों। देवता को बकरों और खड्डुओं की बलि दी जाती है।

सरौर में इस देवता के मूल मन्दिर पार एक गांव बसा है। बताया जाता है कि काफी समय पूर्व यहां एक राक्षस का वास था। वह लोगों के बच्चों, पशुओं और फसल को खा जाया करता था। जब वहां केवल एक-दो व्यक्ति ही बचे तो उन्होंने एक दिन मन्दिर में आकर देवता से इस बात का निवेदन किया। देवता ने उन्हें विश्वास दिलाया कि आज के बाद उन्हें कोई नुकसान नहीं होगा। देवता ने उस राक्षस को पकड़कर अपने मन्दिर के साथ एक ढांक में बांध दिया था। आज यह राक्षस एक चट्टान के रूप में इस ढांक में मोटे लोहे के शंगल (जंजीर) से बन्धा देखा जा सकता है।

धार बड़योग पर स्थित मन्दिर की एक ताजा घटना आश्चर्य पूर्ण है। बताया जाता है कि महीने में एक दो बार युवा लड़के यहां प्रसाद चढ़ाने जाते हैं। एक दिन कुछ लड़कों ने यह संकल्प किया कि वह तब तक नहीं जाएंगे जब तक देवता खुद आकर भोग नहीं खाएगा। वह इस संकल्प के साथ कीर्तन करने लग पड़े। जिस लड़के ने संकल्प किया था उसने दरवाजे पर प्रसाद भोग हेतु रख दिया था। जब आधी रात हुई तो एक बाघ दरवाजे पर आया और उस भोग को खा गया। यह दृश्य केवल उसी लड़के को दिखाई दिया। यह प्रमाणिक चीजें हैं जिन्हें नकारना भला किस तरह सम्भव है। यही कुछ दैव्य शक्तियों के चमत्कार हैं जो आस्था को मजबूत करते हैं।

देवता के पूजा विधान और अन्य नियम अति कठोर हैं। देवता जब गुर में प्रवेश होता है तो वह अपनी मातृ भाषा में बोलता है जिसे आम आदमी समझ नहीं पाता। देवता की जातरें अति प्रसिद्ध और मन को उद्वेलित कर देने वाली होती हैं। पारम्परिक परिधान में सजे रथ और छतर भला किसका सर श्रद्धा से नहीं झुका देते।

5

कुल्लू

वह देश जहां मनु ने अपना घर बनाया और सृष्टि की रचना की, आदि भृगु, वशिष्ट, श्रृंगी, व्यास, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, पराशर, वामदेव और कार्तिक जैसे महर्षियों ने हजारों वर्ष तप किया, जिस धरा पर कई यात्राएं पाण्डवों ने कीं, जहां आजतक संसार का सर्वाधिक प्राचीन जनपद मलाणा अपनी उन्हीं परम्पराओं के आधार पर चल रहा है जिसकी स्थापना ऋषि जमदग्नि ने की, जिसकी धरा को इन्द्रकील, भृगुतुंग, जैसे विशाल पर्वत अपनी गोदी में लिए हुए प्रहरी के रूप में खड़े हैं, जहां पाण्डव पुत्र भीम ने हिडिम्ब जैसे शक्तिशाली राक्षस पर विजय प्राप्त करके उसकी बहिन हिडिम्बा से विवाह किया और बाद में यह देवी कुल्लू राजा की कुलदेवी और दादी कहलाई, जहां व्यास और पार्वती नदियों के संगम के ऊपर निर्मित बिजली महादेव मन्दिर में स्थापित शिवलिंग पर प्रति वर्ष बिजली गिराकर भगवान शंकर पापियों का संहार कर रहे हैं, जिस भूमि के देवतागण संसार में प्रतिमा रूप में प्रकट हुए और जिसकी धरा को पावन नदी अर्जिकीया जो बाद में विपाशा और अब व्यास के नाम से जानी जाती है सदैव अपने शीत और स्वच्छ जल से पवित्र कर रही है, आज कुल्लू के नाम से विश्वभर में प्रसिद्ध है।

एम० सी० फोरबिस ने अपने यात्रा संस्मरण 'टु कुल्लू एण्ड बैक 1911' में लिखा है,

"इसकी नदियां वेगवान हैं, इसका काव्य अनलिखा है, और इसकी गाथाएं दूसरे भागों में अनजानी हैं फिर भी यहां पहुंचने वाला कोई भी प्रवासी इसके सम्मोहन से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकता। यहां पहुंचकर वह यह महसूस करता है कि इसकी दृश्यावलियाँ सौन्दर्य के नए प्रतिमानों को उभारती हैं। एक कलाकार के लिए चाहे उसके पास कूची हो या कैमरा कुल्लू वास्तव में एक स्वर्ग है।"

सचमुच यह स्वर्ग ही है जहां का अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य और समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराएं किसी को भी आकर्षित कर सकती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कुल्लू पंजाब की पहाड़ियों में स्थित रियासतों में सबसे प्राचीन माना जाता है। इसकी स्थापना ईसा की पहली शताब्दी के मध्य हुई बताई

जाती है लेकिन इसका पौराणिक इतिहास इससे भी प्राचीन माना जाता है। इस बात के प्रमाण इस क्षेत्र से प्राप्त अनेकों सिक्कों और ताम्रपत्रों से मिलते हैं। पाणिनी की अष्टध्यायी में भी कुल्लूत देश का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त कई अन्य प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में भी इस जनपद का वर्णन मिलता है। इसे प्राचीन साहित्य में कुलान्तपीठ के नाम से भी अलंकृत किया गया है। चीनी यात्री ह्यूनसांग ने (629—664) अपने यात्रा संस्मरणों में इस देश का उल्लेख किया है। भगवान महात्मा बुद्ध भी यहां कभी आए थे जिससे इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार भी हुआ।

इस देश का प्रारम्भिक नाम कोलुक बताया जाता है। यह रामायणकाल में प्रचलित था जो इस क्षेत्र में बस रही कोल नाम की उस बड़ी जाति के कारण मिला जो उस समय यहां आबाद थी। इस जाति के वंशज आज भी कोली के नाम से कहलाते हैं। महाभारत काल में इसका नाम कोलुक से कुलूत पड़ गया। पंद्रहवीं सदी तक जो भी उपलब्ध प्रमाण हैं उनके अनुसार इस काल तक इस क्षेत्र को कुलूत देश के नाम से ही जाना जाता रहा।

कुलूत के प्राचीन नगरों में जगतसुख, हाट, निर्मण्ड इत्यादि प्रमुख माने जाते हैं जो न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध हैं बल्कि प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में भी प्रख्यात है।

यहां पाल वंशीय राजाओं का साम्राज्य रहा। राजा विहंगमणि को देवी हिडिम्बा द्वारा यहां का राज्य दिलवाया गया था, ऐसी धारणा प्रचलित है। इसलिए ही यह देवी कुल्लू राज परिवार की दादी और कुल देवी मानी जाती है। इसी वंश के राजा जगत सिंह ने भगवान रघुनाथ को अपना साम्राज्य सौंप दिया था और खुद उनके प्रतिनिधि के रूप में कार्य चलाते रहे। इसी दौरान जब अयोध्या से रघुनाथ जी की प्रतिमा यहां लाकर स्थापित की गई तो उस दिन कुल्लू जनपद के समस्त देवी-देवताओं को एक उत्सव में आमन्त्रित किया गया था। यही दिन था जब कुल्लू के विशाल दशहरा उत्सव का शुभारम्भ हुआ। आज यह उत्सव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जाता है। इसकी परम्परा अन्य उत्सवों से निराली है।

1846 ई० में यह क्षेत्र कांगड़ा के साथ ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना था और आजादी के बाद कुछ समय तक पंजाब में ही रहा। नवम्बर 1966 में इस क्षेत्र को एक जिले के रूप में हिमाचल के अन्य जिलों के साथ शामिल किया गया और तभी से कुल्लू के नाम से यह एक प्रमुख जिला बन गया।

एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रधान केन्द्र होने के कारण कुल्लू इस जिले का मुख्यालय है। जिले की सीमाएं पूर्व में लाहौल-स्पिति व किन्नौर, दक्षिण में किन्नौर और शिमला, पश्चिम में मण्डी व कांगड़ा तथा उत्तर में लाहौल-स्पिति व चम्बा जिलों के साथ लगती है। 5503 वर्ग किलोमीटर में फैले इस जिले की जनसंख्या 1981 की जनगणना के अनुसार 2,38,734 है। आज यह जनपद हिमाचल प्रदेश के अन्य जनपदों में अपनी संस्कृति और इतिहास के लिए अग्रणी है।

कुल्लू आज विश्व के पर्यटक नक्शे पर उभर कर समक्ष आया है। यह यहां की समृद्ध कला और संस्कृति के ही कारण है। यह स्थान समुद्रतल से 1219 मीटर की ऊंचाई पर स्थित शिमला से 240 कि० मी०, चण्डीगढ़ से 270 कि० मी० और पठानकोट से 284 कि० मी० दूर है। दिल्ली और शिमला से यह स्थान हवाई सेवाओं से जुड़ा है। यहां से 11 किलोमीटर दूर भुन्तर में हवाई पट्टी निर्मित है।

कुल्लू में अनेक धार्मिक प्राचीन केन्द्र स्थापित हैं। इनमें मणिकर्ण, वशिष्ट, जगतसुख, बिजली महादेव, बजौरा, नग्गर, मलाणा, रोहतांग और निर्मण्ड प्रमुख हैं। इस घाटी की देव परम्परा अति समृद्ध है। शैव, शाक्त, विष्णु और बौद्ध धर्म के असंख्य मन्दिर यहां स्थापित है जो मन्दिर शैली और उत्कृष्ट कला के अनूठे उदाहरण हैं।

मनाली यहां का दूसरा प्रमुख एवं प्रख्यात पर्यटक केन्द्र है। व्यास के तट पर बसी यह नगरी मनुआलय कहलाती है। यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम है। मनु का प्राचीन मन्दिर पुरानी मनाली में स्थित हैं। श्रृंग ऋषि ने राजा दशरथ से यहीं पर व्यास के किनारे पुत्र ज्येष्ठि यज्ञ करवाया बताया जाता है जिसके बाद ही भगवान राम का जन्म हुआ था। यहीं पर अर्जुन ने एक गुफा में तपस्या की जिसे आज अर्जुन गुफा के नाम से जाना जाता है। माता हिडिम्बा का पैगोडा आकार का मन्दिर इस बात का प्रतीक है कि भीम ने हिडिम्बा से यहीं विवाह किया था।

"यहां की सांस्कृतिक परम्परा और धरोहर हालांकि अमूल्य हैं लेकिन आज जिस तरह से इसका ह्रास हो रहा है वह भयभीत कर देता है। पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव यहां के गांव में इस कदर घुस गया है कि अब पत्थर और लकड़ी से निर्मित पुराने मकानों से भी डिस्को संगीत की ध्वनियां गूंजती रहती हैं। मनाली और कुल्लू के गांवों में दिल्ली और बम्बई अंदाज आज भी भ्रम में डाल देता है। कुछ विदेशियों ने यहां अपने स्थाई निवास तक बना लिए हैं। लोगों ने अब अपने मकान इस तरह से बनाने शुरू किए हैं जिनमें तीन चार कमरे गैस्ट हाऊस के लिए निकल जाएं। वे अपने कमरों को विदेशियों को देना अधिक पसन्द इसलिए करते हैं कि उनसे अच्छी खासी कमाई हो जाती है। इसकी आड़ में बाहर से आए लोग अब नशीली चीजों का व्यापार भी करने लगे हैं जिससे इस घाटी की संस्कृति को अघात पहुंच रहा है। यदि इस ओर उचित पग न उठाए गए तो यह मनु को भूमि जिसे सदैव व्यास की पावन लहरें पवित्र कर रही हैं, एक दिन जल कर राख हो जाएगी.........फिर शायद ही कोई मनु जैसा सृष्टि रचयिता यहां आए और अपनी डूबती किश्ती को इस भयंकर प्रवाह से बचा पाए।"

रघुनाथ जी मन्दिर

रघुनाथ जी का प्राचीन मन्दिर सुलतानपुर में राजमहल के साथ अवस्थित है। वास्तव में यह मन्दिर शिल्प की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितने कि इस घाटी

में स्थित अन्य मन्दिर लेकिन इस मन्दिर का कुल्लू के इतिहास एवम् धर्म के क्षेत्र में विशेष महत्व है। मन्दिर निर्माण एवं रघुनाथ जी की मूर्ति के साथ अति रोचक कथा जुड़ी है। कहा जाता है कि राजा जगत सिंह के शासनकाल में कुल्लू के टिपरी गांव में एक ब्राह्मण दुर्गादत अपने परिवार सहित रहा करता था। यह ब्राह्मण विद्वान था जिसके पास लोग आते-जाते रहते थे। इसी कारण राजा के कुछ ऐसे दरबारियों ने जो उस से ईर्ष्या करने लगे थे, एक दिन राजा से उस वक्त कहा जब वह मणिकर्ण तीर्थ यात्रा पर जा रहा था कि टिपरी में एक ब्राह्मण रहता है उसके पास मोतियों का खजाना है। राजा ने अपने दरबारियों पर विश्वास कर लिया और अपने दो सिपाही उससे मोती लाने के लिए भेज दिए। सिपाहियों ने राजा के आदेशों की पालना की और टिपरी में उस ब्राह्मण से राजा के आदेश कहे। यह बात सुन कर वह ब्राह्मण हैरान रह गया और उसने सहज भाव से कह दिया कि उन्हें गलत फहमी हुई है, उसके पास मोती नहीं है। लेकिन राजाओं के अधिकारीगण इससे सहमत नहीं हुए और उन्होंने उसे परेशान करना शुरू कर दिया। सिपाहियों के तंग करने पर उस ब्राह्मण ने उन्हें कहा कि जब राजा मनीकर्ण से वापिस आयेगा तो उन्हें सभी मोती वापिस कर देगा। इस पर उन्होंने उसे सताना बन्द कर दिया।

कहा जाता है कि जब राजा अपने अधिकारियों के साथ वापिस मणिकर्ण से टिपरी गांव होता हुआ कुल्लू आया तो वह उस ब्राह्मण को झोंपड़ी के पास रुक गया। उस ब्राह्मण ने राजा को आते देख कर अपनी झोंपड़ी में आग लगा दी जिसमें परिवार सहित वह भी जल गया। लेकिन जैसे ही राजा वहां पहुंचा, उस ब्राह्मण ने आग में जलते हुए अपने मांस के टुकड़े राजा के पास फेंके और कहा कि, "ये ले राजा तेरे मोती"—और यह कहते-कहते अपने परिवार सहित स्वर्ग सिधार गया। इस मन को दहला देने वाले दृश्य को देखकर राजा सहित सभी अधिकारीगण हतप्रद रह गए। लेकिन उन सभी के मन में वह झोंपड़ी की आग और ब्राह्मण के परिवार की बिलखती चीखें पसर गई। राजा तो उसके बाद सो ही नहीं सका क्योंकि चलते-फिरते, सोते-जागते उसे वही दृश्य दिखने लग पड़ा।

कुछ दिनों के बाद राजा जब भोजन खाने लगता तो उसमें उसे कीड़े नजर आने लगे, पानी पीता तो उसका रंग लहू जैसा लाल दिखता। इसके साथ ही राजा की एक अंगूठी में कोढ़ भी लग गया। उसने हजारों उपाय किए लेकिन वह इस ब्रह्म हत्या के पाप से मुक्त न हो पाया। इस पर एक दिन राजा के किसी शुभचिन्तक ने बताया कि झीड़ी नामक स्थान में एक महात्मा रहते हैं, वे जन्म-जन्म की बातें बता देते हैं। राजा को उसके पास अवश्य जाना चाहिए। राजा ने ऐसा ही किया और वह झीड़ी नामक स्थान में उस महात्मा के पास चला गया। महात्मा ने राजा को बताया कि यह सभी किसी ब्रह्म हत्या के कारण है। इसका उपाय केवल एक ही है कि यदि राजा भगवान राम का भक्त बन जाए और अयोध्या में स्थित राम मन्दिर से रघुनाथ जी की मूर्ति कुल्लू लाकर प्रतिष्ठापित करें तो वह इस ब्रह्म हत्या से मुक्त हो पायेगा। भगवान राम

का भक्त बनना राजा के लिए आसान था लेकिन अयोध्या से मूर्ति का कुल्लू लाना सम्भव कार्य नहीं था। राजा ने उसी महात्मा से निवेदन किया कि वही अयोध्या से मूर्ति को मंगवाने के लिए राजा की सहायता करे। उस महात्मा ने राजा के अनुरोध पर अपने एक शिष्य दामोदर को इस कार्य हेतु नियुक्त कर दिया और दामोदर गुरू की आज्ञा से आयोध्या चला गया।

दामोदर कई दिनों की इस कठिनतम यात्रा से अयोध्या पहुंचा और वहाँ भगवान राम अर्थात रघुनाथ जी की प्रतिमा को लाने का उपाय ढूंढता रहा। एक दिन वह इस कार्य में सफल हो गया। रघुनाथ जी की सोने की मूर्ति अयोध्या से उठाकर वह कुल्लू ले आया जिस पर महात्मा के साथ राजा की प्रसन्नता की सीमा न रही। राजा ने रघुनाथ जी की इस मूर्ति को अपने राजमहल के साथ एक मन्दिर में स्थापित कर दिया और अपने आपको उसी दिन से राजपाठ सहित रघुनाथ जी के चरणों में समर्पित करके उनका अनन्य भक्त बन गया। कुछ दिनों के बाद राजा ब्रह्म हत्या के प्रकोप से मुक्त हो गया।

आम धारणा है कि यह मूर्ति विजय दशमी के दिन रघुनाथ जी मन्दिर में स्थापित हुई थी जिसके सम्मान में कुल्लू जनपद के तमाम देवी-देवता यहां पधारे थे और आज उसी पर्व का साक्षात रूप कुल्लू का दशहरा माना जाता है। सात से दस दिनों तक लगने वाले इस पर्व के अधिष्ठात्री देव रघुनाथ जी ही होते हैं। इस मन्दिर में रघुनाथ जी के लिए स्वर्ण जड़ित पालकी है जिसमें उन्हें संवार कर कुल्लू दशहरे में लाया जाता है। रघुनाथ जी का विशाल रथ ही कुल्लू दशहरे का मुख्य आकर्षण रहता है। रघुनाथ जी अपने मन्दिर से केवल चार बार ही वर्ष में बाहर आते हैं। बसन्त पंचमी उत्सव, व्यास तट पर जल विहार, वन विहार और चौथी बार दशहरे के पावन अवसर पर।

इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आज जिस पर्व ने कुल्लू दशहरे का रूप ले लिया है उसका महत्व कुल्लू जनपद में ही नहीं अपितु भारतवर्ष से बाहर भी अपनी अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर के लिए हो चुका है। रघुनाथ जी का कालान्तर से कुल्लू के राज्य पर आधिपत्य रहा। राजा-महाराजा उनके आशीर्वाद से ही यहाँ का राज्य चलाते रहे और इस घाटी में रघुनाथ जी की मूर्ति लाने एवं उसे मन्दिर में स्थापित करने के बाद ही राम भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

राजमहल के पार्श्व में लक्ष्मीनारायण का मन्दिर भी अवस्थित है। यह मंदिर पाषाणकला निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है।

विश्वेश्वर महादेव मन्दिर बजौरा

कुल्लू घाटी में प्राचीन वास्तुकला एवं शिल्प की दृष्टि से बजौरा का विश्वेश्वर महादेव मन्दिर दृष्टव्य है। यह मन्दिर और कुल्लू के मध्य के बीच बसे गांव से लगभग दो सौ मीटर दूर मुख्य सड़क तथा व्यास नदी के बीच में स्थित है। शिखर शैली का

यह उत्कृष्ट एवं संजीव उदाहरण है। कुल्लू क्षेत्र का यह स्थल प्राचीन शैव केन्द्र भी माना जाता है। मन्दिर में बना गर्भ गृह जहां प्राचीन शिव लिंग आज भी विद्यमान है मन्दिर की प्राचीनता का साक्षी है। इसका दरवाजा नदी की ओर पूर्व दिशा में खुलता है। इसे सातवीं-आठवीं शताब्दी में निर्मित माना जाता है लेकिन सोहलवीं और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य इसका जीर्णोद्धार करवाया गया था। मन्दिर में टांकरी भाषा के अभिलेख इसके प्रमाणिक दस्तावेज हैं। गर्भगृह की बाहरी दीवारों पर बने तारव और उनमें स्थित प्रतिमाएं इस बात की ओर संकेत करती हैं कि कभी इस मन्दिर में प्रदक्षिणा पथ भी बनवाया गया था जो बाद में उचित देख-रेख के अभाव में नहीं रहा। इनमें गणेश, भगवान विष्णु और दुर्गा की प्रतिमाएं आज भी अवलोकनीय हैं। ये सभी मूर्तिकला की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। दरवाजे के दोनों ओर तराशी गई गंगा और यमुना की मूर्तियां अति सुन्दर हैं। यहां की एक प्रतिमा जो सूर्य भगवान की है आज शिमला के राज्य संग्रहालय में रखी गई है।

बजौरा कालान्तर में एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी रहा है। 1820 के दौरान दुलचा दर्रा के मार्ग से होते हुए मूरक्रापट ने इस मन्दिर का उल्लेख किया था। गुप्त-कालीन शिल्पकला का एक अविस्मणीय उदाहरण यह मन्दिर इस घाटी की अनूठी धरोहर है। कुल्लू घाटी में भ्रमणार्थ जाने वाले पर्यटक बराबर इस मन्दिर की भव्यता और उत्कृष्ट कला को देखे बिना वापिस नहीं लौटते। पुरातात्विक दृष्टि से इस मन्दिर का आज भी विशेष महत्व है। इसलिए ही आज यह मन्दिर पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है।

कालान्तर में एक प्रधान शैव केन्द्र होने के नाते यहां आज भी अन्य कई मन्दिरों के अवशेष मिलते हैं। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मन्दिर के अतिरिक्त यहां कई अन्य मन्दिर भी निर्मित थे जो समय के साथ-साथ नष्ट होते गए।

वास्तव में इस मन्दिर के निर्माण काल को लेकर भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। लेकिन इसकी मूर्तिकला और शैली को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना सम्भव हो जाता है कि इसका निर्माण कब हुआ है।

मन्दिर कुल्लू से 15 कि०मी० दूर, समुद्रतल से 1097 मीटर की ऊंचाई पर बसा है। मुख्य मार्ग और व्यास नदी के मध्य गांव से 200 मीटर ऊपर है।

हाटकेश्वरी मन्दिर बजौरा

बजौरा कुल्लू का एक प्रसिद्ध गांव माना जाता है। इस गांव से एक किलोमीटर की दूरी पर प्राचीन मन्दिर स्थित है जिसे श्री हाटकेश्वरी माता का मन्दिर कहा जाता है। यह मन्दिर अति प्राचीन है जिसके साथ एक प्राचीन लोक कथा जुड़ी है। लोगों का कहना है कि श्री हाटकेश्वरी महर्षि पराशर की अर्धांगिनी थीं जिसकी स्मृति में यह मन्दिर अवस्थित है। कहा जाता है कि महर्षि पराशर और उनकी पत्नी व्यास नदी के किनारे एक गुफा में वास किया करते थे। एक बार बसन्त के आगमन पर महर्षि

की पत्नी ने इच्छा व्यक्त की कि इस सुहावने मौसम में कहीं भ्रमण हेतु जाना चाहिए। ऋषि ने अपनी पत्नी की बात नहीं टाली और वे दोनों व्यास के तट के किनारे-किनारे से भ्रमण करते हुए काफी दूर निकल गए। चारों तरफ सुन्दर फूल लहला रहे थे। खेत सरसों के पीले फूल से किसी अप्सरा से कम नहीं लग रहे थे। एक जगह वे दोनों विश्राम के लिए रुक गए। थकान दूर करने लिए महर्षि अपनी अर्धांगिनी की गोद में लेट गए और उन्हें नींद आ गई। काफी देर तक भी जब वे नहीं जागे तो उनकी पत्नी ने सोचा कि क्यों न ऋषि के जागने तक इधर-उधर टहला जाए। लेकिन वे उन्हें जगा भी तो नहीं सकती थी। स्त्री मन चंचल तो होता ही है। उनके मन में जो बात घर कर लेती है उसे किए बिना वे नहीं रह सकती। जब चारों ओर के मनोहारी दृश्यों और पक्षियों की चहचाहट ने श्री हाटकेश्वरी को मजबूर कर दिया तो उसने अपने पास ही पड़ी एक शिला को उठाकर अपनी टांगे उठा लीं और गोद के बदले शिला पर महर्षि का सर रख दिया। और खुद खेतों में टहलती हुई सुन्दर दृश्यों, व्यास की उछलती-कूदती लहरों और पक्षियों की चहचाहट का आनन्द लेती रही। काफी देर बाद जब वापिस लौटी तो देखा कि ऋषि उसी अवस्था में लेटे हैं। इस पर उसका मन और भी शान्त हो गया। उसने शिला को सरकाया और पुनः महर्षि का सर अपनी गोद में रख लिया। ऋषि कुछ देर बाद उठे और श्री हाटकेश्वरी से पूछ लिया कि वह कहां गई थी। आखिर चोरी तो पकड़ी गई लेकिन इस गलती ने उसे भयभीत कर दिया और श्री हाटकेश्वरी ने झूठ कह दिया कि वह तो यहीं थी। ऋषि को क्रोध आ गया और उसने फिर से पत्नी को इस झूठ छुपाने का कारण पूछा। वह घबरा गई। महर्षि के क्रोध से वह परिचित थी। भयभीत होकर वह उन्हें छोड़कर भाग गई। महर्षि भी उनके पीछे भागे। भागते-भागते वे हुरला नामक गांव में जा पहुंचे। हाटकेश्वरी को एक युक्ति सूझी। उसने वहां स्थित हुरला देवता के मन्दिर में हुरला से सहायता मांगी। श्री हुरला महाराज महर्षि के क्रोध को जानते थे। उन्होंने श्री हाटकेश्वरी को बताया कि पास शमशान में जाकर जो चिता जल रही है वह उसके चारों तरफ मधुमक्खी बन कर मंडराती रहे और जब महर्षि का गुस्सा ठंडा हो जायेगा फिर उनसे इस भूल की क्षमा मांग लेना। श्री हाटकेश्वरी ने ऐसा ही किया और ऋषि महाराज वहां नहीं जा सके क्योंकि वह स्थान उनके लिए उपयुक्त नहीं था। महर्षि ने जब ऐसा देखा तो अपनी पत्नी को उसी शमशान घाट में निवास करने का शाप देकर वापिस अपने आश्रम चले गए। उसके बाद शाप वश श्री हाटकेश्वरी वहीं निवास करती रही और बाद में ग्रामीण लोगों ने मां का मन्दिर इसी स्थान में निर्मित कर दिया।

इसके बाद स्थानीय लोगों ने अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु इस मन्दिर में निवास कर रही श्री हाटकेश्वरी मां का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। जब भी गांव पर कोई विपत्ति आती या प्राकृतिक प्रकोप से गांव या लोग पीड़ित हो जाते तो लोग सामूहिक रूप में माता के पास जाकर उस प्रकोप को समाप्त करने का निवेदन करने लग जाते। यदि वह प्रकोप फिर भी खत्म न होता तो धमकी देते कि यदि उनकी इच्छा पूर्ति न हुई तो

लोग उसे उठाकर महर्षि के आश्रम में ले जाएंगे। बताया जाता है कि जब लोग उसे यह धमकी देते तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जाती।

गांव के कुछ पंडितों को यह बात अच्छी नहीं लगी। पुजारी का कहना है कि श्री हाटकेश्वरी को महर्षि के शाप से मुक्ति दिलाने के लिए 30 वर्ष पूर्व एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया गया था जिसमें माता ने खुद ही अपने चमत्कार से बकरे की बलि स्वीकारी थी। यह यज्ञ सम्पूर्ण हुआ तो लोगों ने देवी के गूर से महर्षि के पास देवी मां के ले जाने की स्वीकृति मांगी जो देवी ने उस समय सहर्ष प्रदान कर दी। लोगों द्वारा श्री हाटकेश्वरी को हजारों सालों के बाद सजा-संवार कर महर्षि पराशर के आश्रम में ले जाया गया। ऋषि पराशर का यह स्थान तुंगल गांव में है जहां प्रति वर्ष एक बार यह देवी वहां ले जाई जाती है। लोगों की धारणा है कि महर्षि पराशर ने श्री हाटकेश्वरी को शाप से मुक्त कर दिया है। उसके बाद लोग भी देवी से अपनी मन इच्छा के लिए पहले जैसी धमकियां नहीं देते अन्यथा इस पौराणिक घटना का लोग काफी अर्से से यहां अपने स्वार्थ हेतु लाभ पहुंचाने के लिए देवी मां के तंग करते थे।

बिजली महादेव मन्दिर

कुल्लू से यह मन्दिर व्यास को पार करके 14 किलोमीटर की दूरी पर समुद्रतल से लगभग 2,435 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। घाटी में इस मन्दिर को वास्तु-शिल्प का अनूठा नमूना माना जाता है। सड़क से यहां के लिए लगभग 8 किलोमीटर की पैदल यात्रा करनी पड़ती है। भूमि से ऊपर की ओर मजबूत पत्थर से निर्मित इस मन्दिर का ऊपरी भाग लकड़ी से बना है जो पहाड़ी शैली का अद्भुत उदाहरण माना जाता है। मन्दिर के बाहर और भीतर पत्थर की दीवारों तथा लकड़ी पर पुरातन चित्र-कला की गई है। प्रवेश द्वार से भीतर दाईं ओर भगवान कृष्ण की जीवनी अति सुन्दर ढंग से चित्रित है। इसी के बाईं ओर इसी शैली में भगवान राम का जीवनवृत्त भी दर्शाया गया है। मन्दिर के खम्बों पर कोबरा सांप के चित्र हैं।

कहा जाता है कि कुछ सालों पहले यह मन्दिर आसमानी बिजली से जल गया था, लेकिन आग से कुछ ही भाग ध्वस्त हुआ। उसके बाद मन्दिर को उसी तरह का पुरातन रूप देने का प्रयास किया गया है।

मन्दिर के गर्भगृह में चमत्कारी एवं विशाल शिवलिंग स्थित है जिसमें सदैव मक्खन और सत्तु लिपटे देखे जा सकते हैं। बताया जाता है कि यह शिवलिंग प्रति वर्ष या कभी दो वर्ष में एक बार आसमानी बिजली से टूट जाता है और इसके टुकड़े दूर-दूर तक मन्दिर और प्रांगण में बिखर जाते हैं। तदोपरान्त मन्दिर का पुजारी इसकी सूचना गांवों के लोगों को देता है जो तत्काल घर से सत्तु और मक्खन ले आते हैं। फिर पुजारी इन टुकड़ों को समेटता है और शिवलिंग में मक्खन के साथ लगाता जाता है। यदि कहीं कोई टुकड़ा बच जाता है तो वहां से कुदरती तौर पर आदमी के ऊंघने की आवाज आती है और पुजारी को तत्काल पता चल पड़ता है कि यहां कोई टुकड़ा शेष रह गया

है। फिर उसे उठाकर शिवलिंग में जोड़ा जाता है। इसके बाद यह शिवलिंग अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है।

मन्दिर के साथ एक किवदन्ती भी जुड़ी है। कहा जाता है कि कालान्तर में पाल नामक एक व्यक्ति मायापुरी से कुल्लू घाटी में भ्रमण करता हुआ पहुंचा था। यहां आने के बाद यह व्यक्ति बजौरा के पास हाट गांव में पहुंचकर रहने लग गया। एक दिन उसे एक अदृश्य आवाज आई जिसमें उसे कहा गया था कि यदि वह व्यास और पारवती नदी के संगम से जल की धारा प्रवाहित करके शिवलिंग पर ले आता है तो उसे आश्चर्यजनक ईनाम दे दिया जाएगा। इससे प्रभावित होकर इस व्यक्ति ने ऐसा ही किया और इस दिन की रात्रि मन्दिर में ही व्यतीत की। रात्रि के समय शिव उसके समक्ष प्रकट हुए और जगतसुख जाकर उसे अपना ईनाम लेने को कहा। वहां जब वह व्यक्ति पहुंचा तो देवी हिडिम्बा ने उसे दर्शन दिए और उसके बाद वह कुल्लू रियासत का राजा बन गया।

मान्यता है कि जब बिजली गिरती है तो शिव भगवान उसके तीव्र वेग को अपने ऊपर समेट लेते हैं जिससे गांव की रक्षा हो जाती है। मन्दिर के प्रांगण मे एक लम्बा धार्मिक ध्वज (खम्बा) लगा रहता है जो 60 फुट ऊंचा है। यह देवदार की लकड़ी का होता है जिसे एक विशेष परम्परा के अन्तर्गत बनाया जाता है। यह समय या तो काहिका उत्सव का होता है या उस समय का जब मन्दिर में नई छत पड़ती है। लेकिन आम धारणा यही है कि जब मन्दिर में स्थित शिवलिंग आसमानी बिजली से टूट जाता है तो यह खम्बा भी इसी के साथ जल जाया करता है, जिसे उसके बाद बदल दिया जाता है।

बिजली महादेव के मन्दिर का जो गूर है उसमें देव छाया का प्रवेश होता है और इस ध्वज को बदलने के गूर आदेश देता है। गूर ही ध्वज हेतु पेड़ का चयन करता है और उसे काटने वाले व्यक्ति का भी। जिस व्यक्ति को ध्वज काटने के लिए चुना जाता है उसके सर पर विशेष तरह से एक पगड़ी बांधी जाती है और परम्परा-नुसार वह व्यक्ति उस पेड़ को काट देता है।

मन्दिर प्रांगण में उसी जगह यह ध्वज लगाया जाता है जिस पर पीले या लाल रंग का झण्डा सदैव लहराया करता है।

कुल्लू घाटी के मन्दिरों में यह मन्दिर विशेष रूप से इसलिए महत्वपूर्ण समझा जाता है कि वर्ष में एक बार आसमानी बिजली इस पर गिरती है और शिवलिंग पुनः उसी तरह पुजारी द्वारा सत्तु और मक्खन लगाकर जुड़ जाता है। लोगों का मानना है कि यह घटना कालान्तर से होती चली आ रही है जो ईश्वर की इच्छा के परिणाम-स्वरूप है। आज तक कोई भी वैज्ञानिक इस बात के लिए कोई तर्क नहीं दे सका है कि ऐसा क्यों होता है। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि यहां बिजली 12 वर्षों में केवल एक बार ही गिरती है तो कुछ दो वर्ष में एक बार मानते हैं। लेकिन गांव के लोग बिजली गिरने की घटना प्रति वर्ष बताते हैं।

बिजली महादेव मन्दिर भा-आर्य शैली का सुन्दर उदाहरण है एक तरफ से ढलवां छत और बरामदे से सुसज्जित यह मन्दिर पत्थर और लकड़ी से निर्मित है।

वैष्णो देवी गुफा

कुल्लू-मनाली सड़क पर कुल्लू से साढ़े तीन किलोमीटर की दूरी पर वैष्णो देवी गुफा स्थित है। यह गुफा सड़क के ऊपर व्यास नदी के दाहिनी ओर स्थापित है। प्रारम्भ में यह केवल एक छोटी-सी गुफा होती थी जिसमें वैष्णो देवी की लघु प्रतिमा स्थापित थी। लेकिन धीरे-धीरे स्थानीय लोगों और कुछ महात्माजनों ने यहां का विकास किया और इस गुफा के बाहर विशाल मन्दिर का निर्माण कर दिया। सड़क से बाईं ओर मनाली जाते हुए गुफा के लिए सीढ़ियां बनी हैं। सीढ़ियों के दोनों ओर मन्दिर भवन हैं जिनमें सराय और महात्माओं के रहने के लिए भवन हैं। गुफा में बैठकर प्रवेश करना पड़ता है। गुफा के बाहर कई अन्य लघु मन्दिर निर्मित किए गए हैं जिनमें भगवान राम और श्रीकृष्ण के हैं। ऊपर की ओर भगवान शिव का मन्दिर है। ये सभी पहाड़ी की गोदी में काफी ऊपर तक बनाए गए हैं।

रास्ते के मध्य होने पर कुल्लू-मनाली जाने वाले पर्यटक और श्रद्धालु यहां माता का आशीर्वाद अवश्य लेते हैं। व्यास नदी यहां काफी फैलाव से बहती है। इसके किनारे लंगर भवन बनाया गया है। जिसमें प्रतिदिन श्रद्धालुओं को भोजन खिलाने की व्यवस्था है। इसके समक्ष घाट हैं जहा व्यास नदी में श्रद्धालु स्नान आदि करते हैं और उसके बाद वैष्णो माता के दर्शनों को जाते हैं।

आदि ब्रह्म मन्दिर, खोखन

भुंतर से यह मन्दिर दो किलोमीटर की दूरी पर है। इस घाटी में निर्मित पगौडा शैली के मन्दिरों में इसका स्थान प्रमुख माना जाता है। ऊपर की ओर इस मन्दिर की चार छतें हैं। मन्दिर की ऊंचाई 70 से 80 फुट तक है। इस क्षेत्र के देवताओं में इसका प्रमुख स्थान माना जाता है। यह देवता मुजारा अधिनियम पारित होने से पूर्व बहुत बड़ी भूमि का मालिक था।

इस मन्दिर को 18वीं शताब्दी में निर्मित बताया जाता है। आदि ब्रह्म के मन्दिर में मुहरे में खुदी पंक्तियों के अनुसार इसमें 1746 ई०पू० की तिथि है। यह मुहरा राजा तेज सिंह के शासनकाल का है जो यहां का 85वां राजा बताया गया है। मन्दिर की छतरीनुमा छतें लकड़ी की हैं जिन्हें स्लेटों से छवाया गया है।

मन्दिर में एक शैड या लघु कमरा है जिसमें कई पत्थर की प्रतिमाएं रखी गई हैं। ये प्रतिमाएं 10वीं व 11वीं शताब्दी की बताई जाती हैं।

भेखली देवी मन्दिर

कुल्लू से दो किलोमीटर की दूरी पर श्री भेखली देवी मन्दिर है। इसी देवी को श्री जगरनाथी तथा श्री भुवनेश्वरी के नाम से भी जाना जाता है। इस मन्दिर में देवी मां की कोई प्रतिमा नहीं है। एक साधारण पिण्डी के नाम से देवी की पूजा की जाती है। यहाँ वर्ष में तीन बार मेलों का आयोजन होता है। इस अवसर पर देवी के पुजारी लंगड़ाकर चलते हैं।

लंगड़ाकर चलने का सम्बन्ध एक किंवदन्ती से माना जाता है। लोगों का कहना है कि एक बार सूर्यदेव इस देव कन्या पर मुग्ध हो गए। जैसे ही उन्होंने इस देव कन्या का शीलभंग का प्रयास किया, इसके रक्षक नारायण ने देवी की रक्षा की और वह सूर्य से उलझ गया। दोनों में युद्ध हुआ। सूर्य को क्रोध आया और उन्होंने बिजली गिराकर नारायण देव की टांग तोड़ दी। इस पर देवी ने सूर्य का बहिष्कार कर दिया और अपने रक्षक की सहानुभूति पर खुद भी लंगड़ी हो गई। इसलिए मेले के दिनों में इस परम्परा को बरकरार रखा गया है।

यहां देवी पिण्डी के रूप में प्रकट हुई थी। लोगों ने जब इस पिण्डी को एक सुन्दर जगह पर देखा तो वह चांदनी की तरह चमचमाती नजर आई। लोगों ने इसे देवी रूप मानकर पूजा की। बाद में इस देवी ने अपना गूर नियुक्त किया जिसने देवी कथा सुनाई। लोगों ने यहां मन्दिर बना दिया और तभी से आज तक यहां विधिवत पूजा और मेलों का आयोजन हो रहा है।

त्रिजुगा नारायण मन्दिर दियार

श्री त्रिजुगा नारायण का प्राचीन मन्दिर भुन्तर हवाई अड्डे के सामने पहाड़ी पर दियार गांव में स्थित है। कुल्लू से भुन्तर की दूरी 10 कि०मी० है। इस देव को भगवान विष्णु का अवतार भी माना जाता है। मन्दिर पगोडा शैली में निर्मित है। एक के ऊपर दूसरी कई छतों में बनाए गए इस मन्दिर की काष्ठ-कला अनूठी है।

इस देवता के बारे में लोगों में रोचक कथा प्रचलित है। बताया जाता है कि आदि ब्रह्म खोखन और श्री त्रिजुगा नारायण के मध्य एक बार युद्ध हो गया। श्री त्रिजुगा ने जिस देव कन्या से विवाह किया था वह अति सुन्दर थी। एक बार आदि ब्रह्म ने उसे देख लिया। बुरी दृष्टि डालने पर जब यह बात त्रिजुगा को विदित हुई तो उन्होंने आदि ब्रह्म को युद्ध के लिए आह्वान दिया। श्री त्रिजुगा नारायण कुल्लू के ऊपर चोटी पर थे और आदि ब्रह्म व्यास नदी के तट पर। सम्भवत: श्री त्रिजुगा की स्थिति बेहतर थी। बताया जाता है कि इस युद्ध में आदि ब्रह्म ने एक तीर से त्रिजुगा के मन्दिर को टेढ़ा कर दिया था और यह टेढ़ापन आज भी मन्दिर में देखा जा सकता है। वर्ष-भर में यहां भी कई मेलों का आयोजन किया जाता है।

इस मन्दिर को मनाली के हिडिम्बा तथा नगर के त्रिपुड़ा-सुन्दरी मन्दिर से प्राचीन माना जाता है।

नगर के मन्दिर

नगर कुल्लू का एक प्रसिद्ध गांव माना जाता है। व्यास नदी के बाएं छोर पर यह गांव कुल्लू से 27 कि०मी० व्यास नदी को पार करके पहाड़ों की गोदी में बसा है। यहां तक वाहन द्वारा यात्रा की जा सकती है। मनाली से नगर तक का रास्ता 20 कि०मी० है और कटराई से 5 कि०मी०। समुद्रतल से यह स्थान 1768 मीटर की ऊंचाई पर है।

नगर 1660 तक कुल्लू की राजधानी रही है। ऐसा माना जाता है कि इस स्थान का प्रयोग राजा विशुद्धपाल ने अपनी राजधानी के लिए किया था और छठी शताब्दी से लेकर सोहलवीं शताब्दी तक यह गांव राजधानी बना रहा। बाद में राजा जगत सिंह ने यहां से अपनी राजधानी बदल कर सुल्तानपुर (कुल्लू) लाई थी।

ऐतिहासिकता के साथ प्रारम्भ से ही इस गांव का धार्मिक महत्व भी रहा है। बताया जाता है कि महर्षि जमदग्नि ने अपनी टोकरी में जिन ठारह करडू देवताओं को लाया था उनका केन्द्र नगर माना जाता है। ऋग्वेद में एक ऋचा में इस बात का उल्लेख मिलता है। यह ऋचा इस प्रकार है—"विश्वान् देवान जगत्या विवेश"—अर्थात् संसार भर के सभी देवतानण कालान्तर में जगती नामक स्थान में एकत्रित हुए और रहने लगे। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि आज भी कुल्लू भर के सभी देवतागण नगर आकर यहां महायज्ञ करते आए हैं। यदि कभी कुल्लू पर कोई विपदा आ जाए तो भी सभी देवता नगर आकर महायज्ञ करते हैं। इसे जगती पुछ के नाम से भी पुकारा जाता है। यहां एक बहुत बड़ा पत्थर है। यही देवताओं के सभापति का आसन माना जाता है। यानी इन्द्रासन की तरह श्रेष्ठ और उच्च। एक किवदन्ती के अनुसार इस आसन को भृगुतुंग (रोहतांग) की एक शिला से काटा गया था जिसे मधुमक्खी का रूप धारण करके सभी देवताओं ने उठाकर यहां लाया था। इसे जगती पाट कहते हैं।

नगर प्राकृतिक सौन्दर्य का भण्डार है। यहां के चारों तरफ कुल्लू घाटी का मनोरम दृश्य अवलोकनीय हैं। यहां के मन्दिरों और सुन्दरता को देखने के लिए श्रद्धालुओं और पर्यटकों की भीड़ लगी रहती है। हिमाचल पर्यटन निगम मनाली पर्यटक केन्द्र से नियमित यहां के लिए यात्री प्रयासों का आयोजन करता है। नगर केसल और रोयरिक कला केन्द्र यहां के अन्य दर्शनीय स्थान है। नगर में कई पुरातन मन्दिर हैं, जिनमें से कुछेक का यहां उल्लेख किया जा रहा है—

गौरी शंकर मन्दिर

नगर गांव में प्रवेश होते ही गौरी शंकर मन्दिर देखा जा सकता है। यह मन्दिर शिखरशैली का सुन्दर उदाहरण है। पत्थरों का सुन्दर कलात्मक प्रयोग दृष्टव्य है। भगवान गौरी शंकर की प्रतिमा मन्दिर में स्थापित है जो पहाड़ी शैली का संजीव उदाहरण प्रस्तुत करती है। शिखर तक सुन्दर चित्रकारी की गई है। दर्शक इस उत्कृष्ट

कला को देखते ही रह जाते हैं। इस मन्दिर का निर्माण काल बारहवीं शताब्दी माना जाता है। शैव धर्म का इस क्षेत्र में यह एकमात्र मन्दिर माना जाता है। मन्दिर के बाहर सुन्दर मण्डप है।

लक्ष्मी नारायण मन्दिर

इसी मन्दिर के नजदीक लक्ष्मी नारायण का मन्दिर स्थित है। यह भी बहुत सुन्दर मन्दिर है जिसका निर्माण-काल बारहवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। शिखर-शैली में ही इस मन्दिर का निर्माण हुआ है। पत्थरों पर सुन्दर चित्रकला अवलोकनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि गौरी शंकर मन्दिर के बाद ही इस मन्दिर का निर्माण हुआ है। अर्थात् पहले गौरी शंकर मन्दिर बनाया गया होगा और उसके तुरन्त बाद यह मन्दिर नगर के अन्य मन्दिरों में चतुर्भुज मन्दिर प्रमुख है। भगवान विष्णु को समर्पित इसमें विष्णु की कांसे की चतुर्भुज प्रतिमा हैं। शिखर शैली में निर्मित है। इसके अतिरिक्त यहां मुरलीधर मन्दिर, जगन्नाथ मन्दिर, गणेश मन्दिर भी अवलोकनीय हैं।

गांव के ऊपरी भाग में श्री कृष्ण भगवान का एक और मन्दिर दर्शनीय है। इसे मुरलीधर मन्दिर भी कहते हैं।

इस गांव में सर्दियों में एक मेला लगता है जिसे गनेड़ कहते हैं। गनेड़ शब्द वास्तव में नगेड़ से बिगड़ कर बना प्रतीत होता है। अर्थात जहां नागों के समूह वास करते हों उसे ही गनेड़ कहा जाता है। इससे यह लगता है कि नगर गांव में कभी नाग वंश का गिरोह रहा करता था। कुछ लोग नाग से ही इस गांव को नगर भी कहते हैं। यह मेला नागों पर विजय का प्रतीक हैं। लोगों का कहना है कि प्राचीन काल में यहां एक बड़ा दानव रहा करता था वह लोगों को बहुत परेशान किया करता। लोग उसके आतंक से काफी दुखी हो गए थे। लोगों ने एक दिन एकत्रित होकर अपने स्थानीय देवता के पास जाकर अपनी परेशानी सुनाई। इसमें जाणा गांव का देवता जीव नारायण भी शामिल था। वास्तव में वह दानव कोई नाग वंश का था। और देवताओं के साथ मिल कर लोगों ने उसका हेड़ा अर्थात शिकार किया जिससे उसे मार भगाया गया। तभी से नाग का हेड़ा से यह मेला नगेड़ या ननेड़ प्रारम्भ हुआ जो आज भी मनाया जाता है।

इससे यह लगता है कि इस गांव में पहले नाग वंश के दानव भी रहा करते थे। कुल मिलाकर नगर गांव में सभी तरह के देवी-देवताओं का वर्णन मिलता है।

त्रिपुड़ा सुन्दरी मन्दिर

श्री त्रिपुड़ा सुन्दरी देवी का मन्दिर नगर गांव की ऊपरि-दिशा में स्थित है। यह माना जाता है कि यह गांव इस देवी ने बसाया है। यह बात एक शिलालेख में इस तरह उद्धृत की गई है, "नगर गांव त्रिपुड़ा सुन्दरी आबाद हुआ।" देवी का मन्दिर

पगोडा शैली में निर्मित है। यह देवी गांव की इष्ट देवी मानी जाती है। इस देवी का बड़ा फेरा अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है।

यूं तो यह देवी वर्ष में एक बार या तीन वर्षों में अपने उन गांवों की परिक्रमा करती है जिनकी वह इष्ट है लेकिन कभी विशेष इच्छा पर यह देवी अपने बड़े फेरे पर निकलती है। इसके लिए दिन देवी का गूर खुद निर्धारित करता है। इस दिन लोग अपने घरों और कपड़ों की अच्छी तरह से सफाई करते हैं। जिस दिन देवी की यात्रा प्रारम्भ होती है उस दिन देवी का रथ सुन्दर ढंग से सजाया जाता है। इसी में देवी के सोने के मोहरे भी रखे जाते हैं। पारम्परिक ढंग से वाद्य यन्त्रों की ध्वनि के साथ देवी का रथ जब बाहर निकलता है तो गांव में पूर्णतया भाव-विभोर हो उठता है। इस तरह देवी की परिक्रमा शुरू हो जाती है। प्रथम दिन मन्दिर से निकलकर यह देवी कई गांवों में जाती है और रात्रि को कुल्लू पहुंच जाती है। दूसरे दिन रूपी क्षेत्र के किसी गांव में देवी रुकती है। तीसरे दिन मणिकर्ण। यहां यज्ञ होता है और देवी रक्षा के चावल सबको देती है। चौथा दिन श्री जमलू देव के मिलन के लिए होता है और देवी मलाणा पहुंचती है। मलाणा क्योंकि बहुत दूर है इसलिए इस दिन रशोल गांव में ही देवी विश्राम करती है जहां जमलू का छोटा देव गृह है। पांचवां दिन कठिन यात्रा से भरपूर होता है। रास्ता विकट है। कई जगह जोगनियां देवी के रास्ते को रोक लेती हैं और देवी उन्हें प्रसन्न करने के लिए फूल और चावल देती हैं। इस तरह मलाणा रात्रि को यात्रा पहुंचती है। यहां गांव की सीमा पर मलाणा निवासी देवी का स्वागत करते हैं। दूसरे शब्दों में जमलू देव देवी का रास्ता रोक लेते हैं इसलिए देवी को एक बकरा देवता के लिए देना पड़ता है। लेकिन जमलू महर्षि है इसलिए बकरे की बलि की बात उचित नहीं लगती। हो सकता है बाणासुर ही देवी का रास्ता रोकता हो और उसे बलि देकर खुश किया जाता हो। उसके बाद जमलू देवता के साथ मिलन होता है और दो दिनों तक यहां मेला लगता है। दो दिनों बाद यहीं से देवी अपने घर नगर वापिस चली जाती है। वापसी उसी मार्ग से नहीं होती। अब देवी चन्द्रखनी पास के रास्ते जाती है जो काफी ऊंचाई पर है। कभी-कभी देवी का रथ भारी हो जाता है। चन्द्रखनी के बाद रूमसू गांव है देवी का यहां भी स्थान है। इसलिए रात होने पर देवी यहां भी रुक जाती है। दूसरे दिन भोजन के उपरान्त नगर के लिए यात्रा वापिस जाती है। मन्दिर में महायज्ञ का आयोजन किया जाता है जिसमें आसपास के गांव के लोग उपस्थित होते हैं।

यह लम्बी यात्रा देवी की शक्ति का प्रतीक है और साथ-साथ प्राचीन परम्पराओं का भी। आज भी देवी की शक्ति उसी तरह कार्य करती है जिस तरह पहले थी। लोगों की इस देवी पर गहन आस्था है।

बासुकि नाग मन्दिर

नाग देवता की वंशावली में श्री बासुकि नाग का स्थान सर्वोच्च माना जाता

है। इस नाग देवता का प्राचीन स्थान कुल्लू जिले के नगर गांव से ऊपर बसे हलाण गांव में स्थित है। नगर कुल्लू से लगभग 27 कि०मी० की दूरी पर है। वास्तव में नाग देवता का स्थान गांव के ऊपर नगोणी नामक जगह है जो अति सुन्दर है। इसी के साथ सौर नाम से एक दलदल स्थान है जिसके सामने पानी का झरना बहता रहता है। मान्यता है कि श्री बासुकि ने यहां कालान्तर में आश्रम बनाया था और तपस्या करता रहा। इसी समय कुल्लू में एक घटना हुई है जिससे यहां अठारह नागों का जन्म हुआ और वे नाग बाद में जगह-जगह बसने चले गए।

मनाली के ऊपर गोशाल नामक गांव है। बासुकि एक युवक के रूप में यहां एक बार भ्रमण करता हुआ चला आया था। यहां इन दिनों एक मेला लगा हुआ था। श्री बासुकि के दिन भर मेले का आनन्द लिया और रात्रि को इसी गांव के एक घर में मेहमान बनकर रह गया। वह सुन्दर तो था ही। यहां उसकी सुन्दरता पर उसी घर के मालिक की कन्या जो खुद भी नव-यौवना और सुन्दर थी उस पर आसक्त हो गई। बासुकि भी उसे देखकर उसके प्रेमपाश में बंधे न रह सका। हालांकि दोगों अपने आपको घर के अन्य सदस्यों के समक्ष अपने इस स्नेह-भाव को छुपा रहे थे लेकिन भीतर-ही-भीतर जैसे हृदय इन दोनों ने एक-दूसरे को दे दिया था। बासुकि काफी दिनों यहीं रहा और अब वे दोनों एक-दूसरे के हो गए थे। एक दिन ऐसा भी आया जब बासुकि को यहां से जाना था। लेकिन जाने से पूर्व वह अपना परिचय दे गया था कि वह बासुकि नाग है। उसने मालिक को उस कन्या के सन्दर्भ में भी बता दिया था कि वह अब उसकी पत्नी है और गर्भवती है।

एक दिन जब कन्या के पेट से अठारह नागों ने जन्म लिया तो घबराए नहीं। सभी ने मिलकर उनका पालन-पोषण किया। इन नागों को एक मिट्टी के बर्तन में रखा गया जिसे 'भांदल' कहा जाता है। बासुकि के जाने के बाद वह कन्या उसके विरह में रोज रोया करती थी। लेकिन विपत्ति के वक्त बासुकि ने उसे याद करने के लिए कहा था जिससे वह उनके पास आ जाएगा। इसी आशा को लिए उन नागों के साथ वह दिन काटती रही। घर के सदस्य नियमित रूप से भांदल में उन नागों को धूप देते तथा देवता समझकर उनको पूजा किया करते।

एक दिन घर की मालकिन कहीं बाहर चली गई। उसने बहू को नागों की पूजा के लिए आदेश दे दिए थे। लेकिन वह बेचारी नागों के इस रहस्य से परिचित न थी। वह साधारण रूप से जैसे ही भांदल के पास पहुंची तो नाग चौकस हो गए। उन्होंने सोचा कि उनके लिए दूध इत्यादि लेकर कोई आया है। उन्होंने भांदल से अपने मुंह जैसे ही बाहर निकाले बहू डर गई और उसके हाथ से धूप जलता हुआ नीचे गिर गया। उसमें से कुछ आग भांदल में सीधी गिर गई। सभी नाग इधर-उधर भांदल फाड़कर भाग निकले। एक नाग की एक आंख ही जल गई। कहा जाता है कि जो नाग सबसे पहले भांदल से बाहर आया था उसका नाम शिरघन पड़ा। एक-दूसरे नाग का नाम धूम्बल पड़ा क्योंकि उसका शरीर धुएं से बेरंग हो गया था। एक नाग गोशाल गांव में

ही रहा क्योंकि वह भाग नहीं पाया था। इसी की एक आंख जल गई थी। इसे काणा नाग से जाना गया। यहां एक पुराना वंश है जिसके पास वह भांदल आज भी मौजूद बताई जाती है। उसको परिवार वाले नियमित पूजा करते हैं। इस बर्तन में कई छेद हैं जिनसे वे नाग भागे थे। लेकिन वे लोग खुद नहीं बता पाते कि आखिर यह बर्तन कितना पुराना है।

भांदल से निकलकर ये नाग कुल्लू के कई गांव में किसी-न-किसी रूप में प्रकट हुए और लोगों ने उनके वहीं मन्दिर बनाए। नाग शिरघण जो सबसे पहले भागा था उसका मन्दिर जगतसुख के ऊपर बसे भनारा गांव में है। मन्दिर के भीतर शिवलिंग स्थापित है। शिरघण की एक पिण्डी इसी के साथ विद्यमान है। एक नाग यहां के प्रीणी गांव में निकला था जिसे फाहल कहा जाता है। गांव के एक किनारे से बहने वाला नाला फाहली नाला कहलाता है जो इस नाग के नामकरण का प्रमाण कहा जा सकता है। ब्यासर गांव में कूमरदानु से पूजित देवता भी इन्हीं नागों का एक भाई माना जाता है। बटाहर गांव में पीऊंगी नाग का मन्दिर है जो इन्हीं अठारह में से एक है।

कुल्लू क्षेत्र में जहां-जहां भी इन नागों के मन्दिर हैं उनमें कई नागों के रथ निर्मित हैं। जब ये नाग देवता एक यात्रा में ऋषि वशिष्ट आश्रम के लिए आते हैं तो सभी गोशाल गांव में अवश्य जाते हैं। क्योंकि यह उनका जन्म-स्थान माना जाता है।

बासुकि को नागों का राजा माना जाता है। वैसे भी कालान्तर में नाग देवता लोगों की रक्षा करते रहे हैं। उनमें मनुष्य रूप धारण करने और मनुष्य से नाग बनने शक्ति विद्यमान थी। ये नाग युवक के रूप में इधर-उधर भ्रमण करते थे तथा राक्षसों से लोगों की रक्षा करते थे। राजा के रूप में भी इन नागों की मान्यता थी।

बासुकि के कुल्लू आने सम्बन्धी एक अन्य लोक-कथा भी प्रचलित है। कहा जाता है कि नगर क्षेत्र में जब बासुकि पहुंचा तो वहां विष्णु के अवतार जीव नारायण का आधिपत्य था। उनकी एक बहिन थी जो बहुत सुन्दर बताई जाती है। इसका नाम भोटन्ती था। बासुकि को नगर में देखकर जीव नारायण शक में पड़ गए। उन्हें यह आभास हुआ कि बासुकि उनकी बहिन पर ललचाई नजरें डाल रहा है। इस पर जीव नारायण ने बासुकि को सावधान करवाया लेकिन उस पर कोई असर न हुआ। इस पर जीव नारायण क्रोधित हो गया। दोनों का युद्ध हुआ लेकिन कोई हार-जीत न हो सकी। तब बासुकि ने अपने विष से उसे मारना चाहा। भोटन्ती परेशान हो गई लेकिन वह भी कम नहीं थी। जैसे ही बासुकि के मुंह से जहर की फुंआर निकलती वह अपना आंचल आगे करके उसे समाप्त कर देती। इस तरह बासुकि का जहर खत्म हो गया और वह जमीन पर गिर पड़ा। जीव नारायण उसे मार देना चाहता था लेकिन बहिन के अनुरोध पर उसे प्राण दान मिल गया। वह वहां से चला गया लेकिन मन में अपमान का विष गहरा होता गया। भ्रमण करते हुए वह गोशाल गांव में पहुंचा जहां शोइर का का मेला लगा हुआ था। लोग खुशी से नाच-गा रहे थे। कुछ देर बाद जंगल से तेज

गर्जना सुनाई पड़ी। यह गर्जना एक राक्षस की थी जिसने यहां आतंक फैला रखा था। खुशी का सारा माहौल भय में परिवर्तित हो गया था।

गर्जना करता हुआ यह राक्षस मेले में आ धमका और उसने एक सुन्दर लड़की को पकड़ लिया। बासुकि ने जब यह दृश्य देखा तो वह उस राक्षस पर टूट गया। कुछ पल में ही बासुकि ने उस राक्षस को खत्म कर दिया। इस वीरता को देखकर सभी लोग चकित थे कि एक साधारण सुन्दर युवक ने इतने बड़े राक्षस के अत्याचारों से लोगों को मुक्त कर दिया था। लोगों ने उसे घेर लिया और आदर से उसकी पूजा की। वह कन्या बासुकि पर मुग्ध हो गई। गांवों के लोगों ने इन दोनों का विवाह कर दिया जिसके बाद ही उस कन्या के अठारह नाग पैदा हुए थे।

दोनों कथाएं गौशाल गांव में ही केन्द्रित रहती है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री बासुकि से ही इसी गांव में अठारह नाग पैदा हुए जिनके स्थान-स्थान पर मन्दिर निर्मित किए गए हैं।

मुरलीधर मन्दिर ठावा

प्राचीन सभ्यता का केन्द्र ठावा गांव नगर गांव के ऊपर बसा है। यहां स्थित प्राचीन मुरलीधर मन्दिर शिखर शैली का अनूठा उदाहरण है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह मन्दिर सोलहवीं शताब्दी के आसपास बनाया गया है।

मन्दिर के बाहर मण्डप निर्मित है। ढलवां छत है तथा लकड़ी के खंबों पर बनाया गया है। मन्दिर सुन्दर दीवार से सुरक्षित है। भीतर कृष्ण भगवान की कांसे की मूर्ति स्थापित है। दोनों हाथों में बांसुरी दर्शायी गई है।

मन्दिर के बाहर कई देव आकृतियां दीवारों पर चित्रित हैं।

गौरी शंकर मन्दिर दशाल

नगर के उत्तर की ओर दशाल गांव बसा है। यह जगतसुख और नगर के मध्य सड़क से कुछ दूरी पर स्थित है। इसी गांव में प्राचीन एवं पुरातात्विक दृष्टि से महत्व-पूर्ण शिखर शैली का अविस्मरणीय उदाहरण गौरी शंकर मन्दिर है। यह मन्दिर पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग की देखरेख में है। पत्थर को तराश कर निर्मित यह मन्दिर बजौरा मन्दिर की तरह बनाया गया है। मन्दिर शिवधर्म को समर्पित है। मध्य में शिवलिंग स्थापित है और सामने दीवार के साथ शिव-पार्वती की सुन्दर प्रतिमाएं अंकित हैं। ये प्रतिमाएं नन्दी पर बैठी दिखाई गई हैं।

प्रवेश द्वार पर गंगा और यमुना की प्रतिमा चित्रित हैं। दोनों तरफ की चित्र-कारी अद्वितीय है। मन्दिर की दीवारों पर नृत्य दृश्य और कई नर्तकियों की प्रतिमाएं अवलोकनीय हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि यह मन्दिर नौवीं और दसवीं शताब्दी के मध्य बना है और कुछ लोगों का विचार बारहवीं शताब्दी का है। सही अनुमान लगाना कठिन लगता है।

शिखर शैली के मन्दिरों में दशाल का यह मन्दिर महत्वपूर्ण और सुन्दर है जिसकी न केवल धार्मिक मान्यता है अपितु यह एक विशिष्ट पुरातात्विक अवशेष भी है।

जमलू देव मलाणा

जिला कुल्लू में मलाणा एक ऐसा गांव है जो न केवल भारतवर्ष में अपितु विश्व भर में अपने प्राचीनतम प्रजातन्त्र के लिए विख्यात है। यही प्रजातन्त्र इस गांव की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है जो कालान्तर से चली आ रही है। देश में चाहे कोई भी सरकार क्यों न आए, राज्य में कोई भी पार्टी सत्ता क्यों न सम्भाले लेकिन मलाणा गांव का शासन फिर भी श्री जमलू देव के ही अधीन चलेगा। यहां के लोगों को सरकारी योजनाओं से कोई लेना देना नहीं है, सरकार गरीबों के लिए क्या सुविधाएं प्रदान कर रही है, इससे उनका कतई सरोकार नहीं—बस वे पूर्णतया अपने राजा जमलू के प्रति सर्मपित है, वही उनका प्रधानमन्त्री है और वही मुख्यमन्त्री। वही सुख-दुख का साथी है और उसका आदेश ही कानून।

मलाणा गांव की यह अनूठी शासन प्रणाली भले ही श्री जमलू महाराज की प्रेरणा है लेकिन लोग इस शासन को विधिवत अपने नियमानुसार चलाते हैं। यह संसद कोरम कहलाता है। इसके दो सदन बनाए गए हैं—पहला ज्येष्ठांग और दूसरा कनिष्ठांग। दूसरे शब्दों में हम इन्हें अपर हाउस और लोअर हाउस भी कह सकते हैं। पहले सदन में ग्यारह सदस्य होते हैं। इनमें तीन स्थायी और अन्य आठ अस्थाई होते हैं। गांव के सारे प्रबन्ध का उत्तरदायित्व ज्येष्ठांग पर होता है। इसमें गांव का विकास देवता का कारोबार, विचार-विमर्श, आपसी झगड़ों का निपटारा आदि शामिल हैं। यदि ज्येष्ठांग किसी मामले को न निपटा सके तो उसे कनिष्ठांग को सौंप दिया जाता है। यानि लोअर सदन को। और यदि यह दूसरा सदन भी किसी निर्णय लेने में असमर्थ रह जाए तो अन्तिम फैसला देवता का होता है जो सर्वमान्य रहता है। गांव के भीतर देवता जमलू के मन्दिर के समक्ष पत्थर का चबूतरा न्यायालय स्थान माना गया है। यहीं उपरोक्त दोनों सदन अपनी कार्यवाही करते हैं। यानि यही उनका संसद भवन है। आज तक इस गांव के इतिहास में ऐसा अवसर कभी नहीं आया है जबकि किसी मामले पर किसी सरकारी कचहरी से लोगों ने कोई निर्णय लिया हो। आज भी यहां की वही शासन पद्धति है जो कालान्तर में मौजूद थी।

इससे पूर्व की उपरोक्त इस प्राचीन अनूठी शासन प्रणाली के सर्वाधिपति श्री जमलू की कथा का उल्लेख किया जाए पहले आपको बता दें कि मलाणा गांव कितना दूर है।

मलाणा पहुंचने के लिए दो रास्ते हैं। यहां पैदल ही पहुंचा जा सकता है। कटरांई से मलाणा धार 30 किमी० है। यह गांव चन्द्रखनी पास जो समुद्रतल से 3657·6 मीटर की ऊंचाई पर है को पार करके उसकी गोदी में स्थित है। समुद्रतल से 2651·7 मीटर ऊंचे इस गांव को रायसन से एक सुन्दर ट्रैक चला गया है जो सात

दिनों बाद जाणा, माटीकोछड़ जरी, कसोल (पारवती घाटी), मणिकर्ण, रशोल और फिर मलाणा पहुंचता है। यहां से रामसू चन्द्रखनी पास पार करते हुए रायसन पहुंचा जाता है। कुल मिलाकर यह 11 दिनों की यात्रा है। लेकिन सीधी यात्रा में यहां तक एक दिन में ही पहुंचा जा सकता है।

श्री जमलू ही सत्युग के श्री जमदग्नि हैं। मलाणा में कालान्तर में इन्होंने अपना आश्रम स्थापित किया था तथा लोगों ने बाद में इन्हें अपना कुल देवता माना और यहां उनका मन्दिर निर्माण करवाया। इस मन्दिर में ऋषि जमदग्नि की एक छोटी सी स्वर्ण प्रतिमा है। मन्दिर में पुजारी के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। विशेष आयोजनों पर पुजारी इस प्रतिमा में एक थाली का स्पर्श करता है और फिर उस थाली को घर-घर में ले जाया जाता है ताकि लोग देवता की पूजा कर सकें। पुजारी स्थायी नहीं है उसकी नियुक्ति होती है। पुजारी को कड़े नियमों का पालन करना होता है। उसके लिए अलग पुजारी गृह बना है। वह अपनी पत्नी और अविवाहित पुत्र अथवा पुत्री के हाथ का ही भोजन खा सकता है। चमड़े के जूते और अन्य वस्तुओं का प्रयोग उसके लिए निषेध है।

पौराणिक कथा के अनुसार सत्युग में हिमालय के दामन में गाधी नामक एक राजा राज्य करता था। इस राजा की एक सुन्दर कन्या सत्यवती थी। उसी काल में ऋचीक नामक एक ऋषि ने छोटी उम्र में तपस्या प्रारम्भ करके 80 सालों तक घोर तपस्या की। इस तरह वे गृहस्थ आश्रम से दूर रहे। तपस्या के उपरान्त एक दिन वे अन्य ऋषियों के आश्रम में गए तो उन्होंने ऋषियों के बच्चों को आगन में खेलते-कूदते देखा। उनका मन भी गृहस्थ आश्रम बसाने के लिए लालायित हो उठा। उन्हें पता चला कि राजा गाधी के एक सुन्दर कन्या है। ऋषि ऋचीक दूसरे ही दिन राजा के पास पहुंच गए और उनकी पुत्री से विवाह का प्रस्ताव रख दिया। राजा ऋषि की उम्र देखकर परेशान हो गए। भला अपनी सुन्दर जवान कन्या को एक वृद्ध के साथ वे किस तरह ब्याह सकते हैं लेकिन शाप के डर से वे तत्काल मना नहीं कर सके। राजा ने बहुत सोचा और फिर मन में इस बात को टालने का एक विचार आया। उन्होंने ऋचीक के आगे यह शर्त रखी कि यदि वे सात सौ सफेद घोड़े एक ही रंग-रूप के लाकर राजा को सौंप दे तो राजा अपनी पुत्री का विवाह उनसे कर देगा। ऋषि ने बात मान ली और घोड़ों की तलाश में निकल पड़े। उन्होंने गंगा के तट पर जाकर गंगा की तपस्या प्रारम्भ की। गंगा उनकी तपस्या से प्रसन्न हो गई और ऋषि के सामने प्रकट हुई। ऋषि ने सात सौ घोड़े मां गंगा से मांग लिए। इस तरह ऋषि ने सात सौ घोड़े राजा को दे दिए और विवशतः राजा को अपनी पुत्री का विवाह उनसे करना पड़ा।

कई दिनों तक ऋषि के साथ वह कन्या वनों में रही लेकिन कुछ दिनों के बाद ऋषि ने उसे मायके भेज दिया। एक दिन उसकी मां ने अपनी बेटी से कहा कि देखो तुम्हारे पति बहुत बड़े ऋषि हैं। उनसे अपने और मेरे लिए एक-एक पुत्र का वरदान ही मांग ले। माता की बात सुनकर वह ऋषि के आश्रम में पहुंच गई और पुत्र के लिए

अनुरोध किया। इस पर उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ किया। हवन की आग में दो चरु के गोले पका लिए जिन्हें अपनी पत्नी को दे दिया और कहा कि एक-एक दोनों मां-बेटी खा लें। ऋषि ने अलग-अलग दो गोले बनाए थे जिनमें एक सात्विक गुण वाला था और दूसरा राजस गुणों वाला। राजसी गुणों वाला लड़की की मां के लिए था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। गोले बदल गए और लड़की ने राजसी गुणों वाला और रानी ने सात्विक गुणों वाला गोला खा लिया। उन दोनों के पुत्र पैदा हो गए। इस तरह ऋषि ऋचीक के पुत्र जमदग्नि हुए और राजा गाधी के पुत्र विश्वामित्र कहलाए।

ऋषि जमदग्नि मलाणा कैसे पहुंचे इस सम्बन्ध में भी एक रोचक कथा कही जाती है। कुल्लू के सन्दर्भ में जो 'ठारह करड़' की कहानी प्रचलित है उसका सीधा सम्बन्ध ऋषि जमदग्नि से ही है। इस कथा को भी कई तरह से ऋषि जमदग्नि से जोड़ा जाता है। कुछ विद्वानों का यह मत रहा है कि जब ऋषि जमदग्नि कैलाश की यात्रा और परिक्रमा करके स्पिति से होते हुए कुल्लू आ रहे थे तो वे पहले हमटा नामक स्थान पर पहुंचे और उसके बाद चन्द्रखनी पर्वत पर पहुंच गए। वे मलाणा नामक स्थान के लिए जा रहे थे। इस यात्रा में उनके पास एक टोकरी थी जिसमें अठारह देवताओं की प्रतिमाएं रखी थीं। चन्द्रखनी में इतनी जोर की हवा चली कि टोकरी से वे प्रतिमाएं इधर-उधर बिखर गईं और हवा में उड़ने लगीं। उड़ कर वे प्रतिमाएं जहां-जहां भी गिरीं वहीं देवता के रूप में प्रकट हो गईं। यही समय था जब निराकार से देवतागण प्रतिमा रूप में पूजे जाने लगे। कुछेक का यह मत भी है कि उनकी टोकरी में अठारह करोड़ देवताओं की प्रतिमाएं थीं।

एक अन्य घटना में महर्षि जमदग्नि जब इस यात्रा के दौरान भृगुतुंग पहुंचे तो वहां उनका सामना सागू नामक एक राक्षस से हो गया। यह राक्षस भयानक और शक्तिशाली था। महर्षि को देखकर उसने चारों तरफ अपनी माया से अंधेरा कर दिया। इस अंधेरे में सागू राक्षस ने महर्षि को अपने कब्जे में कर लिया। जब रोशनी हुई तो महर्षि अपने आपको सागू की गिरफ्त में देखकर आश्चर्यचकित रह गए। यही समय था जब उनकी टोकरी में वास कर रहे अठारह करोड़ देवता प्रकट हो गए। इसी मध्य सागू ने महर्षि को खाने के लिए काफी प्रयत्न किया लेकिन उसकी एक न चली। क्योंकि वे स्वयं भी कम शक्तिशाली नहीं थे। लेकिन सागू बहुत बलवान था। भृगुतुंग जिसे रोहतांग कहा जाता है, से देवताओं ने सागू को ललकारा तो वह महर्षि को छोड़कर उनकी ओर लपका। देवताओं ने मिलकर सागू को मार दिया। इस तरह वहां के लोगों ने सागू के अत्याचारों से छुटकारा पा लिया। इस राक्षस के बारे में आज भी गांव के लोगों में अनेक कथाएं मौजूद हैं। इसकी आत्मा आज भी रोहतांग के आसपास भटकती रहती है। इस राक्षस के नाम पर एक सागू खोल झरना जहां गिरता है वहां आज भी भयंकर आवाजें सुनाई देती है।

इस राक्षस के बाद जिस शक्तिशाली राक्षस से महर्षि का सामना हुआ वह था बाणासुर। इसे राक्षसों का राजा भी माना जाता है। उस समय इसका राज्य किन्नौर

से लेकर कुल्लू तक फैल चुका था और यह राक्षस लूटपात मचा कर लोगों को सताता रहता था। बताया जाता है कि मलाणा के आसपास जब महर्षि जमदग्नि पहुंचे तो उसकी भनक बाणासुर को पड़ गई। वह मायावी तो था ही इसलिए उसे महर्षि की शक्ति का पता चल गया था। महर्षि की यात्रा का पता वहां के लोगों को चल गया था इसलिए लोग एकत्रित होकर उन्हें राक्षस की लूट से अवगत करा चुके थे और उन्होंने बाणासुर के चंगुल से लोगों को मुक्त करवाने का आश्वासन भी दे दिया था। अब कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि बाणासुर ने जब महर्षि पर आक्रमण किया उसी समय उनकी टोकरी से अठारह करोड़ प्रतिमाएं बिखरी थीं। और हो सकता है कि इसी राक्षस को सागू राक्षस के नाम से भी कुल्लू में जाना जाता हो। क्योंकि राक्षस से युद्ध की कथा एक जैसी है लेकिन नाम में अवश्य अन्तर है। यानि सागू और बाणासुर। लेकिन बाणासुर राक्षस से महर्षि जमदग्नि का भिड़ना तर्कसंगत लगता है क्योंकि मलाणा में आज भी जमलू के साथ बाणासुर की पूजा होती है।

बाणासुर ने अपनी माया से महर्षि जमदग्नि को मारने का बहुत प्रयास किया। मलाणा के ऊपर चट्टानों के मध्य जमदग्नि महाराज ने हाथ में माला पकड़ कर भगवान शिव की तपस्या आरम्भ कर दी क्योंकि बाणासुर भी कम शक्तिशाली न था। उसने अन्तर्ध्यान महर्षि को मारने का बहुत प्रयास किया लेकिन उनकी समाधि न टूटी। इस पर राक्षस ने एक बड़ा बर्तन लिया और महर्षि को उठाकर उसमें डाल दिया। पानी भर कर उसका ढक्कन बन्द किया और उसे आग पर रख दिया। काफी देर बाद जब बर्तन को बाणासुर ने खोला तो वह यह देखकर हैरान रह गया कि उबलते पानी में भी महर्षि जमदग्नि उसी तरह समाधि में मग्न थे। यह उसका आखिरी दाव था जो खाली जाता रहा। इसी के साथ उसकी शक्ति भी समाप्त हो गई। हार कर वह अपनी जान की रक्षा हेतु महर्षि के पांव पड़ गया। महर्षि ने उसकी जान एक शर्त पर छोड़ दी कि वह वहां से ऐसी जगह चला जाए जहां कोई मनुष्य न रहता हो। वह मान गया लेकिन उसने भी उनसे दो बातें मनवा लीं। पहली यह कि जिस खांडे से वह लड़ा था उसे मलाणा में ही रहने दिया जाए और दूसरी जो भाषा उस समय बोली जाती थी वही रहेगी। इस कथा को, मलाणा के मन्दिर में ये दोनों बातें आज भी प्राणदान देती हैं, क्योंकि भाषा के साथ वह खांडा भी वहां विद्यमान है। युद्ध करते हुए महर्षि का अपना खांडा टूट गया था जिसे 'टुडाच' कहते हैं। बाणासुर और महर्षि के इन दोनों खांडों को वहां आयोजित मेले के दौरान एक साथ निकाला जाता है। मलाणा में जो भाषा प्रचलित है उसे आसपास के लोग भी नहीं समझ सकते। इस भाषा को राक्षसी या कणाशी भाषा कहा जाता है। राक्षसों का राज्य महर्षि जमदग्नि के आने के साथ यहां समाप्त हुआ था तथा लोगों ने उन्हें ही अपना सर्वोपरि मान लिया था और स्थानीय बोली में जमदग्नि से 'जमलू' शब्द बनकर आज मलाणा का देवता राजा कहलाता है।

आज इस देवता का गूर जो भी कह दे उसे सभी मानते हैं। वह आदेश देवता जमलू का होता है किसी साधारण मानव का नहीं।

जमलू की शक्ति का वर्णन लोग इस तरह भी करते हैं। कहा जाता है कि एक बार अकबर राजा ने दिल्ली से हिमाचल प्रदेश के सभी देवताओं पर कर लगा दिया था। कुल्लू के राजा ने जमलू से भी आदेशानुसार दो सोने के टक्के कर स्वरूप ले लिए। इसके बाद सम्पूर्ण कुल्लू जिला महामारी से ग्रस्त हो गया। राजा बहुत परेशान हुआ। कुछ देवताओं को पूछा गया तो उन्होंने बताया कि मलाणा का बड़ा देवता कर वसूली से नाराज है। यह बात अकबर को बताई गई लेकिन उसने कहा कि वह भी इस देवता का चमत्कार देखना चाहता है। यदि उसकी शक्ति महान है तो वह कर वापिस कर देगा। लोग कहते हैं कि उस समय दिल्ली तक बर्फ गिरी थी जिससे लोग आश्चर्य-चकित रह गए। अकबर को जमलू महाराज की शक्ति का आभास हो गया और उसने वसूल किया कर लौटा दिया। अकबर जमलू का भक्त बन गया लेकिन विकट रास्तों और अन्य असुविधाओं के कारण मलाणा पहुंचना सम्भव नहीं था। इसलिए अकबर ने एक स्वर्णिम प्रतिमा दिल्ली से वहां भेंट स्वरूप भिजवाई थी जो मन्दिर में आज भी दर्शनीय है।

मन्दिर का ढांचा पुराना है जिसमें पत्थर और लकड़ी का प्रयोग है जिस पर सुन्दर नक्काशी है। मन्दिर परिसर में कुछ पवित्र पत्थर की आकृतियां हैं जिन्हें बाहर का व्यक्ति यदि स्पर्श कर ले तो उसे तत्काल दो सौ रुपये जुर्माना भरना पड़ता है। इन्हें भगवान परशुराम से सम्बन्धित माना जाता है।

प्राचीन काल में मानव बलि की प्रथा यहाँ मौजूद रही है, ऐसा लोगों का मानना है। लेकिन यह बलि जमलू देवता के साथ जोड़ना उचित नहीं होगा क्योंकि महर्षि का यहां आना लोगों को अत्याचारों से मुक्त करवाना था। हां, बाणासुर के लिए इस तरह की प्रथा से इन्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि आज भी बाणासुर के नाम एक बकरा वर्ष में एक बार दिया जाता है। जिसे राक्षसी तरीके से काट कर बाणासुर को चढ़ाया जाता है।

मलाणा का एकमात्र अपना प्रजातन्त्र अद्भुत है, अनूठा है जो इक्कीसवीं सदी में जा रहे भारत के लिए एक प्रश्नचिह्न है। यहां की यह प्रथा ही प्राचीनतम संस्कृति है जिसका स्वरूप ज्यों का-त्यों बरकरार है। कोई भी बदलाव या प्रगति इस गांव की सीमा को लांघ नहीं सकी है। देखा जाए तो वर्तमान का यह विकास और विज्ञान की उन्नति इस गांव के प्रजातन्त्र के आगे बौनी लगती है।

मणिकर्ण-तीर्थस्थल

पारवती नदी के किनारे बना मणिकर्ण तीर्थ समुद्रतल से 1733 मीटर कुल्लू से 45 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। भुन्तर से इस तीर्थ स्थल की दूरी 30 किलो-मीटर के करीब है। यह रास्ता बस योग्य है लेकिन काफी संकरा है। पहाड़ों को काट कर बनाया गया अधिकतर मार्ग पारवती नदी के साथ-साथ कई सुन्दर गावों के मध्य

से चला जाता है। दोनों तरफ विशाल पहाड़ी चोटियां हैं। यहां के लिए कुल्लू और मनाली से नियमित बस सेवा है।

मणिकर्ण में पारवती नदी के पार जगह-जगह गर्म पानी के चश्में हैं। इनका पानी इतना गर्म है कि कुछ ही समय में इस पानी में चावल और दाल पक जाते हैं। लोग यहां मध्य भाग में बने गर्म पानी के कुण्ड में धार्मिक दृष्टि से स्नान करते हैं।

श्री रामचन्द्र जी का प्राचीन मन्दिर दर्शनीय है। मन्दिर के साथ सराय निर्मित है। यहां रोज लंगर की व्यवस्था रहती है। इस मन्दिर से आगे जाकर ऐतिहासिक गुरुद्वारा भी है। यह भवन काफी विशाल है। यहां नियमित रूप से लंगर भी लगा रहता है। पर्यटक और अन्य श्रद्धालु जो रोज यहां भ्रमण के लिए आते रहते हैं, यहां के लोग उन्हें मन्दिर और गुरद्वारे से भूखे नहीं जाने देते। पारवती घाटी का विहंगम दृश्य अवलोकनीय है।

इस गर्म पानी में सल्फर और लौह तत्व नहीं है बल्कि रेडियम की मात्रा उपलब्ध है। लोगों की धारणा रही है कि इसमें स्नान करने से कई चर्म रोग दूर हो जाते हैं।

मान्यता है कि यहां भगवान शिव ने पारवती के साथ कई सालों तक वास किया और तब भी करते रहे। एक दिन स्नान करते हुए पारवती जी के कान के आभूषण की मणि जल में गिर गई। उन्होंने बहुत तलाश की लेकिन मणि उन्हें नहीं मिली। अन्त में पारवती जी ने शंकर से निवेदन किया कि वह ही उनके आभूषण की मणि ढूंढ दें। यह मणि पारवती जी को अति प्रिय थी। शंकर जी ने अपने गणों को आदेश दिया कि वे उसे तलाश करें लेकिन उनको भी सफलता न मिल सकी। भगवान शकर को क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी तीसरी आंख से उसे तलाश किया। उनके तीसरे नेत्र से नैना देवी प्रकट हुई थीं यह भी कहा जाता है। देवता गण भगवान शिव जी के क्रोध से भयभीत हो गए। पाताल में शेष नाग को जब इस क्रोध का आभास हुआ तो उन्होंने मणि को ढूंढा। इसी बीच नैना देवी भी पाताल में पहुंच गई थीं। शेष नाग ने फुंकार से उस मणि को कई अन्य मणियों के साथ लौटाई तो उस जगह पृथ्वी पर गर्म जल के मध्य वह मणि निकल गई। और उन्होंने उसे पारवती को लौटा दिया। इसी तरह इस स्थान पर गर्म पानी उत्पन्न हुआ और साथ ही इस स्थान का नाम मणिकर्ण पड़ गया।

कालान्तर से ही यह स्थान हिन्दुओं और सिक्खों का श्रद्धास्थल रहा है। यहां का धार्मिक महत्व भगवान शिव के कारण माना जाता है। इसके अतिरिक्त कई ऋषि-मुनियों ने भी यहां आकर तपस्या की है। संतकुमार और उनके बाद ऋषि कार्तिकेय ने यहां कई सालों तप किया है। महर्षि जमदग्नि और भगवान परशुराम का सम्बन्ध भी मणिकर्ण से जोड़ा जाता है। गुरु नानक देव जी यहां कई सालों तक ठहरे हैं जिसके बाद उनके आशीर्वाद से ही यहां गुरुद्वारा बना है।

यहां के प्रमुख मन्दिरों में महादेव मन्दिर अति प्रसिद्ध है। इस मन्दिर की नींव

धरातल के काफी नीचे है। लगभग एक सौ वर्ष पूर्व यह मन्दिर जमीन में धंस गया था। भगवान शिव को समर्पित इसे कोई और क्षति नहीं पहुची है। यह शिखराकार है।

शिखर शैली में ही निर्मित रघुनाथ मन्दिर भी दर्शनीय है। सामने लकड़ी का सुन्दर मंडप है जो दो मंजिला स्लेट की ढलवां छत वाला है. रघुनाथ जी की प्रतिमा के साथ सीता और हनुमान जी की प्रतिमाएं दर्शनीय हैं।

मुरलीधर मन्दिर भी दर्शनीय है। इन्हें 18वीं शताब्दी में निर्मित माना जाता है।

यहां से कुछ दूरी पर खीर गंगा नामक धार्मिक स्थल है। यहां भी गर्म पानी है। सामने ब्रह्म सरोवर है। इसी से ब्रह्म गंगा निकलती है जो बाद में पारवती नदी के रूप से जानी जाती है। ये पर्वत सदा बर्फ से ढके रहते हैं। 12 किलोमीटर के करीब दूरी पर रुद्रनाग का शीतल चश्मा है। यहां जल नाग के फन के रूप में निकलता दिखाई देता है।

पूर्ण पारवती घाटी धार्मिक स्थली मानी जाती है। यहां के दृष्य अति सुन्दर हैं और साथ ही भयानक भी। सर्दियों में तो सूर्य देव के दर्शन ही दुर्लभ हो जाते हैं।

हिड़िम्बा देवी मन्दिर

मनाली शहर से बिल्कुल ऊपर की ओर लगभग तीन किलोमीटर दूर देवदारों के जंगल के मध्य प्राचीन श्री हिड़िम्बा देवी मन्दिर स्थित है। पगौडा शैली के बने इस मन्दिर में एक के ऊपर दूसरी कई छते हैं जो आखीर में सिमट कर नुकीली हो जाती है। कुछ सीढ़ियों के बाद मन्दिर एक चबूतरे पर निर्मित है। सामने की तरफ बरामदा है जिसके मध्य मुख्य द्वार है। लकड़ी के इस दरवाजे पर सुन्दर नक्काशी की गई है। बाहर लकड़ी पर कई जगह इसी तरह की कला-कृतियां निर्मित हैं। देवी की कोई प्रतिमा नहीं हैं। दरवाजे के समक्ष एक बड़ी शिला है जो सामने की तरफ नुकीली हैं। इसके नीचे एक गुफा है जिसके मध्य पत्थर की आकृति सी बनी है। यही मूल स्थान देवी का माना गया है। श्रद्धालु इच्छानुसार यहीं भेंट इत्यादि चढ़ाते हैं। इसके दाईं तरफ बलि कुण्ड है जहां विशेष आयोजनों और मेले के दौरान कई बकरों की बलि दी जाती है। देवी जन्म से असुर वंश से मानी जाती है जो बाद में भीम से विवाह करने पर लोगों की सेवा के कारण देवी कहलाईं।

बताया जाता है कि पाण्डव जब अपनी माता के साथ भ्रमण करते हुए एक घने जंगल में पहुंचे तो थक कर रात्रि विश्राम करने लग पड़े। यही जंगल ढुंगरी का जंगल था जहां उस समय एक दानव हिड़िम्ब का आतंक था। वह अपनी बहिन के साथ यहां रहा करता था। पांडव जब यहां आए तो उस दानव ने अपनी बहिन को कहा कि कहीं से मानव गन्ध आ रही है इसलिए तू जा और उसे पकड़ कर ले आ। उसकी बहिन तुरन्त उसी तरफ चल पड़ी। उसने देखा कि कुछ लोग सोए हैं और एक सुन्दर युवक इधर-उधर टहल रहा है। वह उसकी सुन्दरता देखकर मोहित हो गई। उधर हिड़िम्ब

भूख से तड़फ रहा था। जब काफी समय तक वह न आई तो वह पागलों की तरह उसी तरफ लपका। जब वहां पहुंचा तो यह देखकर हैरान रह गया कि उसकी बहिन भीम के साथ प्रेम वार्ता में मग्न है। यह इस धृष्टता के लिए पहले अपनी बहिन को ही मारना चाहता था। जैसे ही वह उसकी ओर लपका तत्काल उसे भीम ने दबोच लिया। भयंकर युद्ध हुआ। लेकिन बीच-बीच में उसकी बहिन ने भीम की बहुत सहायता की। अन्त में वह दानव मारा गया। हिड़िम्बा कुछ दिन भीम के साथ रही जहां उसके एक लड़का पैदा हो गया। इस बीच पांडव उसे छोड़कर चले गए थे। भीम के इस बेटे का नाम घटोत्कच रखा गया जो बड़ा होकर बलवान और अत्याचारी बन गया।

घटोत्कच के आतंक से सभी लोग परेशान हो गए। वह रोज अपनी मां को एक मनुष्य को पकड़ कर ले आता था। एक दिन उधर से पांडव फिर गुजर रहे थे। घटोत्कच जोर-जोर से चिल्ला रहा था। उसकी आवाज सुनकर भीम उसके पास आया। घटोत्कच ने उसे अपने साथ चलने को कहा लेकिन भीम ने मना कर दिया। इस पर घटोत्कच ने बलपूर्वक भीम को ले जाना चाहा लेकिन वह उसकी एक टांग भी हिला न सका। उसने तब भीम से अपनी मां की भूख की बात कही और रोने लग गया। भीम इस पर तैयार हो गया और घटोत्कच उसे अपनी मां के पास ले आया। उसकी मां ने जैसे ही भीम को देखा तो वह प्रसन्न हो गई। अपने बेटे से उसने भीम का परिचय करवाया। भीम ने उन दोनों को इस अत्याचार को त्याग देने के लिए समझाया जिस पर घटोत्कच की मां ने एक देवी का रूप अपना लिया और दोनों लोगों की सेवा करने लग गए।

पांडव की विजय का कारण महाभारत युद्ध में घटोत्कच ही बना था क्योंकि कर्ण ने जो अस्त्र अर्जुन के लिए रखा था वह उसे घटोत्कच पर चलाना पड़ा था।

भगवान श्रीकृष्ण ने हिड़िम्बा को लोगों के कल्याण के लिए प्रेरित किया तथा ऐसा करने पर उसे यह वरदान भी दिया कि उसकी लोग देवी रूप में पूजा करेंगे। इस पर हिड़िम्बा ने जब लोगों की सेवा की तथा उन्हें राणाओं के अत्याचारों से मुक्त किया तो उसकी देवी रूप में पूजा होने लगी तथा ढुंगरी में ही उसका मन्दिर बना दिया।

इसी दौरान मायापुरी में प्राकृतिक प्रकोप के कारण वहां के राजकुमार विहंगमणिपाल को अपना राज्य छोड़ना पड़ा था। वह लम्बी यात्रा के बाद कुल्लू की सीमा के भीतर चला आया। बजौरा पहुंचने पर उसने दूर ऊपर एक मन्दिर देखा और लोगों से उसके बारे में पूछा। लोगों ने बताया कि वह बिजली महादेव का मन्दिर है और यदि कोई व्यक्ति पारवती और ब्यास के संगम से पानी ले जाकर उसमें स्थित शिव लिंग पर डाले तो उसे दैवी अनुकम्पा प्राप्त होती है। उसने यह सुनकर ऐसा ही किया। भगवान प्रसन्न हो गए। रात्री को जब वह सोया था तो उसे स्वप्न में भगवान शिव ने दर्शन दिए और उसे जगतसुख की ओर जाने को कहा। वह सुबह उठा और जगतसुख की तरफ चल पड़ा। चलते-चलते उसे रास्ते में अकस्मात एक बुढ़िया मिली जो सर पर भारी गठड़ी उठाए चल रही थी। उसने उस बुढ़िया का सामान ले लिया

और उस बुढ़िया को भी अपनी पीठ में उठा लिया। कुछ दूर जाकर बुढ़िया ने उसे रोक दिया और खुद जमीन पर उतर गई। इस उपकार के बदले में उसने विहंगमणि को अपनी पीठ पर उठाना चाहा तो विहंगमणि ने मना कर दिया। बुढ़िया के बार-बार कहने पर वह उसकी पीठ पर चढ़ गया। जैसे ही उसकी पीठ पर वह चढ़ा बुढ़िया का शरीर कई मील लम्बा होता चला गया। विहंगमणि समझ गया कि वह कोई साधारण मानव नहीं है। अब बुढ़िया ने विहंगमणिपाल से पूछा कि उसे कितना क्षेत्र नजर आ रहा है। उसे जितना भी क्षेत्र दिखाई दिया उसने बता दिया। इस पर बुढ़िया ने कहा कि "मैं हिडिम्बा देवी हूं और तुम्हें कुल्लू का राजा होने का वरदान देती हूं।" इस पर वह अन्तर्ध्यान हो गई।

विहंगमणि मन में इन घटनाओं को समेटे हुए जगतसुख की तरफ चल दिया। वहां उस समय मेला लगा हुआ था और लोगों ने निर्णय लिया था कि मेले में जो अपरिचित व्यक्ति आएगा उसे राजा बना दिया जाएगा। विहंगमणि को देखकर लोगों ने उसका जय देवा कह कर स्वागत किया। इस तरह वह कुल्लू का पहला राजा बना। हिडिम्बा के कारण ही ऐसा हुआ था इसलिए हिड़िम्बा विहंगमणि पाल की दादी कहलाई और कुल की देवी भी।

आज भी इस देवी का कुल्लू में बहुत प्रभाव है। कुल्लू का दशहरा तब तक आरम्भ नहीं होता जब तक कि देवी हिड़िम्बा वहां न पहुंच जाए।

मनुआलय, मनाली

श्री मनु महाराज का प्राचीन मन्दिर पुरानी मनाली में स्थित है। अर्थात मनाली गांव जिसे हम कह सकते हैं। यह गांव मनाली शहर से नाले के पार स्थित है। मुख्य शहर से यह मन्दिर लगभग पांच किलोमीटर की दूरी पर है। नाले को पार करने के बाद कच्चा रास्ता आता है, जिससे पैदल जाना पड़ता है। यह रास्ता प्रारम्भ में कुछ आधुनिक जलपान गृहों और पर्यटक भवनों के बीच से आगे बढ़ता है जहां दोनों तरफ विदेशी पर्यटक डिस्को संगीत में मस्त देखे जा सकते हैं। यहां एक पल के लिए कोई भी यह भूल सकता है कि वह किसी ऐसे प्राचीन मन्दिर में जा रहा है जहां से इस सृष्टि की रचना हुई है। कुछ ऊपर चढ़कर यह आभास स्वत: ही टूट जाता है और एक सीधा-साधा ग्रामीण माहौल मन को अजीब-सी शान्ति प्रदान करता है। पुराने ढांचे के बने मकान, उनके बाहर घास के ढेर, साथ बन्धे हुए पशु, गोबर की गन्ध बिल्कुल गांव होने के प्रमाण देती है। मनाली आज जिस आधुनिकता की देहरी पर आत्म हत्या कर चुकी है, यहां पहुंच कर इस बात का पूर्णतया अनुमान लगाया जा सकता है।

गांव के बीच रास्ते के दाईं ओर मनुआलय है। केवल एक मंजिला मन्दिर। वह भी निर्जन, भुलाया हुआ सा। मौसम अच्छा होने पर बच्चे इसके बरामदे में खेलते देखे जा सकते हैं। भीतर सुनसान, बस एक दो पत्थर की प्रतिमाएं यह आभास करवाती है कि यह कोई प्राचीन मन्दिर है। उस तरह नहीं जिस तरह एक सृष्टि के रचयिता का

मन्दिर होना चाहिए। आंगन में एक तरफ नुकीले ऊंचे पत्थर जो धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं। निर्माण में लकड़ी और पत्थर का प्रयोग किया गया है। ऊपर स्लेट से छवाई सुन्दर लगती है।

श्री मनु महाराज से सम्बन्धित अनेक कथाएं हमारे वेदों में मौजूद हैं। आज अधिकतर विद्वान यही मानते हैं कि सृष्टि की रचना इसी जगह से हुई थी जहां मनु महाराज की किश्ती आकर रुक गई थी। वेदों में दी गई कथा के कुछ अंश यहां प्रस्तुत है जो इस मन्दिर से जुड़े हैं। वेदों और शास्त्रों में कई मनु कथाएं प्रचलित हैं। आदि मनु का जन्म ब्रह्मा से बताया गया है। इसके बाद उनकी लड़की से पैदा हुआ दूसरा मनु करार दिया गया है। आदि मनु के तीन लड़के हुए हैं जिनमें उत्तम, तामस और रेवत हैं। इन्हें तीसरा, चौथा और पांचवा मनु बताया जाता है। "चक्षुसा" को छठा मनु माना जाता है। इनके पोते महाराज वीन को अत्याचारी होने पर राजपद से उतार दिया। उसके बाद इनके सपुत्र पृथु को राजगद्दी पर बिठाया गया। इन्ही राजा के नाम से भूखण्ड को पृथ्वी भी कहा गया। राजा पृथू की वंशावली में राजा दक्ष हुए जिनकी बेटी का पोता वह मनु हुआ जिनसे आज इस सृष्टि की रचना मानी जाती है। इन्होंने ही मानव धर्म को चलाने के लिए नियम बनाए जो आज हमारे धर्म और संस्कृति के मूलाधार हैं।

मनु के एक लड़की और आठ लड़के हुए बताए जाते हैं। यही बाद में चन्द्रवंशी राजपूत भी कहलाए। मनाली से कुछ दूरी पर अलेऊ नामक गांव स्थित है। इस गांव को मनु महाराज की लड़की इला का स्थान माना जाता है।

मानव वंश का जन्म 'मनु की बाढ़' आने के बाद बताया जाता है। यह एक प्रलय की कथा है। एक बार इस भूखण्ड में चारों तरफ पानी ही पानी हो गया था। किसी ने जब मनु को एक दिन इसी दौरान पानी दिया तो उनके हाथ में एक छोटी-सी मछली आ गई। उसने मनु से कहा कि मैं संकट में हूं, मुझे बचा लो। यदि तुम मुझे बचाओगे तो मैं भी तुम्हें एक बहुत बड़े खतरे से बचा लूंगी। इस पर मनु को दया आ गई। उन्होंने उसे पानी के बर्तन में रख दिया और पालना शुरू कर दी। बड़ी होने पर उसे एक तालाब में डाल दिया गया। एक समय ऐसा आया कि वह तालाब में भी न समा पाई। अब उसने मनु से कहा कि उसे अब समुद्र में डाल दीजिए उसे अब कोई खतरा नहीं है। उसने यह भी बताया कि शीघ्र ही प्रलय होने वाला है जिससे कोई भी वस्तु बच नहीं पाएगी। उसने मनु को एक नाव बनाने के लिए भी कहा। उस मछली ने यह भी समझाया कि जब पानी ही पानी हर जगह हो जाए तो इस नाव में सवार हो जाना और अपने साथ सप्त ऋषियों को भी बिठा देना। इस नाव को मुझ में बांध देना ताकि मैं आपकी रक्षा कर सकूं। वैसा ही हुआ और प्रलय हो गया। चारों तरफ पानी ही पानी। मनु ने मछली के आदेशानुसार कार्य किया। नाव में बैठ गए। नाव बहने लगी।

बहुत देर बाद एक ऊंचे स्थान पर वह नाव मनु को लेकर पहुंची। पानी कम

हो गया था। मनु महाराज उतरे। उनके साथ वह सप्त ऋषि भी। लेकिन वे सभी पहाड़ों पर तप हेतु चले गए और मनु जी अकेले रह गए। जहां वह नाव रुकी थी, बताया जाता है कि यही वह स्थान था जिसे आज मनाली के नाम से जाना जाता है।

मनु के इस मन्दिर में कुछ विशेष आयोजनों पर स्थानीय लोग एकत्रित होकर मनु महाराज को श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। सृष्टि की रचना के साथ जुड़े इस मन्दिर का हर तरह से विशेष महत्व है।

वशिष्ठ ऋषि मन्दिर

वशिष्ठ मुनि मन्दिर वशिष्ठ गांव में स्थित है जो मनाली के बिल्कुल समक्ष तीन किलोमीटर की दूरी पर बसा है। यहां तक वाहन द्वारा यात्रा की जा सकती है। श्रद्धालु व्यास को पार करके पैदल भी यात्रा करते हैं। मन्दिर गांवों के मध्य भाग में निर्मित हैं। प्रवेश द्वार के दायीं ओर मुनि महाराज का यह मन्दिर अति प्राचीन है। सामने हवन कुण्ड है तथा पीछे की ओर गर्म जल का तालाब। मन्दिर के गर्भगृह के बाहर परिक्रमा पथ बना है। लकड़ी और पत्थर के मिश्रित प्रयोग से मन्दिर बनाया गया है जिसका शिल्प उत्कृष्ट है। मन्दिर में मुनि वशिष्ट की पत्थर की प्रतिमा स्थापित है। वशिष्ठ को तीर्थ के रूप में माना जाता है और यहां स्नान करना महत्वपूर्ण माना गया है।

इस मन्दिर के साथ श्री रामचन्द्र जी का मन्दिर भी है। मुनि वशिष्ठ को श्री राम का गुरू माना जाता है। मुनि महाराज के यहां आने से सम्बन्धी कई कथाएं प्रचलित है। एक कथा के अनुसार कहा जाता है कि जब युद्ध में विश्वमित्र ने मुनि वशिष्ठ के सौ पुत्रों को मार दिया था तो गहरी वेदना के कारण मुनि ने अपने हाथ-पांव बांध कर व्यास में छलांग लगा दी थी लेकिन व्यास ने मुनि के बन्धन तोड़ दिए और इस गांव के किनारे उन्हें आदर से पहुंचा दिया था। मुनि ज्यों ही नदी से बाहर आए यहां गर्म जल का झरना फूट पड़ा। मुनि महाराज ने यही जगह अपने रहने के लिए चुनी और यहां तपस्या करते रहे। इन्हीं के नाम से इस गांव को वशिष्ठ कहा जाता है।

इस मन्दिर में कई साधुजन रहते हैं। साथ जो यज्ञशाला है वहां रात-दिन धुनी जली रहती है और महात्मा लोग भगवान शंकर की बूटी का खुल कर प्रयोग करते हैं।

"एक प्रमुख पर्यटक स्थल होने के कारण इस गांव के आसपास कई होटल खुल गए हैं जिससे इस स्थान की शुद्धता पर एक प्रश्न चिह्न लग गया है। क्योंकि गर्म पानी का स्रोत जो कभी धार्मिक दृष्टि से स्नान के लिए महत्वपूर्ण माना जाता रहा है वहां अब पर्यटक और गांव निवासी इसे मात्र गर्म जल मान कर स्नान करते देखे जा सकते हैं। इसी जल को गांव से कुछ दूर हिमाचल पर्यटन निगम भी लाया है और अपने स्नानगृह बनाए हैं। चारों तरफ सेब के बगीचे हैं। मनाली गांव यहां से सामने होने के कारण बहुत सुन्दर दिखता है।"

मनाली से व्यास नदी को पार करके दाहिनी तरफ का लगभग 3.2 कि०मी०

मार्ग यहां तक पहुंचाता है। समुद्रतल से यह स्थान 1982 मीटर की ऊंचाई पर बसा है।

जगत सुख के मन्दिर

जगत सुख व्यास नदी के बाएं छोर पर नगर से 12 किलोमीटर और मनाली से 6 किलोमीटर दूर बसा है। पुरातात्विक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह गांव अति महत्वपूर्ण है। इसे कुल्लू का एकमात्र प्राचीन गांव माना जाता है। नगर से पहले जगतसुख में ही नास्त नामक कुल्लू रियासत की राजधानी थी। यह भी बताया जाता है कि जगतसुख में ही देवी हिडिम्बा ने विहंगमणी पाल को कुल्लू का प्रथम राजा होने का वरदान भी दिया था। यहां कई मन्दिर स्थित हैं जिनमें कुछ महत्वपूर्ण मन्दिरों का वर्णन नीचे किया गया है—

गौरीशंकर मन्दिर

गौरीशंकर मन्दिर को कई विद्वान सबसे प्राचीन मन्दिर मानते हैं। कुल्लू घाटी में शिखर शैली के मन्दिरों में इसका प्रमुख स्थान है। मन्दिर निर्माण में गुप्तकालीन प्रभाव स्पष्ट है। इस मन्दिर को सातवीं और आठवीं शताब्दी के मध्य बनाया माना जाता है। इसके दरवाजे और दीवारों पर जो चित्रकारी की गई है वह उत्कृष्ट है। इसकी दीवारों पर विष्णु ब्रह्मा, सूर्य भगवान की प्रतिमाएं दर्शनीय हैं। महिषासुरमर्दिनी की चित्रित प्रतिमा अवलोकनीय है। देवी के बाएं हाथ में त्रिशूल है जिसके साथ देवी ने राक्षस महिषासुर को मार दिया है। बांए हाथ से राक्षस की पूंछ दबोची है। दो अन्य हाथों में गदा और चक्र हैं। बजौरा के मन्दिर में भी इसी तरह की प्रतिमा चित्रित हैं। शिवलिंग की स्थापना मन्दिर में की गई है।

सन्ध्या देवी मन्दिर

सन्ध्या देवी का इसी गांव में निर्मित मन्दिर शिखर और मिश्रित पहाड़ी शैली का सुन्दर उदाहरण है। मन्दिर का निचला भाग पत्थर का बना है जिसमें गुप्तकालीन सुन्दर चित्रकला है। ऊपरी भाग लकड़ी से निर्मित है। जिसके मध्य में पत्थरों का प्रयोग भी किया गया है। ऐसा लगता है कि मन्दिर को किसी कारण क्षति पहुंची है जिससे बाद में इसके ऊपरी भाग का निर्माण हुआ है। काष्ठ भाग में पहाड़ी चित्रकला देखने को मिलती है। एक अभिलेख के अनुसार इसका निर्माणकाल 1328 ईसवी बताया गया है और 19वीं शताब्दी में इसके ऊपरी भाग का निर्माण हुआ है।

इसी गांव में मां शेरावाली मन्दिर भी उल्लेखनीय है जिसमें दुर्गा की पाषाण पत्थर की प्रतिमा है।

गुसैंणी देवी मन्दिर

तिरथन नदी के दाहिने छोर पर गुसैंणी देवी का प्राचीन मन्दिर भीतरी सराज में स्थित है। इस देवी को गड़ा दुर्गा के नाम से भी जाना जाता है। यह मन्दिर गुसैंण गांव में है, और पहाड़ी चित्रकला का उत्कृष्ट नमूना है। चकोर बरामदे में लगे खम्बों पर सुन्दर नक्काशी की गई है। निर्माण में पत्थर और लकड़ी का मिश्रित प्रयोग हुआ है।

बताया जाता है कि गुसैंणी वहां के एक ठाकुर की अति सुन्दर कन्या थी। ठाकुर को यह कन्या बहुत प्रिय थी। ठाकुर का इस क्षेत्र में राज्य हुआ करता था। इसी गांव में एक शिल्पी रहता था जिसकी कला से एक दिन वह ठाकुर बहुत प्रभावित हुआ और उसने उसे बुलाकर कहा कि उसकी कला बहुत सुन्दर है। ठाकुर ने उसे मनचाहा वरदान और ईनाम मांगने को कहा। शिल्पी ने बहुत सोच-विचार कर उसकी प्रिय कन्या गुसैंणी का हाथ मांग लिया। ठाकुर ने प्रसन्न हो कर अपनी कन्या को उस कलाकार के योग्य पा लिया।

एक दिन वह कन्या तिरथन नदी के किनारे बैठी थी। तभी नदी की लहरों ने उस कन्या को डुबो दिया और बाद में वह कन्या देवी के रूप में प्रकट हो गई। ठाकुर ने बाद में उसकी याद में एक मन्दिर बनाया और उस कन्या को देवी रूप में पूजने की परम्परा शुरू हो गई। इस मन्दिर में जो चित्रकारी हुई है वह उसी चित्रकार द्वारा की बताई जाती है जिससे ठाकुर ने अपनी पुत्री का विवाह किया था। इस मन्दिर में यह चित्रकारी बहुत सुन्दर और उत्कृष्ट है।

निरमण्ड के मन्दिर

निरमण्ड कालान्तर से ही एक प्रधान सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। समुद्रतल से लगभग 1200 मीटर की ऊंचाई पर बसे इस मन्दिरों के गांव को छोटी काशी से भी अलंकृत किया जाता है। कुल्लू के आउटर सराज में स्थित यह गांव रामपुर से 16 किलोमीटर के करीब सतलुज नदी के दाहिने छोर पर स्थित है। यहां पहुंचने के लिए शिमला से वाया नारकण्डा और कुल्लू से वाया बशलेओ या जलोरी पास होते हुए भी पहुंचा जा सकता है।

इस नगर की प्राचीनता यहां के परशुराम मन्दिर से एक ताम्रपात्र से मिलती है। इस अभिलेख के अनुसार यहां का प्राचीन राजा वरुणसेन था। इसे महासामन्त महाराज की उपाधि प्राप्त थी। इस राजा के पुत्र सज्जय सेन और इनके पुत्र रविसेन का उल्लेख भी है। उनके प्रपोत्र समुद्रसेन का जिक्र भी इस अभिलेख में किया गया है। एलैक्जेण्डर कनिंघम ने जिस ताम्रपत्र अभिलेख को खोजा था उसमें उन्होंने इसे समुद्रसेन के काल का बताया है। कुछ विद्वान इसे राजा हर्ष के समय का भी बताते हैं जो 612-13 ई० पू० का है।

निरमण्ड नामकरण के सन्दर्भ में कई मत रहे हैं। निरमण्ड शब्द को "नरमुण्ड"

से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। नरमुण्ड अर्थात मनुष्य का सर। इस सन्दर्भ में भी कई कथाएं प्रचलित हैं। निरमण्ड को भगवान परशुराम की तप स्थली माना गया है जिसका प्रमाण यहां का परशुराम मन्दिर माना जाता है। परशुराम जी ने इक्कीस बार क्षत्रीय वंश का नाश इसलिए कर दिया था क्योंकि ये लोग अपने धर्म से गिर गए थे। अधर्म के विरुद्ध कई युद्धों के उपरान्त परशुराम जी हिमालय पर्वतों में एकान्त की तलाश में भ्रमण करते हुए इस स्थान पर पहुंच गए और उन्होंने यहां कई सालों तक घोर तपस्या की। इन्हें विष्णु भगवान के छठे अवतार माना गया है। महर्षि जमदग्नि के पुत्र यही हैं। इनकी माता रेणुका जी हैं। कहा जाता है कि एक बार जब महर्षि जमदग्नि ने परशुराम जी को किसी कारण वश अपनी पत्नी रेणुका के वध की आज्ञा दी तो वह टाल न सके। अपनी माता का उन्होंने पिता की आज्ञानुसार वध कर दिया था। इसलिए ही इस स्थान का नाम "निरमण्ड" पड़ा। लेकिन ऐसी ही घटना का जिक्र सिरमौर के रेणुका तीर्थ से भी जोड़ा जाता है। रेणका झील नारी का सुप्तरूप है और यह माना जाता है कि परशुराम जी ने अपने पिता से पुन: अपनी माता का जीवनदान मांगा था लेकिन जमदग्नि ऐसा न कर पाए थे और उन्होंने झील के रूप में अमर कर दिया। यहां झील पर आज भी प्रति वर्ष एक विशाल मेला लगता है और कहा जाता है कि भगवान परशुराम इस दौरान अपनी माता जी से मिलने आते हैं।

कुछ लोग यह मानते हैं कि यह घटना उस समय हुई थी जब परशुराम जी निरमण्ड में तपस्या किया करते थे और महर्षि जमदग्नि तथा रेणुका जी वर्तमान रेणुका की पहाड़ियों पर वास किया करते थे। वध करने के पश्चात् परशुराम जी ने अपनी माता के शव का अन्तिम संस्कार निरमण्ड में ही किया बताया जाता है और रेणुका के सर काटने के पश्चात् ही यहां का नाम नरमुण्ड से निरमण्ड पड़ा हो। लेकिन नरमुण्ड का अर्थ किसी नर का धड़ होता है और उक्त घटना से यह शब्द "नारीमुण्ड" से होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निरमण्ड "नरमुण्ड" या "नारीमुण्ड" का अपभ्रंश ही है।

लेकिन कुछ विद्वान और लेखक बन्धुओं ने निरमण्ड को मानव बलि से जोड़ कर एक अन्धविश्वास को जन्म दिया है। उनका मानना है कि 12 वर्ष के घोर तप के बाद यहां परशुराम जी ने एक महायज्ञ किया था। ऋगवेद से जोड़कर यह कहा गया कि यही परशुराम जी का नरमेध यज्ञ था जिसमें मानव बलि दी गई। और यहीं से जन्मा भुण्डा उत्सव जिसमें 12 वर्ष के बाद एक मानव बलि का जिक्र किया जाता है। लेकिन इस मानव बलि के प्रमाण कहीं भी मौजूद नहीं है। अगर ऐसा है भी तो यह कोरा अन्धविश्वास ही है। इस सम्भावना से इसलिए इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि पहाड़ी समाज आज भी अपने देवी देवताओं के प्रति समर्पित है। वर्तमान में शिक्षा के कारण यह अन्धविश्वास अवश्य कम हुआ है लेकिन प्राचीन समय में यह अपनी चरम-सीमा पर रहा है। निरमण्ड के लोगों को जो भूमि मिली है वह ऐसा माना जाता है कि भवगान परशुराम जी ने ही कभी दी थी। निरमण्ड आज भी एक ब्राह्मणों का बड़ा गांव

है। प्राचीन लोग अपने भगवान या शासक परशुराम के प्रति अत्यन्त आभारी थे। अपनी माता के वध के बाद ऐसा माना जा सकता है कि इस गांव के शासकों ने परशुराम के उस यज्ञ को नरमेध यज्ञ में बदल दिया हो और अपने देवता के लिए मानव बलि तक जोड़ दिया हो।

हिमाचल प्रदेश के जिन स्थानों पर 12 सालों के बाद भुण्डा उत्सव मनाया जाता है उसका सूत्रपात निरमण्ड से ही हुआ बताया गया है। यह उत्सव यहां की देखादेखी में आयोजित लगता है। इस महापर्व का सीधा सम्बन्ध यहां के प्राचीन परशुराम मन्दिर से जोड़ा जाता है।

परशुराम मन्दिर और भुण्डा

यह मन्दिर निरमण्ड गांव के बिल्कुल ऊपर स्थित है। एक ताम्रपत्र के अनुसार इस मन्दिर को सातवीं शताब्दी पूर्व का निर्मित बताया जाता है। मन्दिर की छत बन्द है अर्थात पेन्टरूफ शैली में बनी है। मन्दिर का मुख्य दरवाजा खुला रहता है। प्रवेश करते ही प्रहरी की भान्ति देवी हिडिम्बा की पाषाण प्रतिमा के दर्शन होते हैं। एक अन्य विशाल द्वार को पार करके मन्दिर परिसर का आंगन आता है। इस प्रांगण में भी एक अन्य मन्दिर निर्मित है। इसमें भुण्डा उत्सव के दौरान हवन इत्यादि किया जाता है। भीतरी द्वार के आसपास दो अन्य दरवाजे हैं। ये लकड़ी के हैं जिन्हें सांकलों से जकड़ा हुआ है। मध्य दरवाजा परशुराम मन्दिर का है। नीचे वाले द्वार के भीतर परशुराम जी के आयुध हैं और ऊपर भण्डार कक्ष है। मन्दिर का मध्यभाग का दरवाजा भुण्डा उत्सव के ही दौरान खुलता है। गर्भगृह में भगवान परशुराम की प्रतिमा स्थापित है जिसने कुल्हाड़े को पकड़ रखा है। दीवारों और दरवाजे पर सुन्दर नक्काशी की गई है। इसी परिसर में मनुष्य का धड़ भी प्रतिष्ठित हैं जिसकी पूजा की जाती है।

इस मन्दिर के बाहर वर्गाकार चबूतरा बना है। कहा जाता है कि इसी चबूतरे पर गांव के चुनींदा कारदार आपस के झगड़े इत्यादि निपटाया करते थे। यह कारदार किसी व्यक्ति को दोषी पाए जाने पर अपने इष्ट परशुराम के आशीर्वाद से फांसी तक की सजा दिया करते थे जो सभी को मान्य होती थी। मृत्यु दण्ड तभी दिया जाता था यदि कोई व्यक्ति देव द्रोह, देवता की चोरी इत्यादि किया करता। सदस्यों के बैठने के लिए चबूतरे पर पीठ के सहारे हेतु पत्थर लगे हैं। सभा जब इस चबूतरे पर बैठती तो स्त्रियां एक निर्धारित रास्ते से ही गुजरती थी। कुल्लू के मलाणा के बाद पहाड़ी समाज के न्याय का यह दूसरा प्रधान केन्द्र था लेकिन समय के साथ-साथ यहां तो बदलाव आ गया लेकिन मलाणा गांव ने अपनी प्राचीनता उसी तरह से बरकरार रखी है।

परशुराम मन्दिर के द्वारा जिस महापर्व पर खुलते हैं उसे 'भुण्डा' कहा गया है। बहुत से लेखकों और विद्वानों ने इसे नरबलि से जोड़ा है लेकिन इस तरह के प्रमाण मौजूद नहीं हैं केवल कहीं-सुनी बातों पर ही विश्वास किया जा सकता है। पहले यह आयोजन प्रति बारह वर्ष के बाद होता था लेकिन धीरे-धीरे आर्थिक अभाव के कारण

यह निर्धारित समय पर नहीं हो पाया। कुछ यात्रियों और गांव के बुजुर्गों ने इस उत्सव का उल्लेख वर्ष 1885, 1918-1919, 1933 में किया है। 1933 के बाद यह उत्सव 1962 में हुआ और उसके बाद वर्ष 1986 में।

इसे कुम्भ की तरह महापर्व माना जाता है लेकिन यदि मानव बलि की बात कही जाती है तो इसे कुम्भ के साथ जोड़ना मूर्खता नहीं तो और क्या है। जब इसका आयोजन किया जाता था तो इसकी सूचना गांव-गांव तक पहुंच जाती थी। इस अवसर पर कोई भी शुभ कार्य जैसे विवाह इत्यादि नहीं होता था। इसकी तैयारियां एक साल पहले शुरू हो जाती थीं। इस आयोजन में क्षेत्रीय अनेक देवता शामिल होते थे। यात्रियों के ठहरने और खाने-पीने की व्यवस्था मन्दिर कमेटी की तरफ से होती थी। मन्दिर परिसर में एक हवन कुण्ड है जो पत्थर से ढका रहता है। इसमें उत्सव के दौरान ढेरों हवन सामग्री जलाई जाती थी। इसके साथ ही एक पानी का कुण्ड है। कहा जाता है कि इस कुण्ड में खुद ही इस अवसर पर पानी उत्पन्न हो जाया करता था। यहीं पर माता काली की विशाल मूर्ति बनाई जाती है। 1962 के उत्सव में यह हवन 6 मास तक किया जाता रहा और उससे पहले उत्सव में डेढ़ वर्ष तक। हारकोट ने इस उत्सव का जिक्र अपने यात्रा संस्मरणों में किया है।

इस यज्ञ में प्रतिदिन 45 पौंड से भी अधिक हवन सामग्री जलती है। यज्ञ में सराहन के साथ रावींनामक स्थान से बुशहर रियासत के राज पुरोहित को विशिष्ट अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया जाता है। यह पुरोहित यज्ञ के बाहर एक रेखा खींचता है। कहा जाता है कि यह रेखा इसलिए खींची जाती है ताकि कोई राक्षस या भूत-प्रेत यज्ञ की पवित्रता को नष्ट न करे। इस दौरान बहुत पशु बलियां दी जाती हैं।

मन्दिर के किवाड़ों को विशेष परम्परा से खोला जाता है। एक ब्राह्मण और दो सुनार भीतर दीयों को लेकर जाते हैं। प्रवेश से पूर्व इन तीनों के सर मूंड दिए जाते हैं। मुंह में पंचरत्न डाले रहते हैं। इनके शरीर पर एक वस्त्र कफन की तरह लिपटा रहता है। गर्भगृह से फिर ये लोग भगवान परशुराम की प्रतिमा को उठाकर ले आते हैं। हाथ में जो भी वस्तु लगे उसे भी साथ लाया जाता है। मन्दिर में ऊपर एक हाल है, यहां एक कृत्रिम गुफा बनाई जाती है जिसमें यह प्रतिमा रखी जाती है। लोगों का कहना है कि इस प्रतिमा के तीन मुख हैं। यह बैठे हुए किसी नर की मुद्रा में है। बाहर चांदी लगी है। मन्दिर में परशुराम जी की एक अष्टधातु की अंगूठी भी रहती है जिसे 1962 में बाहर लाया गया था।

हारकोट ने 1868 में इस उत्सव में जिन वस्तुओं को बाहर निकालने का वर्णन किया है उसमें—परशुराम जी का फरसा, कलश, धनुष, लोहे के तीर कमान, एक कवच था।

उत्सव की अन्तिम यात्रा में इस मूर्ति को एक पालकी अर्थात सुखपाल में निर्धारित स्थान जिसे अखाड़ा कहते हैं, लाई जाती है। यहां इसे कुछ देर के लिए रखा जाता है। इसके साथ एक विशाल जुलूस रहता है और हर 10-12 कदम पर पशुबलियां

दी जाती रहती है । उत्सव के अन्तिम दिन से पूर्व एक विशेष यात्रा निकाली जाती है जिसे कलश कहा जाता है । देवता के कारदार, पुजारी तथा नौ कन्याएं एक जुलूस की शक्ल में गांव के छोर पर बावड़ी से पानी लाने की रस्म पूरी करते हैं। एक ब्राह्मण जो उत्सव के लिए कलश में पानी लाता है उसे अगले मुण्डा यज्ञ तक सुरक्षित रखा जाता है । इसके साथ एक दीपक भी रखा जाता जो बुझता नहीं है ।

मुण्डा पर्व एक विशेष जाति के व्यक्ति से पूर्ण होता है । इस जाति को "बेड़ा" जाति कहते हैं । इस परिवार में से एक व्यक्ति को रस्से पर फिसलने हेतु नियुक्त किया जाता है। यह व्यक्ति स्वयं एक विशेष घास से इस रस्से को साल भर की मेहनत से बनाता है। उत्सव के दिन इस व्यक्ति को हवन कुण्ड के पास लाया जाता है और इसकी पूजा "बलि के बकरे" की तरह की जाती है। इसे दूध-घी खाने को दिया जाता है और जीवन का अन्तिम संस्कार इत्यादि भी करवाया जाता है । बेड़ा को इस दौरान 'ज्याली' कहा जाता है । गांव के ऊपर एक ढांक भी ज्याली के नाम से प्रसिद्ध है । जैसे ही परशुराम की प्रतिमा पालकी में अखाड़े तक लाई जाती है इस व्यक्ति को लोग कन्धे पर बिठा कर ज्याई ढांक तक ले जाते हैं। गांव के सिरे पर शिव मन्दिर के ऊपर यह ढांक है। यहां मीरी मिखार नामक स्थान पर खम्बा गाड़ दिया जाता है जिस में रस्से का एक सिरा बान्धा जाता है। इस कार्य को कथाण्डा नामक ग्राम वासी करते हैं । दूसरा किनारा सरकोटी नामक स्थान में बान्धा जाता है । यह स्थान शिव मन्दिर के साथ है। अब बेड़ा को लकड़ी के एक पटड़े पर बिठाया जाता है । इसके नीचे एक चमड़े के बस्ते में रेत बांधी जाती है ताकि संतुलन न बिगड़े । छाती पर भी कपड़े बान्धे जाते हैं। देवता के गूर द्वारा निर्धारित समय पर बेड़े यानि ज्याली को छोड़ा जाता है । यह रस्से का सफर कठिन और मौत का सफर होता है । इस समय यह उत्सव मातम में बदल जाता है । उसके परिवार के लोग बिलखते रहते हैं । स्त्रियां गहने इत्यादि नहीं पहनती । यदि अमुक व्यक्ति जीवित नीचे पहुंच जाए तो इसे शुभ माना जाता है और जिस भी वस्तु को वह हाथ लगाए उसे वही दी जाती है । यदि मृत्यु हो जाए तो उसे शुभ नहीं माना जाता है। इस मन्दिर की तरफ से पहले ही पर्याप्त भूमि और धन का प्रावधान किया होता है ।

रस्से पर फिसलने का यह करतब ठीक वैसा ही है जैसे नट जाति के लोग किया करते हैं या सरकस वाले। कहा जाता है कि 1856 तक किसी भी व्यक्ति की मृत्यु इस उत्सव में यहां नहीं हुई लेकिन 1856 के मुण्डा में रस्सा टूट जाने से ज्याली की मृत्यु हो गई थी और ब्रिटिश प्रशासन ने उसी दिन से मुण्डा में इस तरह के इस खेल पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसके बाद आदमी के स्थान पर बकरा बान्धा जाने लगा और कई जगह आदमी के बचाव हेतु रस्से के नीचे जालियां भी लगवाई गई ।

जैसे ही ज्याली रस्से से फिसलता दूसरे छोर पर पहुंचता है परशुराम जी की प्रतिमा और अन्य निकाला गया सामान भीतर रख दिया जाता है और एक परम्परा से

किवाड़ों को बन्द कर दिया जाता है। इस उत्सव के दौरान यहां के अन्य मन्दिरों में भी अन्य विशेष पूजाएं की जाती हैं।

अम्बिका देवी मन्दिर

यह मन्दिर माता दुर्गा को समर्पित है। अन्य मन्दिरों की तरह ही यह मन्दिर भी 'पैन्ट रूफ शैली' में निर्मित है। मन्दिर निर्माण में देवदार की लकड़ी और पत्थर का सुन्दर प्रयोग किया गया है। छत स्लेट से छवाई गई है। कहा जाता है कि भगवान परशुराम ने ही इस मन्दिर को बनवाया था जिसका बाद में कई बार जिर्णोद्धार किया गया। गर्भगृह में माता की संगमरमर की काले रंग की प्रतिमा है जिसे सोने और चांदी के आभूषणों से सुसज्जित किया गया है। इसे सातवीं सदी पूर्व का बताया जाता है।

चण्डिका देवी मन्दिर

मन्दिर मां काली को समर्पित हैं। भीतर देवी की पाषाण प्रतिमा अवलोकनीय है। यह मन्दिर गांव के पानी के टैंक के पीछे हैं। मुख्य प्रतिमा के अतिरिक्त मन्दिर में एक खड़ी भगवान विष्णु की प्रतिमा है। तीन मुखों वाली मूर्ति सम्भवत: परशुराम जी की हैं। चण्डिका देवी मन्दिर शिखराकार है जिसे सातवीं शताब्दी में निर्मित माना जाता है। प्रतिमा पत्थर की है। इस परिसर में शिखराकार भगवान शिव का मन्दिर है जो छोटे आकार का है। इसका शिखर और अमलक अब नजर नहीं आते हैं। भीतर शिव लिंग स्थापित है। इसे 10वीं शताब्दी में निर्मित माना जाता है।

ठाकुर द्वारा

यह मन्दिर गांव के मध्य भाग में स्थित है। मन्दिर के भीतर लकड़ी की सुन्दर नक्काशी विद्यमान हैं। यह मूलत: विष्णु मन्दिर है जिसके गर्भगृह में विष्णु और लक्ष्मी की प्रतिमाएं स्थापित है। ये प्रतिमाएं पत्थर की हैं। गर्भगृह के लिए प्रवेश करते ही दीवारों पर महिषासुरमर्दिनी की अंकित है।

निरमण्ड में इन मन्दिरों के अतिरिक्त कई अन्य मन्दिर भी विद्यमान है लेकिन ये अच्छी हालत में नहीं हैं। उचित देखरेख न होने के कारण ये जीर्ण-शीर्ण स्थिति में हैं। यहां एक पांच शिव मन्दिरों का लघु समूह भी है जिसे पांच पाण्डव के नाम से जाना जाता है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मी-नारायण मन्दिर, डेखनी महादेवी मन्दिर तथा दक्षिणेश्वर मन्दिर वर्णनीय हैं।

ढाकिया महादेव

यह मन्दिर गुफा के आकार में है जो निरमण्ड से कुछ दूर ढाक में स्थिति है।

निरमण्ड के एक ब्राह्मण की बकरी बहुत मात्रा में दूध दिया करती थी। एक दिन पशुओं के बीच से यह बकरी कहीं गुम हो गई। कई दिनों तक तलाश करने के बाद

इस बकरी का कहीं पता ही नहीं चल पाया। एक दिन उस ब्राह्मण के स्वप्न में भगवान शिव जी आए और उन्होंने कहा कि खोई हुई बकरी पास के ढांक में एक गुफा में सुरक्षित है। और प्रतिदिन शिव को दूध से प्रसन्न कर रही है। ब्राह्मण स्वप्न के बाद ढांक में चला गया और देखा कि एक गुफा में उसकी बकरी खड़ी है और एक लिंग पर स्वतः ही उसके थनों से दूध की धारा बह रही है। यह बात चारों तरफ फैल गई और लोगों ने तभी से यहां लिंग पूजा शुरू कर दी जो आज भी मौजूद है।

श्रृंगी ऋषी मन्दिर

श्रृंगी ऋषि का मन्दिर इन्नर सराज के थोड़ा ऊपर निर्मित किया गया है। बंजार कुल्लू से 58 किलोमीटर की दूरी पर बसा है। यह एक टावर मन्दिर है जो आठ मंजिल है यानि लगभग 150 फुट ऊंचा। इस मन्दिर की ऊपरी मंजिल में ऋषि की प्रतिमाएं और चिह्न विद्ययमान हैं। मन्दिर के लिए कोई निर्मित सीढ़ियां नहीं है केवल देवदार का एक पेड़ काट कर शहतीर बनाया जाता है जिसमें ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियां काट कर बनाई जाती है। मन्दिर पत्थर और लकड़ी से बनाया गया है। लकड़ी पर की गई नक्काशी उत्कृष्ट है।

बंजार से लगभग 8 किलोमीटर ऊपर एक धार है जिसे सकीर्ण टीला या सकीर्ण कण्डा कहा जाता है। यही ऋषि का मूल निवास माना जाता है जहां उन्होंने कई सालों तक तप किया है। यहां भी एक छोटा मन्दिर निर्मित हैं। यह मन्दिर वर्ष में एक बार ज्येष्ठ महीने की सक्रान्त को खोला जाता है और भारी संख्या में लोग मनौती चढ़ाने यहां आते हैं। यहां तक पैदल जाना पड़ता है। रास्ता विकट है। लोग यहां आकर अपने बच्चों के बाल भी कटवाते हैं। यहां लोग बकरों की बलि भी देते हैं। इसी क्षेत्र में चेहणी कोठी नामक स्थान में ऋषि का मन्दिर और भण्डार निर्मित हैं। यहां का मन्दिर भी प्राचीन है।

रामायणकाल ही द्वापर युग भी कहा जाता है। इस युग के ऋषि श्रृंगी एक प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं। इस युग में महाराजा दशरथ का शासन था जिनकी तीन रानियां थीं। लेकिन सन्तान किसी के भी नहीं थी। भगवान की इच्छा पर ही राजा के घर संतान हो सकती थी। वंश को चलाने के लिए राजा के सन्तान का होना अनिवार्य था। इस दृष्टि से ऋषियों ने इसका उपाय ढूंढा और एक ऐसे ऋषि की तलाश की जो राजा दशरथ के यहां पुत्रेष्टि यज्ञ करवाए क्योंकि इस यज्ञ को करवाने के लिए ब्रह्मचारी तपस्वी और महान योग ऋषि की आवश्यकता थी जिसने कभी जीवन में स्त्री का मुंह न देखा हो और हवन में चरू तैयार करके रानियों को खिलाए ताकि उनके सन्तान हो सकें। चारों तरफ आदमी दौड़ाए गए और अन्त में ऋषि श्रृंगी के बारे में पता चला जो इस यज्ञ के लिए योग्य थे। उन्हें इस यज्ञ के लिए लाया गया और उन्होंने राजा दशरथ के घर पुत्रेष्टि यज्ञ पूर्ण करवाया जिससे महारानी कौशल्या के श्री रामचन्द्र जी, सुमित्रा के श्री लक्ष्मण,

और शत्रुघन तथा रानी केकैयी के भरत पैदा हुए। इस बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि रामायण काल के ऋषि श्रृंगी एक महान आर्य ऋषि हुए हैं।

मन्दिर में इनकी सोने और चांदी की प्रतिमाएं है। बताया जाता है कि एक बार इस मन्दिर से सोने का छतर चोरी हो गया। जैसे ही वह व्यक्ति कुल्लू की तरफ पहुंचा तो चौकी में सोए एक पुलिस वाले को किसी ने जोर की आवाज लगाई कि मन्दिर से जो छतर चोरी हुआ है उसे लेकर एक व्यक्ति इधर की ओर आ रहा है। वह उठा और उसने उस चोर को पकड़कर उस छतर को वापिस मन्दिर पहुंचा दिया। यह सभी देव शक्ति से ही हुआ था। इन्नर सराज और आउटर सराज में 18 जगह इनके देवालय हैं।

सरेवलसर झील व मन्दिर

यह झील आनी-कुल्लू मार्ग पर 3000 मीटर की ऊंचाई पर स्थित जलोर पास से लगभग सात किलोमीटर की दूरी पर है। जलोरी पास ट्रैकिंग करने वालों में अत्यन्त लोकप्रिय है। और जो भी पैदल यात्री यहां से गुजरता है वह इस झील पर अवश्य जाता है।

झील के किनारे एक सुन्दर मन्दिर निर्मित है। यह काली को समर्पित है। भीतर देवी काली की प्रतिमा स्थित हैं। श्रद्धालु यहां आकर देवी को बकरों की बलियां दिया करते हैं।

इस झील को भी देवी से जोड़ा जाता है। यहां कुछ विशेष प्रकार की चिड़ियाएं हैं जो झील को पवित्र बनाने में मददगार है। जब भी कोई तिनका या अन्य हल्की वस्तु पानी पर तैरती नजर आए तो ये चिड़ियां इन्हें उठाकर किनारे डाल देती हैं।

जलोरी पास तक बस द्वारा जाया जाता है। यहीं से रास्ता दूसरी ओर एक ऊंचे टीले की ओर चला गया है। लगभग पांच किलोमीटर बाद पांडव किला नामक स्थान आता है। यहां पुराने किले निर्मित हैं। इसका सम्बन्ध पांडवों से बताया जाता है।

यहां का भ्रमण कुल्लू से भी किया जाता है।

बैहणा महादेव मन्दिर

यह मन्दिर शिमला आनी बस मार्ग पर आनी से कुछ ही दूरी पर है। इस मन्दिर से सतलुज नदी लगभग दो सौ मीटर नीचे बह रही है। मूलतः यह मन्दिर भगवान शिव को समर्पित है। मन्दिर में शिवलिंग स्थापित है जिसकी पूजा की जाती है। सतलुज घाटी शैली में निर्मित यह मन्दिर अति आकर्षक है। बाहर सुन्दर मंडप निर्मित है। मंडप में मूल मन्दिर के लिए प्रदक्षिणापथ है। गर्भगृह के ऊपर पैगोडा अर्थात् बहु-छतरीय शैली की छत है। मूलतः मन्दिर पत्थर से निर्मित है। मण्डप में देवदार के खम्बे लगे हैं जिन पर उत्कृष्ट नक्काशी देखी जा सकती है। मूल मन्दिर शिखराकार है।

मन्दिर में शिव लिंग के प्रकट होने सम्बन्धी कथानुसार कहा जाता है कि प्राचीन समय में इसी गांव के एक ठाकुर की गाय पशुओं के झुण्ड में से रोज अलग होकर कहीं चली जाती थी। जब शाम को घर आती तो इसके थनों का सारा दूध सूखा होता। ठाकुर को इस गाय पर शक हो गया। एक दिन वह खुद पशुओं के साथ चला गया और जैसे ही गाय अलग हुई उसने इसका पीछा किया। कुछ दूर जाकर वह गाय एक जगह खड़ी हो गई और उसके थनों से स्वतः ही दूध की धाराएं बहने लगी। ठाकुर इसे देखकर हैरान रह गया। जब वह वहां गया तो देखा कि दूध एक शिवलिंग पर गिर रहा था। खबर चारों तरफ फैल गई। भगवान शिव का चमत्कार समझ कर लोगों ने इस शिवलिंग को पूजना आरम्भ कर दिया और बाद में यहां मन्दिर का निर्माण हुआ। बैहणा गांव में होने के नाते इसको बैहणा महादेव कहा जाने लगा।

इस मन्दिर में वैसे तो प्रति वर्ष कई मेलों का आयोजन किया जाता है लेकिन प्रमुख उत्सवों में शांद आता है जिसे 12 सालों के बाद मनाया जाता है।

शमशेर महादेव मन्दिर

आनी से लगभग 5 किलोमीटर की दूरी पर गांव में भगवान शिव को समर्पित शमशेर महादेव का मन्दिर प्रसिद्ध एवं प्राचीन है। मन्दिर में पत्थर पर तराशी गई भगवान शिव और पार्वती की दो फुट के लगभग ऊंची पत्थर की मूर्ति स्थापित है। इसे पहाड़ी शैली में बनाया गया है। साथ ही भगवान बुद्ध और महिषासुरमर्दिनी की कांस्य प्रतिमा भी है। दरवाजे और दीवारों पर सुन्दर नक्काशी है। दरवाजे के दांई ओर वराह की सुन्दर तस्वीर नक्काशी गई है जो पहाड़ी चित्रकला का संजीव उदाहरण है। मन्दिर में लकड़ी पर कुछ टांकरी में अंकित पक्तियां भी हैं। मन्दिर 16 वीं व 17वीं शताब्दी में निर्मित माना जाता है।

वर्तमान ब्राह्मण पुजारी की पीढ़ी के किसी व्यक्ति को संयोगवंश एक शिवलिंग झाड़ियों में मिला था। वह इसे गांव में लाया और इसकी पूजा की जाने लगी। राजा कुल्लू ने इस मन्दिर के लिए धन दिया और लिंग को मन्दिर में स्थापित किया गया। उसके बाद अन्य प्रतिमाएं बनाई गई।

6

बिलासपुर

हिमालय पर्वतों में भ्रमण करते हुए महर्षि व्यास किसी समय जब मृगुतुंग पर्वत जिसे आज रोहतांग जोत से जाना जाता है, पहुंचे तो उन्हें वहां का एकान्त और प्राकृतिक सौन्दर्यता से भरपूर स्वच्छ वातावरण ईश्वर भक्ति के लिए उपयुक्त लगा और उन्होंने अपनी समाधि यहां लगा कर कई वर्षों तक घोर तप किया। इस वसुन्धरा के लिए उनका यह तप वरदान सिद्ध हुआ और उनकी भक्ति की धाराओं का प्रवाह निर्मल जल के रूप में अविरल बहने लगा। मनु की नगरी मनाली और कुल्लू की घाटी में पहुंच कर इन धाराओं ने मानो यौवन में प्रवेश कर लिया और व्यास नदी का नाम प्राप्त किया। व्यास ने अपने छोरों पर कई प्रसिद्ध नगर बसाए। रोहतांग पर इस नदी का उद्गम आज 'व्यास कुण्ड' के नाम से विख्यात है। महर्षि व्यास कई सालों तक इन पहाड़ों और नदियों के साथ रहे। बताया जाता है कि भ्रमण करते हुए एक दिन वह सतलुज नदी के छोर के साथ चलते हुए वर्तमान व्यासपुर पहुंच गए। यह स्थान भी उन्हें उपयुक्त लगा और सर्दियों में वह इस नदी के तट पर रहने आने लगे। आज भी सतलुज के किनारे उनके रहने का स्थान 'व्यास गुफा' से प्रसिद्ध है—और इसी कारण प्रारम्भ में बिलासपुर को व्यासपुर के नाम से ही पुकारा जाता था। लोगों का कहना है कि प्राचीन काल में महर्षि के कारण यह गुफा बहुत प्रसिद्ध थी और यह बहुत लम्बी गुफा है जो दूसरी और मार्कण्डेय तीर्थ पर निकलती है। यहां पर ऋषि मार्कण्डेय रहा करते थे और इसी गुफा के रास्ते दोनों ऋषि एक दूसरे के पास आया-जाया करते थे।

लेकिन सतलुज पर गोविन्द सागर झील के निर्माण के साथ अब यह गुफा मात्र 'गुफा' ही रह गई है। क्योंकि अब कभी-कभार ही कोई यहां जाता है। हर तरह से यह धार्मिक गुफा उपेक्षित हो चुकी है लेकिन इसके प्राचीन महत्व को कम नहीं किया जा सकता। इसमें अभी भी कोई न कोई साधु अपनी धूनी जलाए अवश्य बैठा रहता है।

अन्य रियासतों की तरह बिलासपुर भी एक बड़ी रियासत रही है। इसे पहले कहलूर के नाम से जाना जाता था। 9वीं शताब्दी में राजा वीर चन्द ने इस रियासत की खोज की थी। यह चन्देल राजपूत परिवार से सम्बन्धित था। बुन्देलखण्ड में चन्देड़ी

नामक स्थान पर उस समय राजा हरिहर चन्द का शासन था जिसके पांच पुत्र थे। इनके नाम थे गोविन्द चन्द, वीर चन्द, गम्भीर चन्द, कबीर चन्द और सबीर चन्द। हरिहर चन्द ने अपनी रियासत का स्वामित्व अपने बड़े पुत्र गोविन्द चन्द को सौंप दिया। अन्य दो पुत्रों गम्भीर चन्द और कबीर चन्द ने कुमाऊं की दो रियासतों पर कब्जा कर लिया और उनके राजे बन कर जीवन यापन करने लगे। हरिहर अपने अन्य पुत्रों को अच्छी जगह की तलाश में लेकर फौज के साथ निकल पड़ा। बताया जाता है कि इस राजा को माता ज्वालाजी ने प्रेरणा दी और इसी अपार शक्ति के बल पर उसने होशियारपुर में झंदबाड़ी नामक स्थान पर विजय हासिल कर ली और वहां एक किला निर्मित करके कुछ दिन व्यतीत किए। पुनः माता ज्वालाजी द्वारा प्रेरणा देने पर वह राजा अपने पुत्रों सहित कांगड़ा के लिए रवाना हो गया। रास्ते में कांगड़ा के राजा के साथ उसकी कुछ कहा-सुनी हो गई। इनके बीच लड़ाई में हरिहर और उसका एक पुत्र मारे गए। अब वीरचन्द ने होशियारी दिखाई और वह अपनी बची फौज के साथ वर्तमान बिलासपुर क्षेत्र में पहुंचा और वहां के छोटे-छोटे राजाओं से उस क्षेत्र को जीत कर एक रियासत को कायम कर लिया।

वीर चन्द के बाद छठवीं पीढ़ी के राजा काहल चन्द ने इस रियासत का शासन सम्भाला और अपने नाम पर एक किले का निर्माण किया जिसे कोट कहलूर कहा गया। बताया जाता है कि इसी राजा के जमाने में कोट कहलूर यानि किले के नाम से इस रियासत का नाम कहलूर पड़ गया।

इसी परिवार के राजा विक्रम चन्द के काल से अर्थात 16वीं शताब्दी से उनका निवास स्थान सुनहैणी हुआ करता था लेकिन जब कहलूर रियासत का स्वामित्व राजा दीप चन्द को मिला तो उसे यह स्थान कतई पसन्द नहीं आया। वह अपना निवास रियासत के मध्य किसी सुन्दर स्थान में बनाना चाहता था। इस दृष्टि से उसने अपने राज दरबार के दो हिन्दू भाईयों और दो मुस्लिम सलाहकारों को अपनी रियासत में किसी सुन्दर जगह की तलाश के लिए भेजा जहां रियासत की राजधानी की स्थापना हो सके। वे चारों राजा के कहने पर इस कार्य पर निकल पड़े और कुछ ही दिनों में एक सुन्दर स्थान को सतलुज नदी के किनारे तलाश कर वापिस राजा के दरबार में जाकर इस तरह उस स्थान का जिक्र किया—

"शतद्रव तीर मदान बड़ा उपवनी रमणीका,
चंपवती तट शोभ है षट् मुख थलनीका।
है खनसेर निकट ही श्री शंकर आला,
रंग नाथ जिस नाम है भुज चार विशाला।
है बड़ा पवन भूमि का गिर अहे भवासा,
भो भूपति तिह भौन रच कीजै निज वासा।"

अर्थात् उन्होंने सतलुज नदी के तट पर एक ऐसे रमणीक स्थल को देखा जहां का सौन्दर्य अति आकर्षक था। उसके एक ओर खनेसर मन्दिर और दूसरी ओर रंगनाथ

भगवान का मन्दिर था। नीचे व्यास गुफा थी। उनकी इस जगह की खोज ही राजा को यहां ले आई और उसने अपनी राजधानी के लिए वही स्थान अति उपयुक्त समझा और राजधानी वहीं पर स्थापित कर ली। आज वर्तमान बिलासपुर का नाम इसी के फल-स्वरूप है। व्यासपुर से ही बिलासपुर कहा जाने लगा। राजा दीप चन्द ने इस रियासत पर 1650 से 1656 तक शासन किया। इस तरह सुनहैणी में वह अधिक समय नहीं रहे। यह राजा हनुमान जी का अनन्य भक्त था। 1656 में जब इस राजा की मृत्यु हुई तो पूरी रियासत शोकाकुल हो गई। इसके बाद इसके एकमात्र पुत्र जो उस समय 14 वर्ष का था इस रियासत का शासन सौंपा गया। कुछ अन्य राजाओं के आशीर्वाद से भीमचन्द ने अपना राज्य सम्भाल लिया। लेकिन बिलासपुर में इस राजा के लिए कुछ कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा। इनमें सिक्खों के साथ लड़ाई भी शामिल है। 1682 में गुरु गोबिन्दसिंह बिलासपुर में थे। राजा का इनसे झगड़ा चलता रहा और 1700 के आसपास राजा भीमचन्द और कांगड़ा के राजा आलम चन्द ने सिक्खों पर हमला कर दिया। लेकिन इसमें इन्हें कोई खास सफलता नहीं मिली। बताया जाता है कि उसके बाद गुरु गोबिन्दसिंह ने ही आपस में शान्ति स्थापित करने की पहल की। इस तरह इस रियासत के स्वामित्व का सिलसिला चलता गया और भीमचन्द के बाद राजा अजमेर चन्द, राजा देवी चन्द और राजा माहन चन्द क्रमशः रियासत पर राज्य करते रहे। राजा अमर चन्द इस वंश का अन्तिम शासक हुआ जिसके वक्त में भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य होने से यह भी अंग्रेजों के अधीन रहा।

स्वतन्त्रता के उपरान्त 1954 ई० में इस रियात्सत को हिमाचल प्रदेश में मिला दिया और इसे पूर्ण राजत्व का दर्जा प्राप्त हो गया। इस तरह राजधानी बिलासपुर जिले का मुख्यालय बन गया।

गोविन्दसागर झील के किनारे बसा बिलासपुर शहर आज एक विस्तृत नगर है लेकिन रियासत काल में जो भव्य इमारतें और मन्दिर सतलुज नदी के किनारे निर्मित थे वह भाखड़ा बांध बनने के कारण गोविन्द सागर झील में डूब गए। आज भी किनारों पर इनके खण्डहर देखे जा सकते हैं। कई प्राचीन मन्दिरों के शिखर पानी और रेत के मध्य से निकलते देखे जा सकते हैं। बिलासपुर से भाखड़ा बांध 80 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने 20 नवम्बर, 1963 में अपने कर कमलों द्वारा ऐशिया के इस सर्वाधिक ऊंचाई वाले बांध को राष्ट्र को समर्पित किया। भाखड़ा बांध तक मोटर लांचों द्वारा भ्रमण किया जा सकता है। इसका अलग ही आकर्षण है।

1167 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्रफल वाले इस जिले की 1981 की जनगणना के अनुसार ढाई लाख के करीब जनसंख्या है। इसकी सीमाएं उत्तर में जिला ऊना, जिला हमीरपुर तथा जिला मण्डी, पूर्व में मण्डी व शिमला जिलों, दक्षिण में सोलन तथा पश्चिम में पंजाब के रोपड़ जिले की आनन्दपुर साहिब के साथ लगती हैं। समुद्र तल से 673 मी० की ऊंचाई पर बसा जिला मुख्यालय एवं प्रसिद्ध शहर बिलासपुर शिमला से 90 कि०मी० और किरतपुर (*चण्डीगढ़-मनाली राष्ट्रीय उच्च मार्ग पर*) से 64

किलोमीटर की दूरी पर स्थित है । शहर नियमित बस सेवा से सभी प्रमुख नगरों से जुड़ा है । इस जिले में हालांकि पुरातात्विक दृष्टि से अधिक मन्दिर महत्वपूर्ण नहीं है लेकिन लोक मान्यताओं के कारण बहुत से मन्दिर और तीर्थस्थल हजारों लोगों के श्रद्धा केन्द्र आज भी यहां मौजूद हैं । इनमें श्री नैनादेवी शक्ति पीठ और तीर्थ मारकण्ड अति प्रसिद्ध हैं । कुछ इसी तरह के धार्मिक स्थलों का उल्लेख यहां किया गया है ।

नैना देवी मन्दिर

श्री नैना देवी का प्राचीन मन्दिर बिलासपुर से लगभग 57 किलोमीटर की दूरी पर समुद्र तल से 1177 मीटर की ऊंचाई पर नैना देवी धार के मध्य में स्थित है । सतलुज नदी इस धार की तलहटी को निरन्तर अपनी पावन लहरों से स्पर्श करती रहती है । एक ओर आनन्दपुर साहिब और दूसरी ओर गोबिन्दसागर झील के परिदृश्य मन को छू लेते हैं । यहां के भ्रमण हेतु यात्री कोट कहलूर किले, टोबा कोला वाला तथा बस से जाते हैं । बस से भ्रमण करने पर मन्दिर के लिए आना-जाना आसान हो गया है ।

मन्दिर के भीतर मां दुर्गा की प्रतिमा स्थापित है जिसे श्री नैना देवी के नाम से पूजा जाता है । मन्दिर के मुख्य गेट के साथ भैरव की प्रतिमा है । साथ ही गणपति और महावीर जी की मूर्ति भी विद्यमान हैं । दो अन्य छोटे मन्दिर श्री रामचन्द्र जी और श्वेत भटूक के स्थित हैं । प्रांगण में संगमरमर की असंख्य छोटी-छोटी शिलाएं लगी हैं जिन पर दानी श्रद्धालुओं के नाम खुदे हैं । मन्दिर के साथ यात्रियों के आवास के लिए सराय भी बनाई गई है । हिमाचल पर्यटन विकास निगम ने भी आवास सुविधा हेतु इस मन्दिर के साथ पर्यटक सराय का निर्माण किया है ।

आनन्दपुर साहिब से मन्दिर 9 किलोमीटर के करीब दूर है । यहां तक रेल-गाड़ियों द्वारा भी यात्री सफर करते हैं । यह क्षेत्र पंजाब के रोपड़ जिले में है । जिसके कुछ दूरी पर से हिमाचल की सीमा लग जाती है । नंगल-भाखड़ा सड़क से श्री नैना देवी के लिए बस योग्य मार्ग है ।

मन्दिर निर्माण के साथ कई कथाएं जुड़ी हैं । पहली प्रमुख घटना सदियों पुरानी माता पारवती से जोड़ी जाती है । जिस समय यक्ष प्रजापति ने एक महायज्ञ रचा था तो उसमें संसार भर के देवी-देवता आमन्त्रित किये गए थे लेकिन उन्होंने अपनी पुत्री पारवती को इस यज्ञ में नहीं बुलाया था जिससे पारवती बिना अपने पति की आज्ञा के वहां चली गई । जब उन्होंने देखा कि उनके पति भगवान शिव और उनके लिए यज्ञ में कोई भी आसन नहीं है तो इस अपमान को सहन न कर सकी और जलते हवन में अपने को समर्पित कर दिया । भगवान शिव को जब इस बात का पता चला तो वह चिन्तित हुए । बाद में क्रोध के कारण वह वहां पहुंचे और सती का शरीर उठा कर ताण्डव करने लग गए । पृथ्वी पर कंपकपी मच गई । सभी देवतागण भगवान विष्णु के पास गए और इसके समाधान के लिए निवेदन किया । तब विष्णु भगवान जी ने सती के शरीर के टुकड़े किए और जो भी अंग जहांगिरा वहां उसी नाम से शक्तियां उत्पन्न

हुई। लोग मानते हैं कि इस धार पर सति के नैन गिरे थे जिससे वहां नैना देवी प्रकट हुई और तत्कालीन महात्माओं और लोगों ने इस देवी की स्थापना की।

दूसरी कथा जो मन्दिर निर्माण के सन्दर्भ में कही जाती है उसके अनुसार श्री नैना देवी मन्दिर का निर्माण राजा वीर चन्द ने आठवीं सदी विक्रमी में अपने शासनकाल में करवाया था। कहा जाता है कि जहां मन्दिर बना है वहां धार पर एक ग्वाला पशु चुगाया करता था। अन्य स्थानो की तरह उसकी एक दुधारु गाय वहां एक जगह खड़ी होकर स्वत: ही थनों से दूध गिराया करती। शाम को उस ग्वाले को इसलिए डांट पड़ती कि वह रोज गाय को बछड़े से मिला दिया करता है।

एक दिन ग्वाले ने इस बात का पता लगा लिया और उसी तरह लोगों को बताया। दूसरे दिन लोगों ने अपनी आंख से वह दृश्य देखा। उन्होंने वहां खुदाई की तो एक गोल पत्थर वहां विद्यमान था जिसमें आंख की आकृति बनी थी। एक अन्य मान्यतानुसार यह कहा जाता है कि इसके बाद बिलासपुर के राजा वीर चन्द को इस घटना से अवगत करवाया गया तो वे खुद यहां आए और देखा कि खुदाई के समय एक प्रतिमा वहां निकली है। क्योंकि जिस ग्वाले ने राजा को इस घटना के बारे में बताया था उसका नाम नैनदेव था, इसलिए उसी की याद में इसे नैना देवी कहा गया। लेकिन इस घटना का विशेष औचित्य इसलिए नहीं लगता कि एक ग्वाले के नाम से देवी का नामकरण तर्क संगत नहीं लगता। वहां प्राप्त पत्थर की पिण्डी में नैन का चिन्ह नाम-करण का प्रतीक माना जा सकता है और अधिक लोगों का विश्वास है कि उसी से देवी का नामकरण हुआ है।

कुछ भी हो लेकिन यह बात प्रमाणिक लगती है कि इस मन्दिर का निर्माण राजा बीर चन्द के शासन काल में ही हुआ है।

गुरु गोविन्द सिंह जी के सन्दर्भ में एक घटना प्रसिद्ध है। बताया जाता हैं कि उन्होंने नैना देवी धार पर ब्राह्मणों द्वारा एक यज्ञ विजय की दृष्टि से सम्वत् 1756 विक्रमी में करवाया था। मुगल शासकों को यहां से भगाने के लिए उन्होंने आनन्दपुर साहिब को मुख्यालय के तौर पर चुना था। इसलिए सर्व प्रधान उन्होंने इस धार पर यज्ञ द्वारा मां चण्डी का आह्वान किया। यह इसलिए था कि वे देवी के आशीर्वाद से मुगलों से लोहा ले सकें। बताया जाता है कि यज्ञ समाप्ती पर देवी ने खुद उन्हें प्रकट होकर आशीर्वाद दिया और उसी प्रेरणा और शक्ति के साथ गुरु गोविन्द सिंह जी ने मुगलों से युद्ध किया था। यही कारण है कि वह स्थान हिन्दुओं के साथ सिक्खों के लिए भी श्रद्धा केन्द्र है। पंजाब की सीमा पर होने के कारण पंजाब से यहां हजारों श्रद्धालु दर्शन हेतु आते रहते हैं।

लोग इस मन्दिर में मनौतियां करते हैं और अपनी इच्छा पूरी होने पर पुन: मनौतियों को चढ़ाने यहां आते हैं। अधिक भीड़ श्री नैना देवी मेले के दौरान रहती है। यह मेला श्रावण के महीने में होता है। इसमें लाखों लोग आते हैं। लोग टोलियों में अपने हाथ में झण्डे, तथा अन्य पूजा सामग्री लिए भी आते हैं। अधिकतर श्रद्धालु देवी

के लिए बलि में नारियल चढ़ाते हैं। लोग बताते हैं कि पहले यहां भैंसे की बलि भी दिया करते थे। इस भैंसे को जीवित धार से नीचे धकेला जाता था लेकिन अब यह प्रथा बन्द हो गई है। बकरों की बलि के लिए अब भी दिया जाता है। लोग इच्छा-नुसार धन, चांदी और सोना यहां चढ़ाते हैं।

लोग श्री नैना देवी की शक्ति के बारे में कई विचित्र बातें बताते हैं। दो बातें यहां आम घटती आई है। कई बार लोगों की उंगलियों और अंगूठे पर स्वतः ही ज्योतियां चमकने लगती हैं। ऐसी ही ज्योतियां यहां पीपल, झण्डों इत्यादि पर भी प्रकट हो जाती है। आश्चर्य की बात है कि इन पर प्रकट ज्योतियों में आग जैसी आँच कतई नहीं होती। दूसरी बात यह हैं कि मन्दिर में जो हवन कुण्ड है उसमें भले ही हजारों टन हवन सामग्री या लकड़ी क्यों न जल जाए लेकिन उसकी राख बढ़ती नहीं है।

मारकण्डेय मन्दिर

मारकण्डे नाम से प्रख्यात यह तीर्थ स्थान बिलासपुर से जुखाला जाती सड़क के रास्ते पर जुखाला से लगभग तीन किलोमीटर और बिलासपुर से 20 किलोमीटर दूर माकड़ी गांव में स्थित है। यहां मारकण्डेय मन्दिर के अतिरिक्त ठाकुरद्वारा भी हैं। मन्दिर के लिए ब्रह्मपुखर से भी जाया जा सकता है। मन्दिर के साथ स्नान करने के लिए शीतल जल के झरने हैं जिसमें प्रत्येक श्रद्धालु स्नान करके धन्य समझता है। मन्दिर के ऊपर व्यास गुफा है। यह स्थान काफी दिनों तक बिना देख रेख के रहा लेकिन राजा जगत चन्द जिसने बिलासपुर पर सन् 1839 से 1857 तक शासन किया, इस स्थल का उद्धार किया। इसी दौरान भजन दास नामक एक भक्त आया और उसने राजा और जनता के सहयोग से मन्दिरों का निर्माण किया। इस स्थान को ऋषि मारकण्डेय का जन्म स्थान भी माना गया है।

माकड़ी गांव के लोगों में एक कथा प्रचलित है। उनका कहना है कि कई सौ साल पहले यहां पशु चुगाने वाले ग्वालुओं ने देखा कि इस स्थान में स्थित गुफा के भीतर रोज उनकी एक गाय जाती है और कुछ समय के बाद बाहर निकल जाती थी। एक दिन उनमें से एक ग्वालू ने गाय का पीछा किया और गुफा में घुस गया। काफी आगे जाकर उसने देखा कि एक साधु हवन कर रहा है और तपस्या में मग्न हैं। वह आश्चर्य चकित रह गया। सन्त ने उसे देखकर उसके आने का कारण पूछा तो उसने अपनी गरीबी का व्याख्यान कर दिया। इस पर सन्त ने उसे एक चावल की मुट्ठी दी। ग्वाला उसे लेकर बाहर आ गया लेकिन उसने सोचा कि इतने चावलों से उसकी गरीबी भला कैसे दूर होगी और उसने उनका अनादर करके उन्हें फेंक दिया। लेकिन कुछ दाने उसके परने में फसे रहे। जब वह बाहर निकला तो उसने देखा कि वे दाने सोने में तपदील हो गए हैं। वह तत्काल मुड़ा और गिरे हुए दानों को टटोलने आगे चला गया लेकिन उसी समय गुफा बन्द हो गई और वह आगे नहीं जा सका। निराश होकर वह वापिस चला आया और लोगों को इस चमत्कार का व्याख्यान सुनाया।

यह भी अवधारणा है कि यहां मारकण्डेय के पिता तपस्या किया करते थे जिन्होंने प्रसन्न करके भगवान ब्रह्मा से पुत्र मांगा था और मारकण्डेय का जन्म उस समय यहीं हुआ।

इन मन्दिरों में पत्थर की प्रतिमाएं स्थापित हैं। मारकण्डेय मन्दिर के साथ भगवान रामचन्द्र व भगवान शिव के मन्दिर भी है।

इसके अतिरिक्त भी इस क्षेत्र में कई मन्दिर हैं। ये मन्दिर विभिन्न देवी देवताओं के लिए समर्पित हैं। इसे एक प्रसिद्ध तीर्थ माना गया है।

इस तीर्थ के समय एक पौराणिक कथा भी जुड़ी है।

कथा के अनुसार यह स्थान ऋषि मारकण्डेय का जन्म स्थान माना जाता है। कहा जाता है कि बहुत समय पूर्व यहां एक साधु रहता था जिसके कोई भी सन्तान न थी। सन्तान की इच्छा को पूर्ण करने की दृष्टि से साधु ने भगवान विष्णु की घोर तपस्या की थी जिस पर भगवान ने केवल 12 सालों के लिए ही साधु को पुत्र देने का वचन दिया था। कुछ दिनों के बाद ही साधु के एक लड़का हो गया जिसका नाम उसने मारकण्डेय रख दिया। पुत्र की प्राप्ती पर एक ओर जहां साधु को अत्यन्त प्रसन्नता हुई वहां फिर यह सोचकर वह उदास रहने लगा कि उसे केवल 12 सालों की अवधि तक ही यह पुत्र रत्न प्राप्त है। पुत्र जैसे-जैसे बड़ा होता गया उसके माता-पिता ने उससे मोह कम कर लिया जिससे उसे गहरी चोट लगी। परन्तु अपने प्रति लगाव को कम होते देखकर उसने अपने माता-पिता से वास्तविकता जान ही ली। इस पर कुछ देर के लिए तो वह चिन्तित हुआ परन्तु उसने धैर्य से काम लिया। लड़के ने साधु का रूप धारण करके मन्दिर में भगवान शिव की उपासना शुरू कर दी।

12 वर्ष की अवधि जैसे ही पूरी हुई तो धर्मराज ने अपने दूतों को उस बालक के लिए भेज दिया। परन्तु जब वे दूत उक्त स्थान पर आए तो मारकण्डेय तपस्या में मग्न था जिससे वह लोग उसको मार न सके और उन्हें उल्टे पांव वापिस लौटना पड़ा। धर्मराज को इस पर बहुत क्रोध आ गया और वह खुद ही मारकण्डेय के पास उसकी जान लेने चले आए। परन्तु जैसे ही वह वहां पहुंचे और बालक की जान लेने लगे तभी भगवान शिव स्वयं प्रकट हो गए और धर्मराज को कहा कि बालक को जो 12 वर्ष दिए गए हैं वे कम महत्व के नहीं है। ये वर्ष धर्म के माने गए हैं। इस पर धर्मराज को वापिस जाना पड़ा और मारकण्डेय सदा के लिए अमर हो गया।

उसके बाद मारकण्डेय ने भगवान विष्णु की घोर तपस्या की। भगवान ने प्रसन्न होकर यह वरदान दे दिया कि जब तक सृष्टि है, लोग ऋषि मारकण्डेय की स्तुति किया करेंगे।

ऋषि मारकण्डेय की घोर तपस्या से यह स्थान भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो गया। बैशाखी के दिन यहां स्नान करने का बहुत ही महत्व है।

इस स्थान पर चार पानी के स्रोत हैं। लोगों का विश्वास है कि इन सभी में बारी-बारी स्नान करने का बहुत ही धार्मिक महत्व है। जिनके कोई सन्तान नहीं

होती, यदि सुबह तड़के इन सभी स्रोतों में पति-पत्नी एक साथ स्नान करें तो उनके सन्तान हो जाती है।

इस स्थान पर शिवजी के मन्दिर के साथ जो पानी का स्रोत है उसमें नन्हें बच्चों को स्नान करवाने का भी विशेष महत्व माना जाता है। दूर-दराज के क्षेत्रों से औरतें अपने बच्चों को इस पानी में डुबकियां लगाती है। यहां औरतों और पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थान नहाने के लिए बनाए गए हैं। यहां प्रतिवर्ष एक विशाल मेला भी लगता है।

मेले के दौरान बंदला धार जैसे दुल्हन के रूप में सज जाती है। विभिन्न वस्तुओं को लिए एक तरफ जहां दुकानदार लम्बी कतारों में दुकाने सजाए होते हैं वहां युवा लड़के और लड़कियां चारों तरफ स्थानीय प्रेम भरे लोक गीत गाते देखे जा सकते हैं। इस मेले में हिमाचल से ही नहीं अपितु दूसरे राज्यों से भी लोग स्नान के लिए आते हैं।

नारसिंह मन्दिर

जिला बिलासपुर नारसिंह देवता के अनेक मन्दिर और स्थान हैं। इस देवता को "बजिया" से भी पुकारते हैं। लोगों का विश्वास है कि नारसिंह बजिया जहां सभी दुखों का निवारण करता है वहां जिस घर में लड़का न हो, यदि वह परिवार नियमित मन से इस देवता की पूजा करता है तो उसके घर में देव कृपा से पुत्र प्राप्ती की सम्भावनाएं पैदा हो जाती है।

बिलासपुर बाजार से कुछ पीछे स्थित लेकवियू केफे के नीचे की ओर सतलुज नदी (गोविन्द सागर) के तट पर नारसिंह बजिए का मन्दिर स्थित है। इसमें नारसिंह देवता के स्मृति चिन्ह, पादुकाएं, जिनमें कुछ चांदी की है और कुछ लकड़ी की, अवलोकनीय है। लोग मन्दिर में पादुकाएं और झण्डे अर्पित करते रहते हैं। प्रतिदिन यहां लोगों की भीड़ लगी रहती है। शायद ही ऐसा कोई मंगलवार होगा जब इस मन्दिर में बकरे की बलि न होती हो। मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध में कुछ कहना मुश्किल है परन्तु लोगों का कहना है कि किसी राजा ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया था और यह देवता उस समय रानी के साथ "कुल देव" के रूप में लाया गया था।

आम धारणा है कि यदि घर में माता या सास इस देवता को पूजती है तो उस घर में ब्याही गई बहू को भी यह देवता पूजना पड़ता है वैसे तो नियमित घर और मन्दिर में देवता की पूजा होती है लेकिन नई फसल आने पर प्रत्येक छः मास बाद इस देवता की खेल घर में दी जाती है। इसके लिए सम्बन्धित देवता के चेले को आमन्त्रित करके घड़ा जमाया जाता है और विधिपूर्वक देवता की गाथा डमरू बजाकर चेले द्वारा गाई जाती है। सम्बन्धित घर में जो स्त्री इस देवता को पूजती है, देवता उसमें प्रवेश होता है और अपनी प्रसन्नता या अप्रसन्नता की बात कहता है। घर के अन्य लोग इस वक्त देवता से अन्य बातें भी पूछते हैं। दूसरे दिन सुबह घड़ा उठा लिया जाता है। कहीं पर कई अन्य विधियों से भी इस देवता को पूजा जाता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमुख मन्दिर सदर तहसील में घोलरा नारसिंह मन्दिर, भाखड़ा नारसिंह मन्दिर, घुमारवीं तहसील के गांव भण्डुता और धुमारवीं में स्थित हैं ।

बडौल देवी मन्दिर

बिलासपुर शहर के पश्चिमी छोर पर समुद्रतल से 950 मीटर ऊंचाई पर स्थित शिवालिक की पहाड़ी पर श्री बडौल देवी का मन्दिर स्थित है। इस देवी के यहां प्रकट होने के साथ एक प्राचीन कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि जहां वर्तमान में यह मन्दिर स्थित है वहां बांस का बीहड़ जंगल हुआ करता था। इस जंगल में पास के गांव के ग्वाले पशु चुगाने आया करते थे। इनमें से एक ग्वाले की एक दुधारू गाए प्रतिदिन गुम हो जाया करती और जब पशुओं को ले जाने का समय होता तो वह गाए स्वतः ही आ जाया करती। एक दिन जब ग्वालुओं ने उस गाय का पीछा किया तो देखा कि वह गाए एक बांस के झुण्ड के पीछे खड़ी होकर किसी चीज पर अपने थनों से दूध की धारा प्रवाहित कर रही थी। इस दृश्य को देखकर वे ग्वाले अचम्भित हो गए। जब गाय वहा से चल पड़ी तो उन्होंने उस जगह को देखा। जहां उस गाय ने दूध की धार गिराई थी वहां एक ग्वाले ने खुदाई प्रारम्भ कर दी। कुछ क्षण बाद उसकी कुदाली किसी चीज से टकरा गई और उससे खून की धार बहने लगी। इस पर वे और भी हैरान हो गए। यह धार एक मूर्ति से निकल रही थी जो भूमि में दबी थी। इस दृश्य को देखकर ग्वालू अपने गांव आए और अन्य लोगों को यह घटना सुनाई। सुनकर गांव के लोग एकत्रित होकर इस स्थान पर पहुंच गए। जब उन्होंने इस मूर्ति को देखा तो वे समझ गए कि यह किसी देवी की है। उन्होंने एक पालकी का प्रबन्ध कर लिया और उस स्थान से मूर्ति को उखाड़कर पालकी में रख दिया। वे लोग उसे गांव लाना चाहते थे लेकिन जब लोगों ने पालकी को उठाया तो उनकी आंखों की रोशनी चली गई और आगे रास्ता दिखना बन्द हो गया। इस पर लोगों ने उसी स्थान पर उस मूर्ति को रख दिया। हार कर वे अपने गांव लौट आए।

कहा जाता है कि इसी रात्री राजा बिलासपुर को स्वप्न हुआ। मां ने राजा को अपने दर्शन दिए तथा कहा कि वह बडौल में प्रकट हुई है और वहां उसका मन्दिर बनाया जाए। देवी प्रेरणा से सुबह राजा अपने मन्त्रियों के साथ जब इस स्थान पर पहुंचा तो लोगों ने आंखों देखी घटना राजा को सुना दी। देवी की प्रतिमा देख कर नतमस्तक हो गया और वहां एक मंदिर बनाकर उस प्रतिमा को स्थापित कर दिया। इस मन्दिर के साथ दूसरा भी एक मन्दिर है। मन्दिर प्रबन्ध के लिए एक प्रबन्धक समिति है जो मन्दिर की देखरेख करती है। वर्ष में सैर के दिन यहां मेला लगता है। नवरात्रों में भी यहां सैंकड़ों लोग माता के दर्शन हेतु आते हैं।

इसे बडौल धार के नाम से भी जाना जाता है। मन्दिर के समक्ष एक ओर मां नैना देवी का मन्दिर स्थित है तथा बंदलाधार के पीछे की ओर प्रसिद्ध मारकण्डेय

तीर्थ है। यहां से चारों ओर का दृश्य अति रमणीक है।

हरिदेवी मन्दिर

घुमारवीं से कुछ ही दूरी पर स्थित छोटे से गांव लहरी सरेल की ऊंची चोटि पर हरिदेवी मन्दिर स्थित है। भराड़ी-हमीरपुर सड़क पर बसे भराड़ी गांव से यह मन्दिर लगभग 6 किलोमीटर दूर है।

बहुत सालों पहले देवी की मूर्ति पशुओं को चुगाने वाले ग्वालुओं को जंगल में मिली थी और श्रद्धापूर्वक उसे अपने गांव लाए थे। ग्रामीण लोगों का कहना है कि जब इस मूर्ति को यहां लाया गया तो उन्होंने अपने में से ही एक बच्चे का सर काटकर उसे चढ़ा दिया लेकिन शीघ्र ही वह सर जुड़ गया और वह बच्चा जीवित हो उठा। इस पर लोगों ने इसे देवी के नाम से मान्यता दी और इस चमत्कार से प्रभावित होकर नियमित वहां पूजा करने लगे। लोगों का कहना है कि तत्कालीन महाराजा बिलासपुर की देई एक बार ज्वालामुखी पुत्र प्राप्ति के लिए माँ का आशीर्वाद प्राप्त करने जा रही थी तो उसे इस देवी की याद दिलवाई गई। देई इस मन्दिर में गई और प्रार्थना की। उसने यहां मनौती मानी कि यदि उसे एक वर्ष में पुत्र रत्न मिल जाए तो वह माता का इस धार पर मन्दिर बनवायेगी। एक वर्ष में उसके पुत्र हुआ जिसका नाम हरिचन्द रखा गया था। क्योंकि देवी ने देई को पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया था इसलिए उसने अपने पुत्र के नाम पर ही देवी का नाम "हरिदेवी" रख दिया और वहां देवी का सुन्दर मन्दिर निर्मित किया। यह मन्दिर लगभग 550 वर्ष पुराना बताया जाता है। लेकिन नामकरण की घटना लगभग 350 वर्ष पुरानी है। इससे देवी की शक्ति चारों ओर फैल गई और दूर-दूर से लोग यहां आने लगे। स्थानीय लोगों ने राजाओं के सहयोग से यहां प्रति वर्ष एक मेले का भी आयोजन शुरू कर दिया। यह मेला मई के महीने में लगता है।

झण्डा मन्दिर भलवाड़

बिलासपुर—जुखाला सड़क पर स्थित गांव भलवाड़ में झण्डा सरदार का प्रमुख ऐतिहासिक मन्दिर स्थित है। बिलासपुर से यह स्थान लगभग 22 किमी० की दूरी पर है। यह परगना भादरपुर में पड़ता है। मन्दिर के लिए बिलासपुर से बस या अन्य गाड़ी द्वारा सफर किया जा सकता है।

मन्दिर में सरदार की प्रतिमा विद्यमान है जो पत्थर की है। मन्दिर के साथ एक-दूसरा छोटा मन्दिर भी है जहां किसी वीर पुरुष की मूर्ति स्थापित है।

झण्डा सरदार की कथा आप बिलासपुर के निवासियों से कहीं भी सुन सकते हैं। पहले बिलासपुर को कहलूर रियासत के रूप में जाना जाता था। इस रियासत का प्रबन्ध उस समय पांच निर्वाचित पंचों के हाथों में था। ये पंच जगह-जगह आवश्यकतानुसार पंचायतों का आयोजन किया करते थे। इन पंचों का मुखिया झण्डा नामक व्यक्ति

होता था जो धार्मिक पुरुष के साथ वीर भी होता था। इस दौरान रियासत पर कई बाहरी राजाओं की नजरें थीं और वे समय देख कर इस रियासत को हथियाने के लिए चढ़ाई करते रहते थे। लेकिन जब भी कभी ऐसा होता तो झण्डा सरदार और अन्य पंचों की सेना उन्हें पीछे धकेल देती और उन्हें मुंह की खानी पड़ती। इस तरह जब बाहरी ताकतों का जोर न चल सका तो चन्देल वंश के एक राजा ने कहलूर में एक व्यक्ति से दोस्ती कर ली। इस राजा ने झांसा दिया कि यदि वह कहलूर रियासत को अपने कब्जे में कर लेता है तो वह उसे यहां का सरदार नियुक्त कर देगा। यह व्यक्ति कथलू गुज्जर के नाम से प्रसिद्ध था और पंचों का विश्वसनीय भी था। लेकिन लालच वश इस किले में जाकर, जहां पंच अपने शस्त्र इत्यादि रखते थे, उन्हें हर तरह से बेकार कर दिया ताकि जब आक्रमण हो तो वे उनका उपयोग न कर पाएं। उसकी चाल का पंचों को पता नहीं लगा। ऐसा करने पर उसने पंचों को सूचना दी कि कहलूर पर आक्रमण हो गया है। पंचों ने जब जाकर देखा तो अपने हथियारों को बेकार पाया। बारूद में तेल मिला था तलवारों की धारें रगड़ कर खराब कर दी गई थी। झण्डा सरदार ने उसकी चाल समझ ली और तत्काल उसे मार दिया। लेकिन आक्रमण में वह घायल हो गया। उसने अपने साथियों से कहा कि वह यहां नहीं मरना चाहता, उसे अपने गांव ले चलें। उसके साथियों ने ऐसा ही किया और उसे वहां से उठाकर ले आए। लेकिन वह बीच रास्ते में ही वीरगति को प्राप्त हो गया। मरने से पूर्व उसने यह इच्छा जाहिर की थी कि यदि वह मर गया तो उसे फिर भी अपने सिंहासन तक अवश्य ले जाएं, और उन्होंने वैसा ही किया। तभी इस मन्दिर का निर्माण झण्डा सरदार की स्मृति में किया गया जो आज भी उस वीर पुरुष की याद ताजा कराता है। इसके बाद लोगों ने उसे देवता के रूप में पूजना प्रारम्भ किया। इस स्मृति में प्रति वर्ष लोग यहां एक मेला भी आयोजित करते हैं। यह मेला आषाढ़ मास के मध्य मनाया जाता है।

इतिहास के अनुसार चन्देल वंश के राजाओं ने नौवीं शताब्दी के आसपास इस रियासत को अपने कब्जे में लिया था और अनुमान लगाया जा सकता है कि उतना ही पुराना यह मन्दिर भी होगा।

गुग्गा भटेड़ मन्दिर

भटेड़ मन्दिर बरमाणा के साथ सतलुज नदी के किनारे बिलासपुर से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर है। मन्दिर शिमला-मण्डी सड़क के बिल्कुल साथ है। मन्दिर बहुत पुराना है जिसके निर्माण के सम्बन्ध में कुछ कहना असम्भव है। लोगों के अनुसार यह मन्दिर पांच सौ सालों से भी अधिक अवधि का बना है, मन्दिर के भीतर गुग्गा के चिह्न बने हैं। इस मन्दिर निर्माण की लोगों में एक रोचक कथा प्रचलित है, उनके अनुसार बहुत पहले भटेड़ गांव में दो भाई साथ रहा करते थे। एक दिन बड़ा भाई साधुओं की गायक मण्डली के साथ मरूभूमि की ओर चला गया और वहां से उपजाऊ भूमि की मिट्टी ले आया। उस भूमि को गांव के एक ओर रखा गया और उसने

गुग्गा का मन्दिर वहां निर्मित कर दिया ।

लेकिन इस कथा से मन्दिर के निर्माण काल का न तो पता चलता है और न ही यह मालूम होता है कि उसने वह भूमि "मिट्टी" किस लिए लाई थी । फिर भी मन्दिर प्राचीन समय से लोगों की आस्था का केन्द्र रहा है और वर्ष भर लोग यहां आते-जाते रहते हैं । भादों का महीना गुग्गा नौमी के लिए महत्वपूर्ण माना गया है । इसलिए इस महीने में गुग्गा नौमी से एकादशी तक गुग्गा का मेला भी लगता है जिसमें हजारों लोग आते हैं । गांव के लोग टोलियों में गुग्गे का निशान उठाकर गीत गाते रहते हैं, जिसमें गुग्गे की कथा सुनाई जाती है । इस देवता को इसलिए भी अधिक माना जाता है क्योंकि देवता सांप के काटने का इलाज भी करता है । यहां जिस व्यक्ति को सांप काट दे उसे उठाकर इस मन्दिर में लाया जाता है और लोगों की आस्था है कि वह व्यक्ति ठीक हो जाता है । यदि किसी के लड़का नहीं हुआ हो तो लोग इस मन्दिर में मनौतियां करते हैं ।

गुग्गा मन्दिर गेड़वीं

गेड़वीं का गुग्गा मन्दिर बिलासपुर में बहुत प्रसिद्ध है । यह मन्दिर बिलासपुर से लगभग 30 किलोमीटर की दूरी पर है । यह दूरी बिलासपुर से वाया पगेड़-समोह सड़क के रास्ते से है, और बस द्वारा यहां पहुंचा जा सकता है । लोग इस मन्दिर में गोविन्दसागर झील को बेड़ी घाट (बिलासपुर) से कश्ती द्वारा पार करके गांव की पगडंडियों के रास्ते से भी जाते हैं । इस रास्ते से खड़ी चढ़ाई मन्दिर तक लगती है जो लगभग 6 किलोमीटर है । समोह गांव से यह मन्दिर तीन किलोमीटर रह जाता है । गेड़वीं को लोग गुग्गे का गांव भी कहते हैं । गांव में मन्दिर एक पहाड़ी पर स्थित है । यहां से गोविन्दसागर झील का दृश्य अति आकर्षक लगता है । मन्दिर के प्रांगण में गेट बना है तथा उसके भीतर शेर की आकृति देखी जा सकती है । गुग्गा के अतिरिक्त मन्दिर में गणेश तथा अन्य देवताओं की मूर्तियां भी हैं । गुग्गा को एक घोड़े पर बैठे दर्शाया गया है । मन्दिर के साथ ही भगवान हनुमान जी, नाग देवता, गुरु गोरखनाथ जी की प्रतिमाएं भी देखी जा सकती हैं । रक्षा बन्धन को जब लोग एक महीने उपरान्त रखड़ियां उतारते हैं तो सभी इसी मन्दिर में जाकर विधिपूर्वक उतारते हैं । तथा देवता को श्रद्धानुसार नई फसल पर अनाज तथा अन्य वस्तुएं चढ़ाते हैं ।

इस मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कोई प्रमाण नहीं है केवल एक दो किवदन्तियां हैं जिन्हें आप बजुर्गवार से गांव में सुन सकते हैं । कहा जाता है कि बहुत सालों पहले इस गांव से एक आदमी कहीं दूर देश में चला गया था जहां गुग्गा महाराज का मन्दिर स्थित था । वह व्यक्ति जब वापिस गांव लौटा तो अपने साथ मन्दिर से अपने परने में कुछ मिट्टी ले आया । इसे उसने पहले चमलेओ गांव में रखा लेकिन वहां से वह अपने गांव ले आया । कहा जाता है कि उस मिट्टी में गुग्गा

महाराज आए थे और चमलेओं में देवताओं ने वास करने से मना कर दिया। जहां अब इसे रखा गया बाद में वहां एक मन्दिर बनाया गया और उसमें देवता की स्मृति के रूप में उस मिट्टी को रखा गया। उसके बाद श्रद्धालुओं द्वारा समय-समय पर तरह-तरह के चिह्न यानि मूर्तियां मन्दिर परिसर में चढ़ाई जाती रहीं। इनमें से अधिकांश पत्थर की थीं जो आज भी वहां देखी जा सकती हैं, कुछ लोगों का मानना है कि यह मिट्टी राजस्थान में स्थित गुग्गा के मन्दिर से यहां लाई गई थी।

गुग्गा गाथा में इस देवता के जन्म की कथा मिलती है। उसके अनुसार यह माना जाता है कि राजस्थान के किसी राजा की दो रानियां काछल और बाछल थीं। इन दोनों के पुत्र नहीं थे। वे सदैव चिन्तित रहती थीं। वहां गुरु गोरखनाथ की कुटियां थी और सन्तान प्राप्ति की अभिलाषा से बाछल कुटियां में गुरु की सेवा नियमित किया करती थी। एक दिन गुरू ने प्रसन्न होकर उसे पुत्र का वरदान दे दिया। यह वरदान गुरू ने केले के फल के रूप में देना था जिसके लिए बाछल को दूसरे दिन आमन्त्रित किया गया। लेकिन किसी तरह उसकी दूसरी बहिन काछल को इस कहानी का पता चल गया और बाछल की तरह रूप बनाकर वह दूसरे दिन गुरू के चरणों में चली गई, गुरू ने उसे बाछल ही समझा। उसने केला वरदान के रूप में लिया और खा लिया। बाछल को भी पता चल गया कि उसकी बहिन ने उससे धोखा किया है और गुरू से उससे पहले ही धोखे में वह अमृत फल (केला) खा लिया है। गुरू ने उसे भी एक केला दिया लेकिन उसने आधा खुद खाया और आधा अपने घोड़े को दे दिया।

इस तरह काछल के कुछ महीनों बाद पुत्री पैदा हो गई और बाछल के पुत्र। पुत्री का नाम गुगरी रखा गया और पुत्र का गुग्गा। गुग्गा बचपन से ही घोड़े पर सवारी किया करता था। एक दिन उसने किसी दूसरे देश में एक सुन्दर कन्या की बात सुनी और वह तत्काल वहां चला गया तथा उस कन्या से विवाह का प्रस्ताव रखा। वास्तव में पिता नहीं चाहता था कि उस लड़की से विवाह हो। लेकिन गुरू गोरखनाथ के प्रयासों से लड़की का पिता राजी हो गया। लड़की का नाम सुरहिल बताया जाता है और उसके पिता का राजा सांभी।

यह भी बताया जाता है कि बाछल के ही गुग्गा पैदा हुआ था क्योंकि गुरू गोरखनाथ को यह पता चल गया था कि उसके साथ उसकी बहिन ने धोखा किया है इसलिए गुरू ने यह शाप दिया था कि काछल के जो पुत्र पैदा होंगे वे बाछल के पुत्र के आगे कुछ भी नहीं होंगे। इसलिए जब गुग्गा बड़ा हुआ तो उसके दोनों भाइयों ने उस देश का आधा राज्य उससे मांगा लेकिन उसने देने से मना कर दिया। इस पर उनका आपस में युद्ध भी हुआ। गुग्गा ने उन दोनों को मार दिया। लेकिन उसकी मां को यह अच्छा नहीं लगा और उसे आदेश दिया कि वह भी इन दोनों भाईयों के साथ मर जाए। गुग्गे ने मां का आदेश मान लिया लेकिन गुरु गोरखनाथ ने ऐसा नहीं करने दिया क्योंकि उसकी रानी सुरहिल का सुहाग उजड़ रहा था। इस पर वह सुरहिल के पास जाने लगा तो उसकी माता को पता चल गया और उसने रोक लिया। लेकिन उसने

माता को कहा कि वह चोरी-छिपे नहीं रह सकता। इसलिए वह दूसरे दिन सारे शहर की जनता को एकत्रित करे जिनके मध्य से वह घोड़े पर चुपचाप निकल जायेगा लेकिन गुग्गा ने शर्त रखी कि जनता शोर न मचाए। उसकी मां मान गई और दूसरे दिन जैसे ही गुग्गा राजधानी के मैदान से घोड़े पर सवार होकर जाने लगा तो जनता ने शोर मचा दिया और गुग्गा उसी समय पत्थर की शिला बन गया। बाद में लोगों ने उसे देवता के रूप में स्वीकार किया और वहां उसके मन्दिर की स्थापना की। यह स्थान राजस्थान में आज भी है जहां पत्थर पर गुग्गे की प्रतिमा स्थित है।—और हो सकता है गेड़वीं में यह देवता यहीं से आया हो।

हिमाचल के कई जिलों में गुग्गा की पूजा होती है, और भादों के महीने में जब मक्की की फसल अपने पूरे यौवन में होती है तो गुग्गा की गाथा गाने वाली मण्डली अपने डमरूओं के साथ गांव-गांव जाकर गाथा सुनाती है। मण्डली के पास लोहे का त्रिशूल होता है जिसमें गुग्गा की आकृति, झण्डे, लाल कपड़े इत्यादि सजाए होते हैं। गुग्गा का भक्त साथ रहता हैं।

गेड़वीं मन्दिर में इस दौरान विशाल मेला लगता है जहां रात्रि को मण्डलियां गाथाएं गाती रहती हैं। गुग्गा गाथा के कुछ बोल इस प्रकार है—

हुक्म जे होंदा पजं पण्डवा दा, तुसे बी लड़ाईयां जो आवणा,
दम दम गुग्गा मण्डली, दम दम कानों स्थान।
जिथे गुग्गा जमेया, उत्थे रखना थान।
राती सुरहिल अपणे महलें जे बैठी, परल परल करे परलाप,
रात का समे पक्का धराता, कल्ली कोठिया ते कर दी बरलाप।

यह गाथा अपनी-अपनी स्थानीय भाषा में गाई जाती है। लेकिन गाथा पूरी तरह सुरक्षित नहीं लगती, इसमें लोगों ने मन पसन्द शब्द और वर्णन भी जोड़ दिए हैं।

गाथा के आधार पर यह भी लगता है कि गुग्गा जाहरपीर का जन्म महाभारत काल में हुआ।

गेड़वीं मन्दिर का निर्माण काल कुछ लोग 13वीं सदी के आसपास बताते है।

लक्ष्मीनारायण मन्दिर

लक्ष्मीनारायण मन्दिर बिलासपुर बस स्टेशन के बिल्कुल समक्ष स्थित विशाल मन्दिर है। मन्दिर का परिसर काफी फैलावदार है और लोगों ने इस मन्दिर को अब नया रूप दिया है। मन्दिर के भीतर लक्ष्मी-नारायण की मूर्तियां स्थापित की गई हैं। कुछ पत्थरों की प्राचीन मूर्तियां भी मन्दिर में हैं जो गोविन्दसागर झील निर्माण से डूब गए मन्दिरों से लाकर यहां स्थापित की गई हैं। इस मन्दिर में रोज लोग श्रद्धा-सुमन अर्पित करने आते हैं और नियमित कोई-न-कोई कीर्तन पार्टियां भजन में तल्लीन देखी जा सकती हैं।

नगर के अन्य प्राचीन मन्दिरों में शंभुकेश्वर मन्दिर, रंगनाथ, हनुमान मन्दिर प्रमुख हैं।

शंभुकेश्वर मन्दिर भगवान कार्तिकेय को समर्पित 7वीं शताब्दी में बना बताया जाता है। यह गुम्बदाकार है, जिसके बाहर मण्डप निर्मित है। शिखर पर कलश सुसज्जित है।

पुराने बिलासपुर कस्बे में रंगनाथ का मन्दिर 8वीं-9वीं शताब्दी का बना शिखराकार है। इस समय यह मन्दिर गोविन्दसागर झील के पानी में डूब चुका है, जिसका शिखर ही दिखाई देता है। इसके बचाव के लिए किसी ने भी कोई प्रयास नहीं किया है जिससे यह प्राचीन दस्तावेज नष्ट हो गया है। शिमला के संग्रहालय में कुछ प्रतिमाएं इस मन्दिर की सुरक्षित हैं।

17वीं शताब्दी के दौरान निर्मित हनुमान मन्दिर शिखराकार है, जिसके आगे मण्डप बना है।

गोविन्दसागर झील में कई अन्य पुरातन मन्दिर अपना जीवन समाप्त कर चुके हैं।

शिव मन्दिर, बछरेटू

हिमाचल प्रदेश में कई ऐसे स्थान हैं जहां के जल को लोग पवित्र गंगा जल मानते हैं। बिलासपुर जिले के गांव बछरेटू को भी इसी कारण आज प्रसिद्ध धार्मिक स्थान से अलंकृत किया जाता है। यहां प्राचीन शिव मन्दिर स्थित है जिसे भगवान शिव की तपस्या स्थली के कारण बनाया गया है। कालान्तर में भगवान शिव इस रमणीक और पावन स्थल में तपस्या किया करते थे। लोगों का कहना है कि बाबा बालक नाथ जब उनसे वरदान लेने यहां आए तो भगवान शिव ने उनकी तपस्या को पूर्ण नहीं माना। उन्होंने बाबा बालक नाथ को बताया कि शाहतलाई में रह रही बुढ़िया का कर्ज उनके ऊपर अभी बाकी है। बारह वर्ष तक उसके घर कार्य करने के उपरान्त ही वे दीक्षा के भागीदारी होंगे। बाबा बालक नाथ जी उसके बाद वहां गए थे।

बिलासपुर के राजा हीरा चन्द को भगवान शिवजी ने स्वप्न में दर्शन दिए थे और बछरेटू में मन्दिर बनाने की प्रेरणा भी। वह राजा भगवान का अनन्य भक्त था लेकिन उसके घर कोई सन्तान न थी। यह भी कहा जाता है कि राजा ने तत्काल यहां मन्दिर का निर्माण करवाया और उसके बाद राजा के घर पुत्र का जन्म हुआ। मन्दिर के भीतर और आस-पास कई रंगों के सांपों के दर्शन कभी-कभार होते हैं। पुजारी का कहना है कि जो लोग आस्था से यहां आते हैं उन्हें अवश्य उन सांपों के दर्शन होते हैं।

बछरेटू का किला भी अति प्राचीन है। इसलिए इस स्थान का ऐतिहासिक महत्व भी है।

यहां पर निर्मल जल निकल रहा है उस कारण इस स्थान का अधिक महत्व है। लोगों की मान्यता है कि यह जल गंगा का पवित्र जल है जिसे एक महात्मा यहां लाया था। एक कथा के अनुसार यह कहा जाता है कि इस गांव में पानी की भारी कमी होती

थी। लोगों के घर किसी पथिक को पिलाने योग्य जल भी नहीं मिलता था। एक दिन एक साधु यहां से घूमते हुए आया। उसे प्यास लगी तो एक घर में चला गया। वहां एक बुढ़िया बैठी थी। उस साधु ने पीने के लिए उससे पानी मांगा। बुढ़िया ने साधु को पानी दिया तो उसने उसके साथ हाथ-मुंह धो लिए और दोबारा फिर पानी लाने का निवेदन किया। इस पर बुढ़िया ने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। लेकिन साधु ने जिद की कि उसे प्यास लगी है। बुढ़िया को गुस्सा आ गया और उसने साधु को कहा कि यहां कोई गंगा नहीं बहती जो बार-बार जितना चाहे पानी दे दिया जाए। साधु ने भी बुढ़िया को कह दिया कि वह यहां गंगा ला सकता है। इस पर बुढ़िया ने उसे फिर खरी-खोटी सुना दी। साधु को काफी गुस्सा आया लेकिन उसने गांव की स्थिति का जायजा भी लिया कि लोग किस तरह पानी से वंचित हैं। बुढ़िया को दिए वचन द्वारा प्रतिबद्ध होते हुए वह हरिद्वार चला गया जहां उसने गंगा मैया से यहां निकलने के लिए निवेदन किया। वह महात्मा एक सिद्ध महात्मा था। गंगा मैया ने अपनी सहमति प्रकट कर दी। वह वापिस चला आया और सभी ग्रामवासियों और बुढ़िया को यह बता दिया कि वह गंगा मैया को ले आया है। लोगों ने उसका विश्वास नहीं किया लेकिन साधु ने यहां अपना चिमटा गाड़कर पानी की धार निकाल दी। लोगों को अब विश्वास हो गया कि वह साधु साधारण साधु नहीं है। इसके बाद दूर-दूर तक इस स्थान की मान्यता हो गई। इस जल को आज भी पवित्र गंगा जल मानते हैं और महत्वपूर्ण धार्मिक आयोजन में इस जल का गंगा जल के समान प्रयोग किया जाता है।

पंजाब से लोग नंगल और भाखड़ा से होते हुए यहां पहुंचते हैं। यही रास्ता बाबा बालक नाथ के लिए भी चला गया है। रास्ते में यह स्थान जहां प्रमुख पड़ाव है वहां लोग इस धार्मिक तीर्थ में भगवान शिव के दर्शन तथा गंगा मैया में स्नान भी करते हैं। लोग समझते हैं कि इस जल में स्नान से उनके सारे पाप कट जाते हैं। कुंवारी कन्याओं को भी इस पानी में स्नान करवाए जाते हैं। भाखड़ा बांध का मनोरम दृश्य यहां से मन को छू जाता है। यात्रियों को यहां बैठकर बेहद सकून मिलता है। मानों भाखड़ा की लहरें उनके शरीर की गर्मी को खत्म करने वहीं आ पहुंची हों। प्रति वर्ष बैसाखी को विशाल मेले का आयोजन किया जाता है। हजारों लोग यहां पधारते हैं। गरीब लोग जो हरिद्वार न जा सके यहां आकर उतना ही पुण्य प्राप्त करते हैं जितना गंगा में स्नान करने से प्राप्त होता है। यहां उनके मन को अजीब राहत मिलती है और बिना अधिक खर्च से यहां आकर गंगा स्नान कर जाते हैं। गंगा स्नान और भगवान शिव के दर्शन का महत्व दोनों मिलकर यहां आए ग्रामीणों के मन की शान्ति है।

सन्तोषी माता मन्दिर

यह मन्दिर धुमारवीं तहसील के लदरौर कस्बे में स्थित है। मन्दिर में मां सन्तोषी की मूर्ति स्थापित की गई है। मन्दिर स्थानीय लोगों ने आपस में धन एकत्रित करके बनाया है। यह स्थान बिलासपुर से लगभग 45 किलोमीटर की दूरी पर स्थित

है। मन्दिर में वैसे तो दर्शनार्थ लोग प्रतिदिन आते रहते हैं लेकिन विशेष दिन शुक्रवार का होता है जिस दिन लड़कियां और औरतें मां सन्तोषी माता का व्रत लेती हैं और शाम को मन्दिर में एकत्रित होकर मां की आरती गाती हैं और व्रत खोलती हैं। जो व्रत लेता है वह उस दिन खट्टी वस्तुएं नहीं खाता। इस मन्दिर के लिए सड़क के साथ से ही सीढ़ियां बनाई गई हैं जो मन्दिर के प्रांगण में खत्म हो जाती हैं। मन्दिर हजारों लोगों की श्रद्धा का केन्द्र है। माता सन्तोषी की कथा का शुक्रवार व्रत कथा में वर्णन मिलता है, और उसी आस्था को समर्पित होकर यहां के ग्राम निवासियों ने मन्दिर बनाया है।

7

शिमला

शिवालिक की पहाड़ियों में एक अंग्रेज अपने कुछ साथियों सहित ऐसी जगह की तलाश में घूम रहा था जहां व्यस्त थकी-हारी जिन्दगी से दूर कुछ लमहें प्रकृति के बिल्कुल करीब शान्तमय वातावरण में व्यतीत किए जा सकें। एकाएक उसकी निगाह पूर्व की ओर दौड़ी जहां उसने देखा कि एक पहाड़ी की ओट से रंगीन धुआं आसमान की ओर उड़ रहा हो। इससे पूर्व उसने ऐसा विचित्र परिदृश्य कभी नहीं देखा था। उसे लगा मानो वह धुआं एक मूक निमन्त्रण उधर आने के लिए दे रहा हो। उसने अपने घोड़े का मुख उस ओर किया और अपने साथियों सहित इस दिशा की ओर चल पड़ा। रास्ता विकट और बीहड़ जंगलों में से अत्यन्त कठिन था लेकिन उस रंगीन धुएं के आकर्षण के बीच एक ऐसी प्रेरणा भरी थी जो निरन्तर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही थी। एक लम्बी यात्रा के बाद जब वह अंग्रेज उस पहाड़ी पर पहुंचा तो यह देखकर हैरान रह गया कि एक साधु ध्यानमग्न देवदारू के मध्य बैठा है जिसके आगे धूना जल रहा है। जैसे ही घोड़े की पदचाप उस साधू के कानों में पड़ी उसने आंखें खोलीं जिसके साथ ही उसके चेहरे पर हल्की मुस्कान दौड़ पड़ी। तत्काल वह अंग्रेज घोड़े पर से नीचे उतरा और नम्रतापूर्वक उस साधु को प्रणाम किया। वह साधु उठ गया और अपना आशीर्वाद उसे दिया। उसने कहा :

"बेटा मैं तुम्हारा ही इन्तजार कर रहा था। अब समय आ गया है कि यह छोटा-सा गांव, जिसके मध्य तुम खड़े हो, कुछ अर्से बाद दुनिया में प्रसिद्ध होगा। मैं इस गांव को तुम्हें सौंपता हूं।"

— और यह कहने के तुरन्त बाद वह साधु देवदार के वृक्षों के बीच कहीं लुप्त हो गया। उस अंग्रेज ने उसका पीछा भी किया लेकिन वह उसे नहीं मिला। यह एक ऐसी घटना थी जिसने उस अंग्रेज के मन में एक अनुत्तरित प्रश्न छोड़ दिया।— और यहीं से प्रारम्भ हुई आज के शिमला की कहानी।

इसके बाद वह अंग्रेज अपने साथियों सहित इधर-उधर घूमता रहा और यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य ने उसे विवश कर दिया कि वह इन वादियों में बस जाए। उसे लगा कि यही वह स्थान है जिसकी वह अपने मन में कल्पना किया करता था और साथ ही

उसके साथी भी। वह जब इस पहाड़ी की ढलान में गया तो उसने देखा कि स्लेट की छतों वाले कुछ कच्चे मकान पेड़ों के बीच स्थित हैं। उसने पूछा तो लोगों ने बताया कि यह 'श्यामला' गांव है जो इस गांव की देवी 'श्यामला' के नाम पर बसा है। इसके बाद जब पहाड़ी की चोटि पर पहुंचा तो वहां एक छोटे से मन्दिर के बाहर देखा कि कई बन्दरों से घिरा एक साधू यात्रियों को पानी पिलाया करता है। एक पल उसे देखकर वह इसलिए चौंक गया कि हो न हो यह वही साधु हो, लेकिन दूसरे पल उसने यह मान लिया कि यह वह नहीं है। और यात्रियों की तरह उसने और उसके साथियों ने भी पानी पिया और मन्दिर के पास कई घण्टों चारों ओर के मनोहारी दृश्यों का आनन्द लेते रहे। उसके बाद वे लोग वापिस तो चले गए लेकिन उस 'श्यामला गांव' में बसने के लिए उनका मन लालायित हो गया और उस अंग्रेज ने विधिवत यहां बसने की योजना बना ली।

यह घटना सन् 1814 के आसपास की है और यह अंग्रेज और कोई नहीं बल्कि लै० रोज था जिसे ब्रिटिश सरकार पहले ही पहाड़ी क्षेत्र का अधीक्षक नियुक्त कर चुकी थी। यहां के इन पहाड़ी गांव पर गोरखों ने अपना अधिकार जमा रखा था, जिनका व्यवहार लोगों के साथ बहुत क्रूर रहा। अंग्रेजों ने गोरखों के साथ यहां जम कर युद्ध किया जिससे उनकी काफी शक्ति कमजोर हो गई और बाद में यहां के राजाओं को विश्वास में लेकर अंग्रेजों ने इस पहाड़ी क्षेत्र को पूर्णतया गोरखों के चुंगल से सन् 1815 तक मुक्त करा लिया था। प्रकृति का यह छोटा-सा और सुन्दर गांव 'श्यामला' उस समय महाराजा पटियाला और राजा क्योंथल के आधिपत्य में था। लै० रोज ने अपनी सरकार की सहायता से इन दोनों राजाओं से समझौता करके यह क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया और इसे एक सुन्दर 'हिल स्टेशन' के रूप में विकसित करने की योजना बना ली। यानि एक ऐसा सुन्दर और शान्तमय स्थान जहाँ ब्रिटिश सरकार के प्रमुख अधिकारी अपने अवकाश को यहां व्यतीत कर लिया करें। इसी दृष्टि से सन् 1822 में लै० रोज ने यहां की एक पहाड़ी पर छोटा सा सुन्दर भवन निर्मित किया। यह भवन मेजर कनेडी को बहुत पसन्द आया और वे इसमें ठहरने लग पड़े जिसके बाद इस भवन का नाम 'कनेडी हाउस' पड़ गया। देवी श्यामला के नाम पर बसा यह गांव 'श्यामला' अब ब्रिटिश प्रशासन के अधीन था जिन्होंने इसे एक प्रमुख हिल स्टेशन के रूप में विकसित करना शुरू कर दिया और श्यामला गांव ने अपना अस्तित्व खोकर एक अंग्रेजी नाम को जन्म दिया जो आज का 'शिमला' बन गया। इसके बाद यहां भारत के प्रमुख गवर्नर जनरल लार्ड आॅकलेंड और लॉर्ड डलहौजी ग्रीष्म की तपन से यहां अवकाश व्यतीत करने आते रहे लेकिन 1864 में लार्ड लॉरेन्स जब शिमला वाइसराय बनकर आए तो उन्होंने इस हिल स्टेशन को ग्रीष्म राजधानी का दर्जा दे दिया। धीरे-धीरे यह स्थान ख्याति प्राप्त करता गया और वृक्षों के बीच कई सुन्दर भवन बनकर तैयार हो गए।

1947 में भारत आजाद होने के साथ इस ग्रीष्म राजधानी को अंग्रेजों की कैद

से मुक्ति मिली और 15 अप्रैल, 1948 को हिमाचल प्रदेश की स्थापना कुछ जिलों के साथ की गई। अब तक शिमला पंजाब में ही शामिल था। नवम्बर 1966 को पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों कांगड़ा, कुल्लू, नालागढ़ और ऊना के साथ शिमला को भी हिमाचल में मिला दिया गया जिससे पूर्व महासू जिला और विस्तृत हो गया। वास्तव में महासू नाम भी ऊपरी शिमला में पूजित प्रसिद्ध शक्तिशाली देवता महासू के नाम से लिया गया था और बाद में महासू जिला 'शिमला जिला' बन गया। आज इस जिले का शिमला जहां मुख्यालय है वहां हिमाचल प्रदेश की राजधानी के साथ यह पहाड़ी शहर विश्व के पर्यटक नक्शे पर आ गया है।

5131 वर्ग कि०मी० के क्षेत्रफल में फैले इस जिले की 1981 की जनगणना के अनुसार 5,10,932 जनसंख्या है। इसकी सीमाएं उत्तर में मण्डी, कुल्लू व किन्नौर, पूर्व में किन्नौर जिले व उत्तर प्रदेश, दक्षिण में सिरमौर जिले तथा पश्चिम में सोलन जिले के साथ लगती है।

हालांकि आज मां श्यामला का वह प्राचीन मन्दिर अपना पुरातन रूप खो बैठा है लेकिन फिर भी वह पाषाण पत्थर की प्रतिमा शहर के मध्य प्रसिद्ध 'कालीबाड़ी' मन्दिर में स्थित है जिसमें इस शहर के अतीत का सम्पूर्ण इतिहास समाया हुआ है। ऊपरी शिमला जिले में महासू देवता के अनेक प्राचीन मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त यही वह जिला है जिसमें प्राचीन बाणासुर की राजधानी शोणितपुर, दत्तात्रेय नगर, महापराक्रमी बलि सम्राट की राजधानी जैसे पौराणिक स्थान, पब्बर नदी के छोर पर प्राचीन हाटेश्वरी देवी परिसर, अवस्थित हैं। इसकी पावन धरा को पौराणिक नदी शतुद्रा जो सतलुज के नाम से विख्यात है, के पवित्र जल से सींचित होने का सौभाग्य प्राप्त है। इसके साथ यहां कई प्राचीन मन्दिर स्थित हैं जिनका महत्व पौराणिक दृष्टि से तो है ही लेकिन आज पुरातात्विक दृष्टि से भी कम नहीं है। इन मन्दिरों की वास्तुकला अद्वितीय है, बेजोड़ है जो आज हमारे समक्ष प्रसिद्ध पूजास्थलों के साथ-साथ कालान्तर के इतिहास और संस्कृति के मूक साक्षी है।

पर्यटन की दृष्टि से आज इस शहर और इसके आसपास के क्षेत्रों का बहुत महत्व है। प्रति वर्ष हजारों की संख्या में देश और विदेश से सैलानी यहां की प्राकृतिक छटा में चन्द लमहें व्यतीत करने आते हैं। यह शहर जहां नियमित बस सेवा से जुड़ा है वहां कालका से घने जंगलों के बीच सर्पीली रेलगाड़ी में भ्रमण का तो अपना ही आनन्द है। यह रेलवे पटरी 194 में निर्मित हो गई थी। इसके साथ ही अब तो जुब्बड़ हट्टी हवाई पट्टी बनने के साथ दिल्ली और चण्डीगढ़ से कुछ ही मिनटों में यहां की वादियों में पहुंचा जा सकता है। जुब्बड़ हट्टी हवाई पट्टी इस शहर से 23 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। कालका से यह स्थान 90 किलोमीटर तथा चण्डीगढ़ से 117 किलोमीटर दूर है। यह शहर जहां गर्मियों के लिए स्वर्ग है वहां सर्दियों में भी इसकी एक अनोखी छटा है। बर्फ की सफेद चादर जब इसकी वादियों को ढांप लेती

है तो ऐसा लगता है कि पहाड़ों के साए में कोई नई-नवेली दुल्हन सोई हो। इसके चारों ओर की पहाड़ियां भी बर्फ से ढकी अति सुन्दर लगती हैं। यहां से 64 किलोमीटर दूर नारकण्डा का स्थान इन दिनों स्कीईंग के लिए प्रसिद्ध है। हिमाचल प्रदेश पर्यटन विकास निगम की ओर से स्कीईंग के प्रशिक्षण हेतु कोर्स चलाए जाते हैं।

इस जिले में जो प्राचीन मन्दिर अवस्थित हैं, आईए आपको उनका भ्रमण करवाते हैं जहां आप देखेंगे कि इन प्राचीन मन्दिरों की वास्तुकला कितनी अनूठी है और इनसे किस तरह पौराणिक मान्यताएं जुड़ी हैं।

कालीबाड़ी मन्दिर

शिमला रिज मैदान से पश्चिम की ओर कुछ ही दूरी पर ऐतिहासिक कालीबाड़ी मन्दिर स्थित है। यह वही मन्दिर है जिसमें पाषाण पत्थर की वह मूर्ति "श्यामला" स्थापित है जिससे शिमला का नामकरण हुआ है। मन्दिर परिसर बहुत सुन्दर है जिसके प्रांगण से शिमला शहर का पूर्णतया अवलोकन किया जा सकता है। बहुत पहले मन्दिर एक कुटिया के आकार का होता था लेकिन धीरे-धीरे इसकी व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और अब यह एक भव्य मन्दिर है। इसकी देख-रेख बंगाली प्रबन्धक समिति करती है। मन्दिर पत्थर और सीमेन्ट से निर्मित है। मन्दिर का मुख्य द्वार दक्षिण की ओर है। श्रद्धालु इस द्वार से मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित मां दुर्गा की अष्ट भुजा वाली मूर्ति के दर्शन कर सकते हैं। इसी मूर्ति के दोनों ओर पाषाण श्यामला और चण्डिका की पत्थर की मूर्तियां रखी हैं। ये मूर्तियां सिन्दूर से लाल-पीले रंग की हो गई हैं जिनका ऊपरी भाग चांदी से मढ़ा गया है। इनके समक्ष एक शिवलिंग है। गर्भगृह प्रदक्षिणा-पथ से घिरा हुआ है। इसकी कोई अपनी शैली नहीं है। छत टीन की चद्दरों से बनी है जिसमें लाल रंग किया गया है। पश्चिम दिशा की ओर नया शिव मन्दिर स्थापित किया गया है जिससे इस परिसर की शोभा और भी बढ़ जाती है। मन्दिर के साथ ही यात्रियों के लिए ठहरने की व्यवस्था की गई है।

मन्दिर के साथ अति रोचक कहानी जुड़ी है। यह कहानी ऐतिहासिक भी है क्योंकि इसी से हमें विदित होता है कि वर्तमान शहर शिमला का जन्म कैसे हुआ था। जिस जगह शिमला शहर बसा है और यह मन्दिर स्थित है वह पहले "श्यामला" गांव से जाना जाता था। उस वक्त यहां कोई भी इमारत नहीं होती थी परन्तु घास से छवाई हुई कुछ छोटी-छोटी कुटीरें ही हुआ करती थीं। गोरखा युद्ध के पश्चात् जब अंग्रेजों ने इस घाटी का सर्वेक्षण किया तो उन्होंने अपना अस्थायी कैम्प यहां स्थापित कर दिया। सर्वेक्षण टीम का नेतृत्व एक अंग्रेजी चीफ कर रहा था। इस टीम में अधिकतर बंगाली व्यक्ति थे। यह बात 1823 ई० की बताई जाती है। इसी दौरान जब उन्होंने इस पहाड़ी पर भ्रमण किया तो एक पहाड़ी पर एक महात्मा को धुनी जलाए हुए देखा। जब वे इस महात्मा के पास पहुंचे तो उन्होंने देखा कि धुनी के साथ ही एक पत्थर की मूर्ति भी पड़ी है जिसकी वह महात्मा नियमित पूजा किया करता था। इस तरह वे लोग दिन भर काम करने के

बाद रोज शाम को इस साधु के पास बैठने आया करते थे। एक दिन वह बीमार हो गया और कुछ दिनों के बाद उसका निधन हो गया। इस पर जो लोग यहां नियमित आते थे उनकी आस्था उस मूर्ति के प्रति पहले से ही बढ़ चुकी थी इसलिए उन्होंने साधु की जगह स्वयं उसकी उपासना प्रारम्भ कर दी।

इसी दौरान एक अन्य पहाड़ी पर भी एक साधु उसी तरह की मूर्ति की पूजा किया करता था। यह साधु वहां रहता था जहां आज शीशे वाली कोठी है। कहते हैं कि यही मूर्ति उस दौरान श्यामला काली के नाम से जानी जाती थी जिससे इस गांव का नाम श्यामला था। एक दिन ड्यूटी चीफ के नेतृत्व में कार्यरत टीम यहां आई। उस ड्यूटी चीफ को यह स्थान पसन्द आ गया और उसने यहां एक भवन बनाने का निर्णय ले लिया। उसने साधु को वहां से हट जाने के लिए कहा लेकिन साधु ने मना कर दिया। इस पर दो दिन बाद उसने उस साधु को कैद में डालकर उस प्रतिमा को यहां से उठवाकर नाले में फेंक डाला। बताता जाता है कि जिस दिन उस ड्यूटी चीफ ने उस मूर्ति को हटाया उसी दिन से वह भी लापता हो गया। बहुत खोज करने पर भी उसका कहीं पता न चला।

अब अंग्रेज चीफ को उस दिन के बाद नियमित रात्रि को भयंकर स्वप्न मिलने लगे। उसने यह बात अपने सर्वेक्षण दल से कही। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि शायद यह सभी उस साधु के प्रकोप से न हो रहा हो। वह सहमत हो गया और उसने अपना दल उस मूर्ति की तलाश में भेज दिया। दल खोजते-खोजते जब स्नोडन के नाले में पहुंचा तो वहां उसी मूर्ति के साथ उस ड्यूटी चीफ की लाश भी पड़ी मिली। इस चमत्कार से सभी भयभीत हो गए और उन्होंने श्रद्धापूर्वक उस मूर्ति को उठाया और उसी स्थान पर रख दिया जहां पहले वाली मूर्ति स्थापित थी। लेकिन जहां उस साधु को कैद रखा गया था वह वहां से लापता था। इस तरह सर्वेक्षण टीम ने इन दोनों मूर्तियों को साथ रखकर उनकी पूजा भी की और वहां एक छोटा-सा मन्दिर भी बनाया। यह 1845 ई० के आस-पास की बात है। टीम में रामचरण नामक पण्डित था जिसने यहां इन मूर्तियों की आराधना शुरू की थी। इस तरह धीरे-धीरे इसी मूर्ति के नाम पर "श्यामला" से यह "शिमला" बन गया। धीरे-धीरे आस-पास की तत्कालीन रियासतों के राजाओं ने भी यहां की इस घटना को जब सुना तो वे भी यहां आने लगे और स्वेच्छा से मन्दिर के लिए धन एकत्रित होना शुरू हो गया। पहले यह मन्दिर लकड़ी का बनाया गया और बाद में इसे पक्का बना दिया गया। 1900 में जयपुर के बंगाली भाइयों ने यहां जयपुर से बड़ी मूर्ति लाकर स्थापित कर दी।

इस मन्दिर का नामकरण बंगाली भाइयों ने ही कालीबाड़ी किया है। बंगाली में "बाड़ी" शब्द "घर" के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसलिए उन्होंने "काली मां का निवास स्थल" के लिए "कालीबाड़ी" नामकरण कर लिया।

वैसे तो सप्ताह भर यहां लोगों की भीड़ रहती है परन्तु मंगलवार तथा रविवार को असंख्य लोग माता के मन्दिर में आते हैं। नवरात्रों में यहां मेलों का आयोजन किया

जाता है जिसमें बंगाली परम्पराएं रहती हैं। आज यह मन्दिर देश-विदेश के सैलानियों के लिए भी श्रद्धास्थल है।

मन्दिर के प्रवेश द्वार के ऊपर की ओर कुछ दिनों पूर्व एक अन्य पत्थर की प्रतिमा प्रकाश में आई है। यह प्रतिमा यहां मिट्टी में पड़ी रहती थी लेकिन यहां के पण्डित चन्द्रमणि शास्त्री ने इस स्थल को साफ किया और मूर्ति की आराधना करके इसका नामकरण "माता वैष्णो" कर दिया। इस मूर्ति को अब एक छोटे से मन्दिर में रखा गया है जिसके लिए मुख्य कालीबाड़ी सड़क से सीढ़ियां बनाई गई हैं। बताया जाता है कि जिस दिन यह शास्त्री इस मूर्ति की पूजा नहीं करता था उस दिन उसके साथ अवश्य कोई अप्रिय घटना घट जाती थी लेकिन अब चन्द्रमणि ने इस स्थान के विकास के लिए निरन्तर प्रयास शुरू किए हैं।

शहर के मध्य अन्य प्रमुख मन्दिरों में शिव मन्दिर, जगन्नाथ मन्दिर, राधा-कृष्ण मन्दिर, राम मन्दिर, और सनातन धर्म मन्दिर प्रमुख हैं।

हनुमान मन्दिर, जाखू

शिमला रिज मैदान से श्री हनुमान मन्दिर दो किलोमीटर की दूरी पर समुद्रतल से 2,455 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। इस मन्दिर को जाखू मन्दिर के नाम से भी पुकारते हैं क्योंकि यह शिमला की सर्वाधिक ऊंची और सुन्दर पहाड़ी के मध्य निर्मित किया गया है। रिज मैदान के बांई ओर से मन्दिर के लिए चढ़ाई वाला रास्ता है। श्री हनुमान मन्दिर का यह रास्ता अधिकतर देवदार के जंगलों से घिरा है। पूरे रास्ते में जगह-जगह बन्दर इस तरह बैठे रहते हैं मानो श्रद्धालुओं का स्वागत कर रहे हों। मुख्य मन्दिर के कुछ पीछे बाबा बालक नाथ जी का मन्दिर बनाया गया है। यह मन्दिर पुराना नहीं है। इसमें श्री बाबा बालक नाथ जी की प्रतिमाओं के साथ अन्य कई संग-मरमर की मूर्तियां भी हैं। यहां दोनों मन्दिरों के लिए गेट बने हैं। बालक नाथ जी के मन्दिर के दाहिनी ओर के गेट से हनुमान मन्दिर के लिए प्रवेश किया जाता है।

मन्दिर परिसर में पहुंचने के बाद सबसे पहले श्री हनुमान जी के चरणों के दर्शन किए जाते हैं। इन चरणों को सिमेन्ट का एक साधारण मन्दिर बनाकर सुरक्षित रखा गया है। इसके बाद मन्दिर का प्रांगण आता है जहां से भीतर के लिए सीढ़ियां बनी हैं। मुख्य द्वार से ही गर्भगृह में श्री हनुमान जी की प्राचीन पत्थर की प्रतिमा तथा नई प्रतिमा के दर्शन हो जाते हैं। मन्दिर के दरवाजे पर कई घण्टियां लटकी हैं। गर्भगृह के बाहर विशाल हाल है तथा परिक्रमा-पथ निर्मित किया गया है। भीतर दाहिनी ओर कुछ पत्थर की प्रतिमाएं तथा पिण्डियां स्थापित हैं जिनमें सिन्दूर लगा रहता है। गर्भगृह भी एक छोटा-सा मन्दिर है जहां श्री हनुमान जी की प्रतिमाओं के साथ अन्य पूजा सामग्री रहती है। एक तरफ पुजारी के बैठने का स्थान है। इसका दरवाजा भी अति सुन्दर है।

श्री हनुमान जी की पत्थर की जो प्राचीन प्रतिमा मन्दिर में स्थापित है उसके विषय में रोचक घटना बताई जाती है। कहा जाता है कि जिस समय श्री राम ने लंका

पर आक्रमण किया था तो युद्ध में श्री लक्ष्मण मूर्छित हो गए थे। श्री हनुमान जी को हिमालय पर्वत से संजीवनी बूटी लाने का कार्य सूर्योदय से पूर्व सौंपा गया था। श्री हनुमान जी जब हिमालय की ओर उड़ते जा रहे थे तो वे जाखू पहाड़ी के ऊपर से आए जहां उन्होंने देखा कि उनका एक भक्त तपस्या में लीन है। वे यहां उतर गए तथा अपने भक्त से आगे का रास्ता पूछ लिया। भक्त ने अपने स्वामी को रास्ता बता दिया लेकिन वापिसी में यहीं से आने के लिए निवेदन किया। परन्तु श्री हनुमान जी जब उस पर्वत पर पहुंचे तो संजीवनी न पहचान सके जिस कारण उन्होंने पूरा पर्वत ही उठा लिया और विपरीत दिशा से लौट गए। बाद में जब उन्हें अपने भक्त को दिए वचन का ख्याल आया तो उन्होंने लंका से ही अपने आशीर्वाद स्वरूप अपनी प्रतिमा भेज दी जो स्वत: ही यहां तपस्यारत उस भक्त के समक्ष प्रकट हो गई। उसके बाद उस प्रतिमा की नियमित पूजा होने लगी।

यह प्रतिमा आज भी मन्दिर के गर्भगृह में उसी रूप में विद्यमान मानी जाती है। श्री हनुमान जी ने जब अपने पहले चरण यहां रखे तो उन चरण चिह्नों को यहां सुरक्षित रखा गया है। यह भी धारणा है कि वह भक्त श्री जाखू ऋषि थे जो यहां तपस्या किया करते थे। उन्हीं के नाम से इस पहाड़ी का नाम जाखू पहाड़ी पड़ा।

प्रारम्भ में यहां एक लकड़ी का छोटा-सा मन्दिर हुआ करता था जिसमें पत्थर की प्रतिमा मौजूद थी। एक महात्मा आते-जाते यात्रियों को यहां बैठकर पानी पिलाया करता था। शुरू से ही यहां बन्दरों का बोलबाला रहा है जिससे श्री हनुमान जी के इस स्थान को और भी महत्व प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे शिमला के वासियों ने मन्दिर के रूप को बनाना शुरू किया और आज एक सुन्दर मन्दिर बना लिया गया है।

शिमला भ्रमण के लिए आने वाला प्रत्येक पर्यटक यहां अवश्य दर्शन हेतु जाया करता है। देवदार के जंगल के मध्य निर्मित यह मन्दिर और यहां का स्थान अति रमणीक है। यहां से सम्पूर्ण शिमला तथा चारों तरफ की पहाड़ियों का मनोरम परिदृश्य देखते ही बनता है।

मन्दिर की कथा यहां के शरारती बन्दरों का जिक्र किए बिना अधूरी रह जाएगी। इनका मन्दिर से असीम लगाव है।

बन्दरों की बिरादरी

शायद शिमला के इतिहास से भी प्राचीन है यहां पर स्थाई निवासी इन बन्दरों का इतिहास। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यदि ये बन्दर आज शिमला छोड़ कर कहीं और चले जाएं तो यहां की लोकप्रियता काफी हद तक खत्म हो जाएगी। क्योंकि यहां के बन्दर भी बाहर से आने वाले सैलानियों के लिए एक अत्यन्त आकर्षण का केन्द्र हैं।

जाखू मन्दिर में जब तक इन भक्तों को आप कुछ नहीं देंगे तब तक ये आपको मन्दिर में प्रवेश नहीं करने देंगे। वैसे तो ये रास्ते में ही तलाशी ले लिया करते हैं।

सन् 1837 में एक अंग्रेज ने बन्दरों के विषय में लिखा है कि—

"शिमला में जाखू के स्थान पर एक मध्यवर्ती गांव जहां एक साधु आने-जाने वाले राही को पानी पिलाया करता है—यह फकीर यहीं मन्दिर में रहा करता है। पीले वस्त्रों और तरह-तरह के गहनों से अपने को सजाये यह फकीर मन्दिर के सामने खड़ा होकर जोर-जोर से चिल्लाता है, आ जाओ-आ जाओ— और कुछ ही पलों में इस फकीर के चारों तरफ असंख्य बन्दरों की टोलियां आकर बैठ जाया करती हैं। फिर यह फकीर उन्हें चने और अन्य खाद्य सामग्री खिलाता है।" कहा जाता है कि इन बन्दरों पर उस महात्मा का ऐसा अधिकार था जैसे एक कमाण्डर का अपनी फौज पर, वह साधु जैसा कहता वे बन्दर वैसा ही किया करते थे। कुल मिलाकर उस वक्त इन बन्दरों का अनुशासन अवलोकनीय था।"

इस फकीर के विषय में एक घटना इतिहास में भी मिलती है, जिसका सम्बन्ध सीधा बन्दरों से जोड़ा गया है। इस फकीर के समय यहां एक अंग्रेज मि० डे० रूसेट नाम का एक प्रसिद्ध ठेकेदार और शिल्पकार यहां रहा करता था। उसका लड़का विशप कॉटन स्कूल में पढ़ा करता था। एक दिन अचानक इस लड़के ने अपना धर्म बदल दिया और फकीर की शरण ले ली। यह लड़का फिर जाखू में ही रहने लग गया। लगातार दो वर्षों तक यह बालक जाखू में एक पेड़ के नीचे रहा, जहां बन्दरों से इसकी दोस्ती हो गई। बताया जाता है कि दो सालों तक लगातार इन्हीं बन्दरों ने इस बालक को इधर-उधर से रोटियां लाकर खिलाई थी। ये बन्दर रोज ही फल इत्यादि भी लाया करते थे। बाद में यह बालक एक बड़े पुरोहित की उपाधि प्राप्त कर गया और शिमला में 'लियोपार्ड फकीर' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

इस बालक का विचार था कि जानवर कभी भी किसी को हानि नहीं पहुंचाते। अगर मनुष्य के दिल में उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का विचार नहीं है तो वह इन जानवरों के साथ दोस्त बन कर रह सकता है। बालक का विचार था कि ऋषि-मुनि जो जंगलों में तपस्या किया करते थे उनका जानवरों पर विशेष अधिकार हुआ करता था। जानवर उनके सहचर बनके रहा करते थे।

शिमला के बन्दर अब पहले जैसे नहीं रहे हैं—यह युगीन परिवर्तन है। कल का इन्सान आज का 'इन्सान' न रह सका तो भला ये तो जानवर हैं—इनके आतंक को देख हिमाचल सरकार ने बाहर से कुछ ऐसे भी व्यक्ति बुलाए थे जो इनको पकड़ते थे और कहीं दूर ले जाकर छोड़ देते थे। इस कार्य के लिए सरकार ने प्रति बन्दर 15 से 20 रुपये रखे थे। लेकिन फिर भी इनकी संख्या में कोई कमी नहीं हुई।

शिमला के रास्तों में ये बन्दर बिल्कुल किनारों पर लाईन लगा कर बैठे रहते हैं। विशेषकर जाखू जाने वाले रास्तों में क्योंकि इन्हें यह भली प्रकार विदित है कि अधिकतर अनजान लोग जो शिमला घूमने आए होते है वे अवश्य जाखू मन्दिर जाते हैं। जब भी हाथ में प्रसाद या अन्य खाद्य वस्तुओं को लेकर कोई अनभिज्ञ पर्यटक या आदमी

इस रास्ते से गुजरता है तो उसे पता भी नहीं चलता कि कब वह सामान बन्दरों की हिरासत हो गया।

कभी-कभार तो ऐसा भी होता है कि यदि किसी व्यक्ति ने अपना हाथ अपनी पेंट की जेब में डाले हो और बन्दरों ने उसे देख लिया तो वे तत्काल बिना किसी भय के उसकी पेंट पकड़ लेते हैं। बन्दर यही समझते हैं कि उस आदमी ने उनसे जेब में कोई वस्तु छुपा रखी है और यदि शीघ्र वह आदमी जेब से हाथ निकाल कर बन्दरों को यह एहसास न करवाए कि उसके पास कुछ नहीं है तो वे खुद ही निरीक्षण करने लग पड़ते हैं।

खासकर इनको नव-विवाहित जोड़ों से अति लगाव रहा है। जब भी कोई नई-नवेली दुल्हन मन्दिर के रास्तों में जाती है तो उसको साड़ी से पकड़ लेते हैं। जब तक वह कुछ पर्स में से निकाल कर नहीं देती तो बन्दर साड़ी फाड़ते भी नहीं 'शर्माते।'

ऐसी ही एक घटना काफी समय पूर्व जाखू मन्दिर के प्रांगण में घटी थी। एक नव-विवाहिता ने अपने हाथ में पर्स ले रखा था। जैसे ही वह पर्स बन्दरों ने देखा तो एक मोटे बन्दर ने उसके हाथ से छुड़ा लिया और भाग कर एक पेड़ पर चढ़ गया—देखते-देखते उसने पर्स का सारा सामान जमीन पर फेंक दिया। आश्चर्य की उस वक्त सीमा न रही जब उसने गुस्से में आकर पर्स से एक नोटों का बण्डल निकाला और एक-एक करके फाड़ता रहा—बन्दर की इस बेरूखी और अशिष्टता को देख कर वह महिला बेचारी रोती रही परन्तु उस बन्दर को तनिक भी दया नहीं आई और पल भर में ही उसने जंगल में नोटों की बरखा कर दी। तकरीब सभी नोट फाड़ दिए थे। महिला ने बताया था कि उसके पास पूरे दस हजार रुपये थे जिनमें से बाद में लोगों ने ढूंढ कर केवल एक हजार के करीब एकत्रित कर दिए।

यही नहीं सनोडन हस्पताल में एक बार उस वक्त सनसनी फैल गई जब एक बड़े बन्दर ने हस्पताल के प्रांगण से एक महिला की गोदी से छः मास का बच्चा उठा लिया और चार मंजिला भवन पर चला गया। लेकिन उस बन्दर ने कपड़े में अपने बच्चे की तरह उसे भी सुरक्षित रखा। जब महिला ने शोर मचाया तो वहां लोगों की भीड़ लग गई। महिला के सम्बन्धी गुस्से में लाल-पीले हो गए। फिर भीड़ में से एक वृद्ध ने सलाह दी कि बाजार से जलेबी का लिफाफा ला कर इसे दे दो। फिर ऐसा ही किया गया। वह लिफाफा जब उस बन्दर ने प्रांगण में पड़े देखा तो निर्भय होकर वह उस बालक को सुरक्षित जमीन पर छोड़ गया और लिफाफा लेकर वापिस चला गया।

बन्दर की इस शिष्टता को देख कर सभी लोग हैरान रह गए थे।

वैसे यह बात सत्य है कि यदि बन्दर किसी की कीमती चीज उठाता है तो उसे तत्काल कोई खाने की वस्तु दे दो वह उस वस्तु को वैसे ही लौटा देगा। लेकिन अब कुछ ही बन्दर ऐसा करते हैं।

शिमला में विशेषकर एण्टीनों से बन्दरों की अच्छी-खासी दोस्ती है। यहां पर जो टी०वी० मकैनिक हैं उनके पास एण्टीने तोड़ने के चार-पांच केस रोज आ जाते हैं।

बन्दर छत पर लगे एण्टीनों पर चढ़ कर उसमें झुलते रहते हैं और जब तक वह टूट न जाए हटते ही नहीं। ऐसा वह तभी करते हैं जब उन्हें रसोई में घुसते डांट पड़ती है और रोटी नहीं मिलती—एक प्रकार से रोष व्यक्त करने का यह उनका तरीका है।

पिछले दिनों एक व्यक्ति ने तंग आकर शिमला नगर निगम के कमिश्नर महोदय को एक शिकायत पत्र में लिखा था कि उसे एक बन्दर ने बहुत तंग कर दिया है। जब भी वह दफ्तर आता है तो वह बन्दर उसके इन्तजार में बैठा रहता है और उस व्यक्ति को तब तक नहीं जाने देता जब तक कि वह अपना लंच बाक्स उसे न दे दे।

बाजार में रह रहे लोग अपने कपड़े बाहर नहीं सुखा सकते हैं। गलती से यदि किसी ने बाहर रख दिए तो बन्दर उनको आकर ले जाते हैं और छतों पर उनको पहन-पहन कर विभिन्न प्रकार के कर्तब दिखाते रहते हैं।

शिमला में बन्दरों की कई टोलियां बन गई हैं। कभी अगर इन टोलियों के बन्दर एकत्रित हो जाएं तो इनका आपस में युद्ध छिड़ जाता है जिससे शहर में एक तरह का आतंक मच जाता है। जब इनको गुस्सा आता है तो ये आदमियों पर भी बरस जाते हैं।

जाखू मन्दिर में दो बहुत पुराने बन्दर हैं जो कभी-कभार बिना किसी भय के भीतर चले जाते हैं और हनुमान की मूर्ति के पास कभी-कभी बैठ जाते हैं। ये बन्दर वस्तुओं को कभी नहीं छेड़ते—हां, जो फल इत्यादि हनुमान जी की मूर्ति के पास पड़े होते हैं उनको उठा कर खा लेते हैं।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि एक तरफ जहां ये बन्दर बिगड़ गए हैं वहां शिमला में मनोरंजन के लिए भी एक अच्छा साधन है। इन बन्दरों को कभी-कभार कुत्तों से भी दोस्ती हो जाती हैं और फिर ये कुत्तों के साथ भी खेलते रहते हैं।

आप अगर इन्हें प्यार से हाथ में चने खिलाना चाहते हैं तो निःसंकोच खिला सकते हैं। येआ पका हाथ प्यार से पकड़ लेंगे और हाथ में रखी चीजों को खाकर छोड़ देंगे।

इसलिए इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि जाखू मन्दिर में इनका एक विशेष महत्व है।

संकटमोचन मन्दिर, तारादेवी

तारादेवी के बिल्कुल साथ, शिमला-कालका राजमार्ग के कुछ नीचे उतर कर चीड़ के पेड़ों के बीच, शिमला से 6 किलोमीटर दूर हनुमान जी को समर्पित संकटमोचन मन्दिर स्थित है। इसकी सिन्दूरी छत दूर से अति सुन्दर लगती है। यह स्थान जहां श्रद्धालुओं का प्रमुख भक्ति-केन्द्र है वहां बाहर से भ्रमण के लिए आए सैलानियों के लिए भी कम आकर्षक नहीं। यह आज एक प्रसिद्ध धार्मिक भ्रमण स्थल के रूप में उभर गया है। इस मन्दिर का निर्माण आधुनिक मन्दिर शैली में हुआ है। दीवारों पर मिश्रित

परम्परागत वास्तुशिल्प की झलक मन को मोह लेती है। इसमें पत्थर और सीमेंट का प्रयोग किया गया है।

प्रांगण में भिन्न-भिन्न प्रकार की झाड़ियां व पेड़ उगे हैं। लाल रंग के पत्थर प्रांगण को अति आकर्षक बनाए हैं। मन्दिर का प्रवेश द्वार उत्तर दिशा की ओर है, जहां से मन्दिर में प्रवेश किया जा सकता है। मन्दिर के भीतर जिन कक्षों में मूर्तियां स्थापित हैं उसके बाहर एक विशाल हाल निर्मित है। इन कक्षों में पूर्व की ओर प्रतिमाओं के मुख हैं। दाएं कक्ष में भगवान शंकर की प्रतिमा पद्मासन में है। यह संगमरमर की है। बाएं कक्ष में हनुमान जी की विशाल आदमकद मूर्ति प्रतिष्ठित है। मध्य भाग में राम और सीता की प्रतिमा विद्यमान है जो सभी संगमरमर की हैं।

मन्दिर निर्माण के साथ जो घटना जुड़ी है उसके अनुसार नैनीताल के सिद्ध महात्मा नीम करौड़ी को एक बार स्वप्न में महावीर जी ने यह प्रेरणा दी कि वह शिमला की पहाड़ी पर जाकर एक मन्दिर का निर्माण करवाए। इस पर वह यहां के लिए चल पड़े। बहुत छानबीन के उपरांत यहां उन्होंने तारादेवी के निकट इस स्थान का चयन किया। महावीर की प्रेरणा से यहां मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ हो गया जिसमें स्थानीय लोगों ने भी उनका साथ दिया। सन् 1962 में इस मन्दिर का श्रीगणेश किया गया था। सन् 1966 में इस मन्दिर का कार्य पूर्ण हो गया तथा इसे लोगों के लिए समर्पित कर दिया गया। मन्दिर के साथ सराय का निर्माण भी किया गया है। बाबा करौरी ने भारत के विभिन्न भागों में 108 मन्दिरों का निर्माण करवाया है।

वर्ष भर यहां लोगों का तांता लगा रहता है। विशेष कर मंगल और रविवार को भारी संख्या में श्रद्धालु यहां भ्रमण के लिए जाते हैं और श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। रामनवमी के दिन यहां विशाल यज्ञ का आयोजन किया जाता है। जागरण और भण्डारा समय-समय पर होता रहता है।

मन्दिर का प्रबन्ध मन्दिर समिति द्वारा किया जाता है। मन्दिर परिसर अति सुन्दर है। शिमला-कालका राजमार्ग से यहां तक अब तो पक्की सड़क का निर्माण हो गया है। यहां लोगों की इच्छाएं पूर्ण होती हैं और पापों से मुक्ति मिलती है जिसके कारण मन्दिर का नाम 'संकट मोचन' अर्थात मनुष्य के सभी दुखों का निवारण करने वाले भगवान हनुमान जी का मन्दिर। मन्दिर परिसर के समक्ष विशाल सराय भवन बनाया गया है।

तारादेवी मन्दिर

यदि आप शिमला के रिज मैदान पर खड़े होकर पश्चिम की ओर देखें तो दूर तारादेवी की पहाड़ी पर बिल्कुल किनारे सफेद भवन दिखाई देगा—और यही तारादेवी का प्रसिद्ध और प्राचीन मन्दिर है।

शिमला-कालका बस मार्ग पर स्थित तारादेवी नामक स्थान से इस मन्दिर के लिए पैदल मार्ग चला जाता है। लगभग दो कि० मी० के इस पैदल मार्ग के दोनों ओर

घने वृक्ष हैं। जंगल घना है। जगह-जगह श्रद्धालुओं ने पेड़ों पर रंगीन बोर्ड लगाए हैं जिनमें मन्दिर सम्बन्धी रास्ते की जानकारी अंकित है और माता तारादेवी का नाम लिखा है। शिमला से यहां तक की दूरी आठ किलोमीटर के करीब है। इस पहाड़ी के मध्य से रेल मार्ग है। पहाड़ी पर जाकर शिमला शहर तथा दूर-दराज के क्षेत्रों के मनोहारी परिदृश्यों को देखा जा सकता है। मन्दिर एक मंजिला है। दूर से बंगले की आकृति जैसा लगता है। गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा पथ है। पूर्व की ओर द्वार-मण्डप है। मन्दिर आधुनिक शिल्प सामग्री अर्थात पत्थर और सीमेंट से निर्मित किया गया है। मण्डप के ऊपर ढलवां टीन की छत है जिस पर रंग किया गया है। यह साधारण ग्रामीण पहाड़ी शैली कही जा सकती है।

मन्दिर में स्थापित प्रतिमा मां तारा की है। यह लगभग पौने दो फुट ऊंची है जो अष्टधातु की अठारह भुजाओं वाली है। इस तरह की भव्य प्रतिमा सम्भवतः कहीं भी नहीं है। यह एक मात्र अपनी तरह की प्रतिमा कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही अष्टधातु ही की पार्वती, अनसूईया तथा सीता माता की प्रतिमाएं हैं। प्रांगण में एक आड़ू का वृक्ष है जिसके चबूतरे पर कई पत्थर तथा काष्ठ की मूर्तियां विद्यमान हैं। प्रांगण पक्का बनाया गया है।

तारादेवी की इस प्रतिमा को 7 अगस्त, 1970 को कुछ लुटेरों ने चुरा लिया था। लेकिन देवी की शक्ति के कारण वे अपने मिशन में कामयाब नहीं हुए हालांकि मन्दिर से उठाकर वे उसे अवश्य ले गए थे। इस प्रतिमा के प्राप्त होने की रोचक घटना कही जाती है जो देवी की शक्ति का सजीव उदाहरण कहा जा सकता है। बताया जाता है कि उक्त तिथि को यहां सेवारत पुजारी के कमरे का बाहर से दरवाजा बन्द कर दिया। उसके बाद कुछ लुटेरे मन्दिर के भीतर खिड़की तोड़कर घुस गए। उन्होंने वहां पहले शराब पी और फिर प्रतिमा को उखाड़ कर ले गए। सुबह जब पुजारी उठा तो दरवाजा बाहर से बन्द था। उसे शक हो गया। वह रोशनदान से बाहर आया और सीधा मन्दिर की तरफ भाग गया। दरवाजा तो बन्द था लेकिन खिड़की को तोड़ दिया था। भीतर देखा तो मूर्ति के वहां न होने से पुजारी के होश उड़ गए। यहां कोई बस्ती नहीं है और पुलिस स्टेशन भी बहुत दूर है। सहायता के लिए तत्काल कुछ करना आसान नहीं था।

लेकिन माता की कृपा और शक्ति को देखिए—दोपहर के समय कुछ लोग पुजारी की बेटी के साथ गांव के मन्दिर में पहुंच गए। लड़की देवी छाया से कांप रही थी। लोगों ने बताया कि वह रात से ही कांप रही है और कह रही है कि, "मैं जंगल में झाड़ी के बीच भीग रही हूं मुझे ले आईए।" काफी समय तक तो लोगों को उस लड़की के कहने का अर्थ मालूम ही नहीं हुआ लेकिन इसने जब तारादेवी मन्दिर जाने को बात कही तो लोग उसे यहां ले आए। पुजारी ने जब मन्दिर से मूर्ति चोरी की बात कही तो लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही। फिर उस लड़की ने सभी को अपने साथ चलने को कहा और वहीं पहुंची जहां चुराई गई मूर्ति एक झाड़ी के बीच उल्टी

पड़ी थी। लड़की उस प्रतिमा के पास ही रुकी। लोगों को यह जानने में समय ही नहीं लगा कि यह सभी तारा देवी की कृपा और शक्ति का ही परिणाम है। उन्होंने मूर्ति को उठाया और मन्दिर ले आए। मूर्ति को पुनः विधिवत् रूप से प्रतिष्ठापित कर दिया गया। इस घटना से देवी की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

तारादेवी की उत्पत्ति के बारे में कई कथाएं हैं। तारा का जन्म भगवान अभिलाभ के नेत्रों से भी माना जाता है। उनके नेत्रों से निकली नील किरण ही तारा देवी है। कहा जाता है कि भगवान अवलोकितेश्वर के नेत्रों से आंसुओं के कण गिरने से एक तालाब बन गया और उसमें एक कमल का फूल खिला। उस फूल की पंखुड़ियों से तारा का जन्म हुआ। यह भी माना जाता है कि सभी उत्तम रूप की स्त्रियां तारा का अवतार होती हैं। यह मत लामाओं का है। क्योंकि सातवीं-आठवीं शताब्दी के तिब्बती बौद्ध राजा की दोनों पत्नियों को तारा का अवतार माना गया था। तारा की पूजा संसार भर में की जाती है। स्कन्दभागवत में तारा को वृहस्पति की पत्नी माना गया है और उसका सौन्दर्य अप्सराओं जैसा है।

तारादेवी का जहां यह मन्दिर स्थित है उसे तारब नाम से जाना जाता है। इस देवी को क्योंथल राज परिवार की कुल देवी माना गया है। क्योंथल के राजा सेन वंश से हैं जो बंगाल से यहां आए बताए जाते हैं। इस वंश के एक राजा गिरिसेन ने जब इस रियासत का राज्य सम्भाला तो उस काल में एक घटना घटी। तारब नामक इस पहाड़ी पर उन दिनों एक योगी कहीं से घूमता हुआ आया और उसने पहाड़ी पर अपना धुना जला दिया। भारी वर्षा में भी वह तपस्या मग्न रहता और धुना यथावत भभकता रहता। जब राजा को उस योगी की तपस्या का पता चला तो वह यहां दर्शन हेतु चला आया। योगी ने ही राजा को अपना आशीर्वाद दिया और इस पहाड़ी के छोर पर तारा देवी का मन्दिर बनाने की प्रेरणा भी दी। राजा ने तत्काल मन्दिर निर्माण प्रारम्भ कर दिया और जब मन्दिर बन कर तैयार हुआ तो उस योगी ने ही शास्त्र की विधिनुसार देवी की स्थापना मन्दिर में करवाई। इस योगी का नाम तारानाथ भी बताया जाता है और यह भी माना जाता है कि इसी योगी के नाम इस देवी को तारा नाम से पुकारते हैं। कुछ लोग तारब पहाड़ी के कारण भी देवी का नाम तारा देवी पड़ा बताते हैं।

इस मन्दिर के कुछ दूर नीचे की ओर जंगल में एक प्राचीन शिव मन्दिर भी स्थित है। वास्तुकला की दृष्टि से यह विशेष महत्वपूर्ण भले ही न हो लेकिन प्राचीनता की दृष्टि से महत्व अवश्य रखता है। यहां कुछ लघु मन्दिर तथा साधुओं के रहने का स्थान है। बिलकुल निर्जन और शान्त। मन्दिर के साथ स्वच्छ जल का चश्मा है। एक समाधि भी है। मन्दिर निर्माण के बारे में कोई भी जानकारी नहीं लेकिन यही कहा जाता है कि जिस समय तारादेवी मन्दिर की स्थापना हुई यह स्थान तभी से शिव पूजा का केन्द्र है। सम्भवतः तारादेवी मन्दिर का रूप पहले कुछ और रहा होगा और बाद में उसका पूरी तरह जीर्णोद्धार किया गया है।

तारादेवी मन्दिर के पीछे पहाड़ी पर एक-दो छोटी देहरियां हैं जिनमें कुछ पत्थर की प्रतिमाएं रखी हैं। ये सभी प्राचीन मानी जाती हैं। तारब की यह सुन्दर पहाड़ी पर्यटन की दृष्टि से भी कम सुन्दर नहीं लेकिन यहां तक सड़क इत्यादि न होने के कारण अधिकतर पर्यटक नहीं जा पाते जबकि उनकी यह इच्छा होती है कि वह तारा के दर्शन करें। फिर भी निरन्तर यहां श्रद्धालुगण जाते रहते हैं।

तारादेवी गांव में माहूनाग का मन्दिर भी बहुत प्रसिद्ध है।

कामना देवी मंदिर

"कामना" का सीधा सा अर्थ है "मनइच्छा", और यदि कहीं किसी मन्दिर में लोग जाएं और मनौती करें तथा बाद में उनके मन की इच्छा पूरी हो जाए तो निःसंदेह वे बार-बार वहां आएंगे, श्रद्धासुमन अर्पित करेंगे और अन्य लोगों को भी इस बात से अवगत कराएंगे कि वहां जाकर मन की इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं। ऐसी ही घटना बालूगंज से थोड़ा ऊपर चढ़ कर एक चोटी पर स्थित प्राचीन मन्दिर की भी है। यह स्थान आज जहां धार्मिक लोगों के लिए श्रद्धा का केन्द्र है वहाँ भ्रमणार्थियों के लिए "प्रास्पैक्ट" हिल से जाना जाता है। यहाँ के पुजारी का कहना है कि वास्तव में यह मन्दिर मां दुर्गा को समर्पित है लेकिन इस देवी ने हजारों लोगों के मन की इच्छा पूर्ण की है जिसके कारण इस मन्दिर में स्थापित देवी मां की प्रतिमा को लोग कामना देवी से और मन्दिर को कामना देवी मन्दिर से पुकारने लगे हैं। अब कई सौ सालों से यह मन्दिर कामना देवी के नाम से ही जाना जाता है। मन्दिर के चारों तरफ देवदार के वृक्ष हैं। बालूगंज चौक से सीधी चढ़ाई मन्दिर के मुख्य दरवाजे तक पहुंचती है। यह मुख्य द्वार पूर्व की ओर है और भीतर माता की प्रतिमा स्थापित है। मन्दिर हर समय श्रद्धालुओं के दर्शन हेतु खुला रहता है। गुम्बद मिश्रित शैली में निर्मित यह मन्दिर काफी प्रसिद्ध है। यहां मन्दिर के पीछे जो गोलाकार छोटा-सा मैदान है उसकी दीवार पर बैठ कर शिमला शहर का परिदृश्य अति मनमोहक दिखता है। यहीं से शिमला शहर के मध्य स्थित मां काली मंदिर, जाखू हनुमान मंदिर, मां तारा देवी मंदिर तथा शाली टिब्बा पर मां भीमाकाली तथा चूड़धार चोटि पर चूड़ेश्वर महाराज के दर्शन किए जा सकते हैं। यह ऐसा स्थल है जहां से चारों ओर के स्पष्ट दृश्यों का आनन्द लिया जा सकता है। शिमला से यह स्थान 5 किलोमीटर की दूरी पर है।

मंदिर के निर्माण के बारे में एक ओर लोगों का कहना है कि यह मंदिर राजा जुण्गा ने बनवाया था और राजा जुण्गा अपने रियासती काल में यहां वर्ष में कई बार पूजा-अर्चना करने आया करता था लेकिन मंदिर के पुजारी का यह कहना है कि यह मंदिर उनके पूर्वजों ने बनवाया है और उसी वंशावली से आज तक पुजारी इस माता की सेवा और मंदिर की देखरेख करते आ रहे हैं। मंदिर किसी ने भी बनवाया हो लेकिन इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि यह एक प्राचीन मंदिर है और मंदिर में प्रतिष्ठित माता की प्रतिमा अति आकर्षक और तेजपूर्ण है। यह पहाड़ी दूर से एक चोटी

की तरह लगती है जो अति सुन्दर है। यहां आकर तो मन को काफी सकून प्राप्त होता है। भ्रमण और मंदिर में माता के दर्शन का संयुक्त आनन्द अभूतपूर्व है।

काली मंदिर, जतोग

शिमला की पहाड़ियों पर जिस तरह से प्राचीन श्यामला देवी, तारा देवी, कामना देवी और ढींगू देवी मंदिर अवस्थित हैं बिल्कुल उसी तरह जतोग की ऊँची पहाड़ी पर श्री काली मंदिर स्थित है। जतोग शिमला से लगभग 10 किलोमीटर की दूरी पर एक साफ-सुथरा शहर है। श्री काली मां का यह मंदिर शहर से काफी चढ़ाई के बाद आता है। यहां से चारों ओर के विहंगम परिदृश्य मन को छू लेते हैं। जतोग के स्थानीय लोगों के साथ यहां सैनिकों की इस मंदिर के साथ अपार श्रद्धा है। मंदिर काफी प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले यहां भी अन्य मंदिरों की तरह लकड़ी का छोटा-सा मंदिर होता था जिसे अब सिमेन्ट और पत्थरों से पक्का बना दिया गया है। मंदिर पहाड़ी शैली में निर्मित किया है। मंदिर का प्रांगण भी पक्का बनाया गया है। हालांकि मंदिर का आकार नया बना दिया गया है लेकिन प्राचीन गर्भगृह सुरक्षित है जिसमें श्री काली मां की प्रतिमा स्थापित है।

रियासती काल में राजा क्योंथल और राजा कोटि यहां बराबर माथा टेकने आया करते थे। उनकी इस मंदिर के प्रति गहरी आस्था रही है। यहाँ के पुजारी का कहना है कि इस मंदिर को रियासती काल में राजा क्योंथल ने ही बनवाया था तथा उस समय राजा ने मंदिर के भीतर श्री काली की अष्टधातु की मूर्ति स्थापित की थी। यह मूर्ति उन्होंने धातु की सात सीढ़ियों के ऊपर एक मेहराब पर स्थापित की थी। मंदिर में पुजारी नियमित पूजा करता रहता है।

जतोग शहर इसलिए अन्य शिमला के छोटे शहरों से भिन्न है क्योंकि यह शहर सैनिकों के रहने के कारण बहुत सुन्दर और साफ-सुथरा है। शहर के मध्य भाग से मन्दिर तक पक्की सड़क और सीढ़ियां निर्मित की गई हैं। नवरात्रों के अतिरिक्त मंगलवार और रविवार को यहां दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। लोग यहां श्री काली मां के दर्शन के साथ-साथ पिकनिक का आनन्द भी लेते हैं।

ढींगू देवी मंदिर

यह मंदिर शिमला से सात किलोमीटर दूर संजौली की एक पहाड़ी की चोटि पर अवस्थित है। दूर से मंदिर की सफेद दीवारें अति आकर्षक लगती हैं। संजौली बाजार से इस मंदिर के लिए पक्का रास्ता चला जाता है। इस रास्ते में मंदिर के नीचे एक नवीन बौद्ध गोम्पा भी निर्मित की गई है। इस गोम्पा में भगवान बुद्ध तथा अन्य लामाओं की प्रतिमाएं हैं। मंदिर के थोड़ा नीचे पहुँचने पर सीढ़ियां प्रारम्भ हो जाती हैं जो मंदिर के प्रांगण में पहुँचती हैं। मंदिर परिसर चारों तरफ से पक्का बनाया गया है जिसके मध्य भाग में देवी मंदिर स्थित है। मंदिर का द्वार पश्चिम की ओर है।

यहां से भी चारों तरफ का परिदृश्य अवलोकित होता है। वास्तव में इसी मंदिर की गोद में जैसे संजौली शहर बसा है। मंदिर के गर्भगृह में माता की प्राचीन प्रतिमा स्थित है।

काफी समय पूर्व यहां एक लकड़ी का छोटा-सा मंदिर ही हुआ करता था लेकिन राजा कोटि ने अपने शासनकाल में इसे कुछ अच्छा रूप दिया और बाद में स्थानीय लोगों ने अपने साधनों से विशाल रूप दे दिया। कहा जाता है कि राजा कोटि वर्ष में एक दो बार यहाँ माथा टेकने आया करता था। राजा के आने पर पशु बलि दी जाती थी जो बाद में बन्द कर दी गई। स्थानीय लोगों के अतिरिक्त अन्य बाहर से आए लोगों के लिए भी इस मंदिर की अत्यन्त महत्ता है। यह अत्यन्त पवित्र स्थान है। यहां पुजारी सदैव लोगों की सेवा में रहता है। मंगल और रविवार को लोगों की भीड़ मां के दर्शनों के लिए लगी रहती है। यह स्पष्ट नहीं है कि इस देवी को ढींगू देवी आखिर क्यों कहा जाता है।

इस मंदिर के साथ अब नया शिव भगवान का मंदिर भी बनाया गया है जिससे मंदिर परिसर विशाल हो गया है। साथ में पुजारियों के रहने के लिए सराय है। कीर्तन मंडलियां यहाँ बराबर कीर्तन करती रहती हैं। मंदिर पत्थर और सीमेन्ट के मिश्रित प्रयोग से बना है—यानि पहाड़ी शैली का नमूना है। लोग लाल सालू, चाँदी के छतर तथा मिठाईयां इत्यादि यहाँ आकर चढ़ाते रहते हैं।

संजौली के पूर्व की ओर लगभग 5 कि०मी० दूर भट्टाकुफर (कमला नगर) की आगे एक पहाड़ी पर देवी दुर्गा का सुन्दर लघु मंदिर गुम्बदाकार हैं। इसे संजय वन भी कहा जाता है। यहीं से 3 कि०मी० दूर नीचे की ओर तालग गांव है यहां प्राचीन देवी भीमा काली का लघु मंदिर स्थित है। देवी की भीतर सुन्दर प्रतिमा है। साथ ही भण्डार एवं सराय हैं।

धानु देव मन्दिर

धानु देवता का प्राचीन मंदिर शिमला बस स्टेंड से दक्षिण दिशा की ओर 8 किलोमीटर दूर लालपानी नाले के साथ बिहार गांव में अवस्थित है। यह मन्दिर गांव के बाहर घने जंगलों के मध्य निर्मित है। पहाड़ी शैली के इस सुन्दर और आकर्षक मन्दिर में प्रयुक्त लकड़ी पर अभूतपूर्व नक्काशी का कार्य किया गया है। हालनुमा मण्डप मन्दिर के बाहरी भाग को सजाए हुए है तथा गर्भगृह के ऊपर पेगौडा शैली की छत है। इस मन्दिर का नवीनीकरण किया गया है जिससे स्पष्ट है कि मन्दिर का कुछ प्राचीन मूल रूप नष्ट हो चुका है। पहाड़ी स्थापत्य कला के अनुसार बना हुआ मन्दिर पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण है तथा इसके रख-रखाव के लिए आवश्यक प्रयासों की जरूरत है ताकि इस प्राचीन धरोहर को फिर से किसी किस्म का नुकसान न पहुंचे।

धानु देवता से सम्बन्धित जो कहानी कही जाती है उसके अनुसार बहुत

पहले की बात है नदौन रियासत पर नागराज का राज्य था। यह चार भाई थे। एक दिन बिना किसी वजह से इस रियासत पर आक्रमण कर दिए। इसी कारण नागराज उस रियासत से दूसरी जगह के लिए चल दिए। इसलिए इन्होंने जाखू नामक स्थान पर शरण ले ली। यहां पर जब काफी समय व्यतीत कर लिया तो एक दिन ये चारों भाई यहां से चारों दिशाओं की ओर चले गए। बताया जाता है कि जहां-जहां भी ठहरे वहीं पर इनके मन्दिर लोगों ने निर्मित कर दिए। इनमें एक मन्दिर मशोबरा से डेढ़ किलोमीटर नीचे घने देवदारों के वृक्ष के नीचे है जहां वर्ष में सीपुर नाम से एक मेले का आयोजन होता आ रहा है।

दूसरा मन्दिर अन्नाडेल (कैथू) के पास जंगल के मध्य स्थित है। तीसरा मल्याणा नामक गांव में स्थित है। यह गांव कसुम्पटी से नीचे जाकर है। चौथा मन्दिर बिहार गांव में है जो धानु देवता के नाम से प्रसिद्ध है।

किवदन्ती के अनुसार एक बार एक ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि वह धानु नामक देवता की पूजा करें। पहले दिन उसके समझ में कुछ भी नहीं आया तथा वह इसी सोच में पड़ गया कि आखिर यह कौन सा देवता है। फिर कुछ अनहोनी और अनिष्टकारी घटनाएं होने लग पड़ी। उस ब्राह्मण के घर एक दुधारू गाय थी जिसके सुन्दर बछड़ा हुआ था। गाय सुबह अन्य पशुओं के साथ चुगने जाया करती और शाम को जब घर में आती तो वह ब्राह्मण देखता कि उस गाय के थन सूखे होते। ऐसा प्रतीत होता था कि किसी ने उस गाय का दूध पी लिया हो। धीरे-धीरे इस बात का पता सभी गांव वासियों को चल पड़ा। एक दिन सभी ने इस बात की जानकारी हासिल करने के लिए गाय का पीछा किया और देखा कि वह गाय एक धान के खेत में खड़ी होकर एक नाग को दूध पीला रही है। इस चमत्कार को देखकर लोग हैरान हो गए। तत्काल ब्राह्मण को स्वप्न की बात याद आ गई और वह समझ गया कि अवश्य ही यह कोई देवता है। इसलिए लोगों ने श्रद्धा से उस नाग को देवता मान लिया और जहां यह घटना हुई वहां विधिवत मन्दिर की स्थापना लोगों ने कर दी। क्योंकि धान के खेत में यह देवता प्रकट हुआ था इसलिए लोगों ने इस देवता को "धानु देव" यानि धान के खेत में वास करने वाला देवता कहना शुरू कर दिया।

कई दिनों तक यहां बकरे की बलि की प्रथा चलती रही। बाद में बलि बन्द कर दी गई और केवल प्रसाद के रूप में हलवा ही चढ़ाया जाता है।

कोटेश्वर महादेव मन्दिर

कोटेश्वर महादेव एक अर्से तक हिमाचल प्रदेश की रियासत का संचालन करते रहे हैं। इसलिए ही इस रियासत के अधिकतर गांव आज भी इस देवता को इष्टदेव के रूप में पूजते हैं। कोटेश्वर महादेव का अर्थ है— उच्च श्रेणी का ईश्वर। अर्थात् "कोटि" का अर्थ है —"उच्च श्रेणी" और ईश्वर—परमात्मा।

महादेव का मन्दिर कुमारसेन गांव के नीचे मंढोली गांव में स्थित है। यह

विशालकाय मन्दिर पहाड़ीशैली का उत्कृष्ट नमूना है। मूल मन्दिर मंढोली के समीप गांव में है। यह काफी छोटा है।

बताया जाता है कि कोटेश्वर महादेव ने राज्य चलाने हेतु प्रत्येक घर से एक-एक व्यक्ति नियुक्त किया था। इस सम्बन्ध में अनेकों किवदन्तियां प्रचलित हैं। एक के अनुसार हजारों वर्ष पूर्व कोटखाई के सराटा गांव में कोटेश्वर महादेव का पुराना मन्दिर ओलावृष्टि के कारण ध्वस्त हो गया। साथ ही अन्य गांव की धन-सम्पत्ति भी नष्ट हो गई। इन्द्रदेव के इस विराट रूप से यह मन्दिर टूट कर रोहड़ू की पब्बर नदी में जा गिरा और हाटकोटि जा पहुंचा। वहां कोटेश्वर ने मां हाटेश्वरी की शरण ले ली। यहां शिवलिंग रूप में महादेव रहने लगे।

एक बार घरखेरों (गोरखों) के भयंकर आक्रमण से इस क्षेत्र में आतंक फैल गया। यहां तक कि मां की मूर्ति को चुराने का भी प्रयास किया गया। मां ने विराट रूप धारण किया और कोटेश्वर महादेव ने भी मां का साथ दिया। तभी से हाटेश्वरी मां के मन्दिर में कोटेश्वर महादेव की पूजा की जाती है। इसी स्थान से कुमार सेन में कोटेश्वर महादेव का आगमन हुआ था। इस सन्दर्भ में भी एक रोचक कथा कही जाती है। इसके अनुसार दो विद्वान ओबड़ू और शोबड़ू हाटकोटी दर्शनार्थ पहुंचे। ये सराज परगणे के निवासी थे। जब वहां उन्हें यह आभास हुआ कि माता के साथ मन्दिर में कोई दूसरी शक्ति भी है तो उन दोनों विद्वानों ने कोटेश्वर-महादेव को एक तुम्बे में बन्दी बना लिया और अपने साथ ले आए। वे कोटेश्वर को सतलुज में फेंकना चाहते थे। लेकिन विद्वान इस बात से अनभिज्ञ थे कि कोटेश्वर के साथ उनकी तीन बहिनें भी रक्षा के लिए खड़ी है। इन तीनों देवियों के मन्दिर बाहरी सराज में रवेकसू कचेड़ी और कोटी में स्थित है।

रास्ते में ओबड़ू और शोबड़ू के हाथ से वह तुम्बा छूट गया और बन्दी कोटेश्वर महादेव मुक्त हो गए। स्थान शम्भल था। यह स्थान शिमला-रामपुर राजमार्ग के दाहिने ओर किंगल नामक कस्बे से लगभग तीन किलोमीटर पीछे बसा है। अब कोटेश्वर महादेव ने अपनी महिमा फिर प्रकट की और अजगर का रूप धारण करके वहीं के निवासी पंडित धनीराम को दर्शन दिए। पंडित तत्काल समझ गया कि यह कोई देव रूप है। उसने श्रद्धापूर्वक जब पुकार की तो अजगर ने छिपकली का रूप धारण किया और पण्डित ने एक मिट्टी के बर्तन में उसे रख दिया। दूसरे दिन जब उस बर्तन को देखा तो उसमें छिपकली के स्थान पर त्रिमुखी मूर्ति पड़ी थी। इस तरह पंडित ने सभी लोगों को यह घटना बताई और उसके उपरान्त सभी ने इसे इष्टदेव मान कर पूजना प्रारम्भ कर दिया।

बताया जाता है कि इस समय कुमारसैन में कोई राजा नहीं था। और शोली के राक्षसवृति के राजा मंभूराय का आतंक पूरे क्षेत्र में फैल चुका था। इसके मुक्ति पाने के लिए लोगों ने कोटेश्वर महादेव का आह्वान किया। इस तरह कोटेश्वर को लोगों ने अपना राजा स्वीकार किया और मंभूराय के आतंक से क्षेत्र मुक्त हो गया। इसी दौरान

से देव तन्त्रीय प्रशासन प्रणाली का यहां प्रारम्भ हुआ तथा कोटेश्वर महादेव अपने तथा अपने कारदारों के माध्यम् से राजपाठ का काम चलाने लगे। उस समय का मंडोली में कोटेश्वर महादेव का निर्मित मन्दिर आज भी उन दिनों की स्मृतियां ताजा करवाता है। यह प्रणाली 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलती रही। आज भी कोटेश्वर महादेव को वहां के लोग इष्टदेव के रूप में मानते हैं।

कोटेश्वर महादेव अब मन्दिर से बाहर रथ के रूप में निकलते हैं। रथ में कई प्रतिमाएं जड़ी जाती है। इनके चारों तरफ अनेकों आभूषण व रंग-बिरंगे कपड़े नीचे की ओर लटके देखे जा सकते हैं। रथ के ऊपर बड़ा छतर लगा रहता है।

चतुर्मुख देवता मन्दिर, कोटगढ़

शिमला से लगभग 65 किलोमीटर दूर स्थित नारकण्डा पहुंचने पर जब रामपुर की तरफ उतराई लगती है तो रास्ते में कुमारसैन नामक जगह आती है। यहीं से कुछ पीछे ओडी गांव से थानेधार और कोटगढ़ के लिए लिंक मार्ग चला गया है। यह स्थान लगभग 31 किलोमीटर दूर है। इसी क्षेत्र का चतुर्मुख देवता वासी माना जाता है। खड़ाग गांव इसी क्षेत्र में है। यहां भी देवता का वास स्थान है। पहले यह देवता खड़ाग नामक गांव में रहा करता था लेकिन कोटगढ़ के लोगों से प्रसन्न होकर यह देवता यहां भी आ गया। खड़ाग गांव में देवता का प्राचीन पहाड़ी शैली में निर्मित मन्दिर आज भी दर्शनीय है।

लोकमान्यतानुसार बहुत सालों पूर्व इस क्षेत्र में राक्षसों का आतंक था। वे लोगों को परेशान करते रहते थे। लेकिन कोटगढ़ में एक युवक था जिसने इन राक्षसों का अनेक तरह से मुकाबला किया और लोगों को उनके अत्याचारों से बाचाया। इस युवक के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गई। एक दिन जब उसकी मृत्यु हुई तो लोगों को बहुत दुख हुआ। उसने जो जन हित में कार्य किए थे उनको दृष्टिगत रखते हुए लोगों ने मरणोपरान्त उस युवक की पूजा शुरू कर दी। बताया जाता है कि मरने के बाद भी वह लोगों की सहायता करता रहा, उनकी इच्छा पूर्ण करता रहा।

कुछ लोगों की धारणा है कि वह युवक किसी राक्षस से युद्ध करते हुए अपनी एक आंख खो बैठा था जिससे उसे काणा देवता के रूप में लोगों ने पूजा। कुछ समय बाद न जाने किस कारण वह रूष्ट हो गया और उसने बलियां लेनी शुरू कर दीं। इसने राक्षसों की तरह लोगों को मारना भी शुरू कर दिया। रोज लोगों की हत्या न करें इस लिए लोगों ने हर महीने सक्रान्त के दिन स्वतः ही उसको एक मानव देना स्वीकार कर लिया। हर घर से हर महीने एक मनुष्य उसे दे दिया जाता था। वहीं एक बुढ़िया की सात कन्याएं थीं, धीरे-धीरे काणा देवता के लिए बलि देते हुए उसकी केवल एक कन्या ही रह गई। एक दिन उसकी बारी भी आ गई। बुढ़िया परेशान थी। अन्तिम बेटी की बलि वह कैसे दे देती। इस भय से वह अपनी पुत्री को लेकर वहां से भाग निकली और कई दिनों बाद वह जंगलों से भागती हुई बुशहर रियासत के एक गांव में पहुंच गई। वहां उसने

सुना कि तीन भाई वहां देव रूप में स्थापित है। वह अपनी पुत्री के साथ उनके मन्दिर में पहुंची और पुत्री के प्राणों की रक्षा के लिए भीख मांगने लग गई। दया भाव से उन देवताओं ने बुढ़िया को वचन दिया कि वे उसकी पुत्री की अवश्य रक्षा करेंगे। उसने उसी विश्वास से उनको श्रद्धासुमन अर्पित किए और वापिस घर लौट आई। जैसा उन तीन देवताओं ने उसे समझाया था नियत तिथि को उसने अपनी पुत्री बलि के लिए नहीं भेजी। इस पर काणा देवता क्रुद्ध हो गया और उसकी गर्जना से सारा गांव कांप गया। लोग एकत्रित हुए। जब उन्हें पता चला कि बुढ़िया ने अपनी पुत्री को नहीं भेजा है तो उन्होंने जबरदस्ती उसको घसीट लिया। बुढ़िया असहाय थी, रोने-बिलापने के सिवा कर भी क्या सकती थी। वह निरन्तर उन तीनों देवताओं को याद करती रही। कुछ ही पलों में निर्मल आकाश काले बादलों से भर गया। तत्काल बादल फटे और सारा जल काणा देवता के मन्दिर पर गिर गया। मन्दिर सहित देवता भी बह गया। मन्दिर की जगह अब चट्टाने शेष थीं।

सारे ग्रामवासी इस तरह की घटना से हैरान हो गए। इस पर लोगों ने उस बुढ़िया से सच्चाई जाननी चाही। उसने करूण भाव से उन तीनों की गाथा जब लोगों को सुनाई तो उनके मन में उन देवताओं के प्रति सहज ही श्रद्धा और आदर जाग गए। इस पर लोगों ने उन देवताओं को अपना इष्ट मान लिया। वे वास्तव में खराण नामक गांव के देवता थे। लोगों ने निर्णय लिया कि इन तीनों में से एक भाई को वे अपने गांव लाकर उसका मन्दिर बनाएंगे लेकिन तीनों में से यहां किसे लाया जाए यह निर्णय कठिन था। इस पर लोगों ने निर्णय देवताओं पर ही छोड़ दिया।

एक बार गांव खराण में देवताओं का मेला लगा। उन तीनों के रथ सजाकर मेले में जातरों के लिए लाए गए। कोटगढ़ इलाके के लोग भी मन में विनती करते हुए वहां पहुंच गए। उन्होंने वहां जाकर मन में विनती की कि जो देवता उनके साथ चलना चाहता है उसका रथ फूल जैसा हल्का हो जाए, ऐसा ही हुआ। मध्य में जो रथ लोगों ने उठा रखा था वह हल्का हो गया अन्य दो रथ बहुत भारी। हल्का रथ उन लोगों की तरफ झुक गया। उन्होंने रथ को अपने साथ लाना चाहा लेकिन लोगों ने विरोध किया। आपस में भारी युद्ध हुआ लेकिन उस देवता ने स्वयं अदृश्य रूप से लोगों कोसहायता की। यह चतुर्मुख देवता था। अन्य भाईयों के नाम जेशर और इशर थे। अन्त में जब लोगों ने देखा कि देवता खुद जाने का इच्छुक है तो उन्होंने उसे कोटगढ़ वासियों के साथ भेज दिया। लोग चतुर्मुख को अपने गांव लाए उसका धूमधाम से स्वागत किया और एक मन्दिर बनाकर उसकी वहां स्थापना कर दी। अन्य दो देवताओं के मन्दिर खणाहण या खराण गांव में आज भी दर्शनीय हैं। लोगों के मध्य इन तीनों भाईयों के लिए आपार श्रद्धा और आस्था है। चतुर्मुख को आज सबसे बड़े देवता का खिताब प्राप्त है। वह हर वर्ष अपने क्षेत्र की परिक्रमा करता है और देवता की जगह-जगह जातरा होती है। इस देवता ने लगातार केदरनाथ की यात्रा कालान्तर में की है जिससे अन्य देवताओं ने इसे प्रधान देवता माना है।

लोगों की मान्यता है कि ये देवता लोगों का दुख-सुख का आज भी उसी तरह साथी है जैसे पहले हुआ करता था। इसी देवता ने भूत-प्रेतों और राक्षसों का इस क्षेत्र से पहले भी संहार किया था। इससे जुड़ी परम्पराएं आज भी वैसी ही हैं।

डोम देवता मन्दिर, शरमला

शरमला गांव हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर बसे शिलारु गांव से लगभग 13 किलोमीटर की दूरी पर अपने प्राचीन श्री डोम देवता मन्दिर और उससे जुड़ी कथा के लिए प्रसिद्ध है। यहां देवता का तीन मंजिला मन्दिर दर्शनीय है। मन्दिर के दरवाजे पर लिखी पक्तियों से पता चलता है कि इस मन्दिर का वर्तमान निर्माण सन् 1909 ईसवी में कुमारसेन रियासत के वजीर श्री सुखचैन सिंह ने करवाया था। यह बात दरवाजे में जड़ी चांदी के पतरे पर अंकित है। इस मन्दिर की धरातल चारों तरफ पांच-पांच मीटर है और धरातल से 20 मीटर ऊंचा है। मन्दिर का ढलवां छत है जिस पर स्लेटों की छवाई की गई है। मन्दिर का स्थानीय शिल्प सुन्दर है। शिखर पर कलश जड़े गए हैं। छत के किनारों पर लकड़ी की झालर बनाई गई हैं। यह झालर हवा के झोंकों से नृत्य मग्न रहती है। पहली मंजिल से ऊपर काठ की सीढ़ियां लगी हैं जो एक बरामदे में पहुंचती है। यहां उत्कृष्ट नक्काशी लकड़ी के तख्तों पर देखी जा सकती है। पूर्व की ओर खुलने वाले दरवाजे पर अनेक सिक्के जड़े हुए हैं। तीसरी मंजिल में डोम देवता का वास है। तख्ते पर यहां देवता के मुहरे रखे गए हैं। एक फुट के करीब ऊंची यहाँ छः प्रतिमाएं हैं। ये अष्ट धातु की हैं जिनके सिर पर मुकुट और एक-एक छतर सजाया गया है। साथ ही 40 के करीब छोटी प्रतिमाएं हैं जो देवता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

कहते हैं कि कुमारसेन क्षेत्र में बहुत पहले एक ठाकुर रहा करता था। वह खेती का काम करता था और जो बाकी समय बचता उसे वह और उसकी पत्नी पूजा-पाठ में व्यतीत कर दिया करते थे। उन दोनों का दुर्भाग्य यह था कि उनके कोई सन्तान न थी। एक बार श्री हाटेश्वरी मन्दिर में वे दोनों देवी की अराधना के लिए चल दिए। वहां कई दिनों तक उन्होंने देवी माँ की अराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिए और वर मांगने को कहा। इस पर उन दोनों ने पुत्र न होने की बात कही। देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें पुत्र का वरदान दे दिया। नौ महीने के बाद ही उनके घर देवी कृपा से दो बेटे हो गए। इनके नाम डोम और कोण रखे गए। बचपन से ही ये दोनों देवी कृपा से तेजस्वी और चमत्कारी थे। वह अपने इस बल को लोगों की सेवा में ही लगा लिया करते जिससे लोगों के बीच उनकी चर्चाएँ होने लग गई। अलग-अलग घटनाओं में उन्होंने गांव की एक बुढ़िया को अन्धा कर दिया जो जादू टोने से लोगों को परेशान किया करती थी। इसी तरह एक अजगर को एक दिन अपने तीर कमानों से उन्होंने जब मारा तो लोग चकित रह गए। लेकिन यह तीरअन्दाजी इसलिए उनके जीवन में पीड़ादायक सिद्ध हुई कि वे अधिक समय इसी में लगा लेते।

एक बार उन्होंने सुना कि दिल्ली में निशानेबाजी का उत्सव हो रहा है। वे दोनों इस में भाग लेने चले गए। वहां जब वे पहुंचे तो उन्होंने अपनी तीरअन्दाजी से सबको हरा दिया। इस पर राजा प्रसन्न हुआ और उनको अपने पास नौकर रख लिया। लेकिन राजा की पत्नी ने ऐसा करने से मना किया था क्योंकि उनके चमत्कार से वह भाँप गई थी कि वे दोनों भाई साधारण युवक नहीं है। राजा ने पत्नी का कहना मान लिया और उनको नौकर रखने से मना कर दिया। लेकिन राजा उनका बहुत सम्मान करता था। इसलिए उसने उन्हें स्वर्ण मुद्राओं से भरा एक चरू जिसे बड़ा ताँबे का घड़ा भी कहते हैं, प्रसन्नचित से दे दिया लेकिन दोनों ने यह बहाना किया कि वे इसको नहीं उठा सकते। ऐसा बहाना उन्होंने इसलिए किया था कि राजा ने दो देवताओं को कारावास में बन्दी बनाया हुआ था। वे थे श्रीगुल और महासू, लेकिन राजाओं (पहले ये दोनों राजा ही थे) को मुक्त करने से राजा ने मना कर दिया। इस पर वे युद्ध के लिए तैयार हो गए लेकिन राजा की सेना उनके बल को भली-भाँति जानती थी। इस कारण राजा को दोनों मुक्त करने पड़े। इस तरह वे चारों चरू को लेकर वहां से उड़ गए और अपने क्षेत्रों में पहुंच गए।

जहां इन दोनों राजाओं के महल थे वहीं कहीं उस चरू को डोम और कोण ने छुपा दिया लेकिन वहाँ का ठाकुर शक्तिशाली था उसे जब धन का पता चला तो उसने इन दोनों को मार दिया और जब चरू को खोद कर निकालने लगा तो वह अदृश्य हो गया और वहां के लोगों ने उस जगह पर एक निर्मल बावड़ी को उदय होते देखा। यह बांवड़ी आज भी बीणू गांव में स्थित है। इसी के किनारे लोगों ने इन दोनों को जला दिया था।

इसके बाद क्षेत्र में आतंक और महामारी फैल गई। लोग परेशान हो गए। लोग जानते थे कि उन दोनों युवकों की हत्या गलत हुई है इसलिए उन्होंने यह निर्णय किया कि जहां वे जलाए गए थे वहां आकर उनसे क्षमा मांगी जाए। जब लोग वहां गए तो दो सुन्दर प्रतिमाएं विद्यमान थीं। ठाकुर ने जैसे ही उन्हें स्पर्श करने हेतु हाथ बढ़ाया वे लुप्त हो गई। लोग चारों तरफ उनकी तलाश में भागते रहे और एक दिन पता चला कि वे दोनों प्रतिमाएं कांगड़ा में नगरकोट देवी के मन्दिर में प्रकट हुई हैं। यह सुनकर वह ठाकुर जो रजाणा निवासी था वहां पुरोहितों के साथ पहुंच गया। देवी ने प्रतिमाओं को देने से मनाही कर दी। लेकिन वे अपनी गलती का प्रायश्चित करते रहे, देवी से हाथ जोड़ कर विनती करते रहे कि वे अपने गांव में इन दोनों को ले जाकर वहां उनकी स्थापना करना चाहते हैं। अन्त में देवी ने उन्हें वे मूर्तियां दे दी और ठाकुर और अन्य लोगों ने उन्हें श्रद्धा और आदरपूर्वक कन्धों पर उठाया और अपने गांव ले आए। शरमला गांव में आकर ठाकुर ने एक बहुत बड़ा अनुष्ठान किया और भव्य मन्दिर बनाकर वहां वे प्रतिमाएं रख दीं। नगरकोट से लाने पर इन दोनों को नगर-कोटिया देवता भी कहा जाता है।

इसके बाद मन्दिर में विधिवत देवता की पूजा हुई तथा लोगों को उसका पूर्ण

लाभ हुआ। लोग कहते हैं कि यहां से कुछ दूर बसे गथाण गांव के लोग यहीं देवता की पूजा के लिए आया करते थे। एक दिन देवता के बिना पूछे उन्होंने अपने गांव में डोम देवता का मन्दिर बना दिया। हालांकि देवता इस पर प्रसन्न था लेकिन लोग एक प्रतिमा भी नहीं देना चाहते थे। देवता ने स्वप्न में कारदारों को गथाण मन्दिर जाने की बात भी कही थी। गथाण के पुजारी ने चुपचाप एक दिन मन्दिर में पूजा-पाठ करते हुए एक मूर्ति उठा ली और गथाण ले आया। वहां भी मन्दिर में एक मूर्ति स्थापित है। इससे यह स्पष्ट लगता है कि गथाण मन्दिर में डोम देवता का जुड़वां भाई कोण देवता गया है। लोग कोण देवता के नाम से ही यहां पूजा-पाठ करते आए हैं। बिशू मेले में इनका भव्य स्वागत होता है।

सूर्य मन्दिर; नीरथ

शिमला से 122 कि०मी० और रामपुर से 18 कि०मी० दूर हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग के नीचे प्राचीन नीरथ गांव बसा है। गांव के बिल्कुल ऊपर मार्ग के साथ नीरथ का सूर्य मन्दिर स्थित है। सतलुज कुछ ही दूरी पर बह रही है। गांव को सदैव नदी की पवित्र लहरें सींचती रहती हैं। दत्त नगर से यहां की दूरी 6 किलोमीटर के लगभग रह जाती है। यह सूर्यपूजा का हिमाचल में एकमात्र स्थान माना जाता है क्योंकि अन्यत्र कहीं भी सूर्य मन्दिर स्थित नहीं है। इसकी वास्तुकला और सौन्दर्य अनूठे हैं। यह मन्दिर दो भागों में निर्मित है। अग्र भाग 12.80 फुट का वर्गाकार मण्डप है। यह माना जाता है कि इस मण्डप का निर्माण गांव के बसने के उपरान्त ही किया गया है। मूल मन्दिर अति पाषाण है जो 28 फुट के करीब ऊंचा शिखराकार है। इसके मण्डप के ऊपर स्लेट की ढलवां छत है। गर्भगृह आयताकार है जो 12 कोनों से युक्त सुन्दर है। इसकी बाहर की लम्बाई लगभग 10.83 फुट है और चौड़ाई लगभग 7.90 फुट। शिखर तक लघु ताकों में कई उत्कृष्ट कलात्मक पत्थर की प्रतिमाएं स्थापित हैं।

गर्भगृह में पाषाण सूर्य प्रतिमा स्थापित है। यह लगभग 3 फुट ऊँची और 4 फुट चौड़ी है। सूर्य को सप्त अश्व रथ पर सवार दर्शाया गया है। नृत्यमग्न गणेश, शिव-पार्वती आदि अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां भी अति प्राचीन हैं और कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। सूर्य पत्नी छाया और संज्ञा को भी दर्शाया गया है। कई ऐसी प्रतिमाएं हैं जिनकी पहचान नहीं की जा सकी है। बाहरी दीवार पर वाराह अवतार, लक्ष्मीनारायण, आठ भुजाओं वाले गणेश और ब्रह्मा की मूर्तियां स्थापित हैं। मध्य भाग में चारों तरफ सूर्य की प्रतिमाएं और सिंह निर्मित है। सूर्य मन्दिर के साथ एक अन्य मन्दिर है जिसे जगदम्बा भवन कहते हैं। कुछ लोग इसे छत्रेश्वरी देवी मन्दिर मानते हैं। इसके मुख्य दरवाजे पर लोक शैली की काष्ठ पर खुदाई का कार्य अति सुन्दर है। भीतर दुर्गा की प्रतिमा स्थापित है। मन्दिर में कई शिव लिंग तथा नन्दी भी हैं। इस मन्दिर में ही अठारह होमकुण्ड भी हैं जिन्हें यहां के

मुण्डा और शांद उत्सवों में प्रयोग किया जाता है। मन्दिर के निर्माण के बारे में कोई प्रमाणिक तथ्य और प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं लेकिन इसका निर्माण काल सातवीं शताब्दी के आसपास का बताया गया है।

सबसे पहले इस मन्दिर का उल्लेख 1908 में मार्शल ने किया था। उन्होंने यहां कुछ शिलालेखों का जिक्र भी किया था। परन्तु 1909 में जब ए०एच० फ्रेंक ने उन शिलालेखों को खोजना चाहा तो वह सफल नहीं हुए। वानदेर स्लीन ने अपनी पुस्तक 'फोर मंथस कैम्पिंग इन द हिमालयन' में सूर्य मन्दिर का उल्लेख तो किया है लेकिन अधिक जानकारी नहीं दी है। इससे लगता है कि इस मन्दिर की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। राहुल सांस्कृत्यायन ने भी इस मन्दिर का उल्लेख अपनी कृति किन्नर देश में किया है। 1810 के आसपास गोरखों के आक्रमण करने से भी इस मन्दिर को क्षति पहुंची और उन्होंने यहां से कुछ लूटपात की। बताया जाता है कि मन्दिर का स्वर्ण कलश वे चुराकर ले गए थे। मन्दिर में एक गोलाकार गुम्बद है जिसके ऊपर वह कलश स्थापित था।

इस मन्दिर को भगवान परशुराम द्वारा स्थापित किया बताया जाता है। जब महाभारत युद्ध में भारी नर संहार हुआ तो वह अपने हजारों शिष्यों के साथ हिमालय की ओर निकल पड़े। ये शिष्य विभिन्न सम्प्रदायों जैसे शैव, शाक्त और दत्तात्रेय के थे। परशुराम जी ने उन्हें विभिन्न स्थानों पर स्थापित कर दिया। सतलुज घाटी में इनसे सम्बन्धित कई स्थान महत्वपूण माने जाते हैं जिनमें दत्तात्रेय मन्दिर भी एक है। यह धारणा है कि दत्तनगर में उसी समय उन्होंने अपने कई सौ शिष्यों को सूर्य की स्थापना करके उनकी तपस्या के निर्देश दिए और तभी से यह स्थान सूर्य पूजा का एक प्रधान केन्द्र बन गया। हालांकि आजकल यह स्थल हर तरह की उपेक्षाओं का शिकार हो रहा है लेकिन कालान्तर में यह सूर्य पूजा का विशाल केन्द्र माना जाता था। पुरातात्विक दृष्टि से भी यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। हिमाचल में जिस तरह से शक्तिपीठों और शैव प्रधान मन्दिरों में श्रद्धालुओं की भीड़ देखी जाती है उससे यह पूर्णतया वंचित है। ग्रामीण लोग भी इसे मात्र एक पुराना किला समझकर ध्यान नहीं देते।

"'मुझे यहां अक्तूबर, 1989 के प्रथम सप्ताह में जाने का अवसर मिला था। तेज धूप थी। सड़क के किनारे जीप खड़ी करके मैं सीधा मन्दिर की तरफ चला गया। गेट बन्द था। बाहर बहुत गन्दगी थी हालांकि एक पक्की दीवार के मध्य यह सुरक्षित है। मन्दिर में ताला लगा हुआ था। काफी देर बाद एक लड़का वहां आया। वह पहले मन्दिर के सामने एक खुली कोठी में गोलियां खेल रहा था। उसने परिचय दिया कि वह भाषा विभाग की तरफ से है। मन को एक सुख मिला कि कोई सम्बन्धित व्यक्ति तो मिला लेकिन दूसरे ही क्षण जब उसने यह कहा कि पुजारी के पास मन्दिर की चाबियां हैं और वह कई दिनों से गांव में नहीं तो स्वभाविक था मन निराश हो गया। बस एक-दो परिक्रमा करके ही सन्तुष्ट होना पड़ा। पुरातत्व विभाग यदि इस मन्दिर की सुरक्षा के लिए उचित कदम न उठाए तो यह खण्डहर बन कर रह जाएगा। क्योंकि

लोगों में श्रद्धा इस मन्दिर के प्रति नहीं है। मन्दिर से सम्बन्धित प्राचीन परम्पराएं अब नहीं हैं और कुछ भवन मात्र खण्डहर बन गए हैं। प्राचीन युग में लगता है मन्दिर के अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण भवन भी यहां थे।"

दत्तात्रेय मन्दिर

हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड पर, शिमला से लगभग 128 किलोमीटर और रामपुर से 11 कि०मी० पश्चिम की ओर सतलुज नदी के किनारे ऐतिहासिक नगर दत्तनगर बसा है। यह गांव मुख्य मार्ग के नीचे अवस्थित है। इसी गांव के मध्य प्राचीन दत्तात्रेय मन्दिर स्थित है। इस गांव का नामकरण भी इसी मन्दिर के नाम पर हुआ बताया जाता है। मन्दिर अधिक पुराना नहीं है। 1803-1815 के मध्य में इसका निर्माण बताया जाता है। अर्थात् गोरखों के आक्रमण के बाद यह मन्दिर बनाया गया है। मन्दिर के चारों तरफ चारदीवारी है जो चौकोर है। मन्दिर की छत स्लेट से छवाई गई है जो ढलवां है। मन्दिर दो भागों में बना है। बाहरी भाग वर्गाकार कमरा है। यह चार मीटर का है। मूर्ति-कक्ष चार मीटर लम्बा और दो मीटर के लगभग चौड़ा है। यहां लकड़ी की वेदिका पर भगवान दत्तात्रेय की खड़ी मूर्ति स्थापित है। यहीं पर माता अनुसुईया और अत्रि ऋषि की मूर्तियां भी हैं। ये मूर्तियां तांबे की चादर से बनाई गई हैं जो एक मीटर ऊंची है।

लोगों की मान्यता है कि पहले इस मन्दिर में स्वर्ण प्रतिमाएं थीं लेकिन जब गोरखों ने आक्रमण किया तो वे उन्हें अपने साथ लूटकर ले गए। इस मान्यता के अनुसार यह मन्दिर इस लूट-पाट के बाद पुनः निर्मित हुआ है। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि यदि गोरखे अपने साथ सोने की मूर्तियों को ले गए थे तो यह मन्दिर बहुत पहले किसी दूसरी शैली में बनाया गया होगा। और गोरखों ने अपने आक्रमण के समय नष्ट कर दिया होगा।

मन्दिर के भीतर कई प्राचीन कलात्मक धातु की बनी प्रतिमाएं रखी गई हैं। इनमें हिन्दू देवी-देवताओं और भगवान बुद्ध की प्रतिमाएं हैं। पुजारी के अतिरिक्त मन्दिर के भीतर कोई अन्य व्यक्ति नहीं जा सकता है। यह परम्परा भी मन्दिर निर्माण के साथ चली आ रही हैं। मन्दिर की दीवारों पर जो पत्थर प्रयुक्त हुए हैं उन पर कलात्मक खुदाई की गई है। मन्दिर के बाहर चारदीवारी के भीतर ही कई अन्य प्रतिमाएं रखी हुई हैं जो पत्थर की हैं। इस मूल मन्दिर के साथ भण्डार-कक्ष भी है। इसकी दीवारों पर लोक-कला के नमूने देखे जा सकते हैं। भण्डार का दरवाजा लकड़ी का है। इस दरवाजे पर बजरंगबली की आकृति बनाई गई है। इसके बाहर तथा आस-पास भग्नावस्था में ध्वस्त मन्दिरों की कुर्सियां, खण्डित प्रतिमाएं और मन्दिर के टूटे शिखर बिखरे पड़े हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि दत्तनगर कालान्तर में मन्दिरों का नगर रहा है। इन्हें आठवीं शताब्दी के बाद का माना जाता है।

कुछ समय पूर्व इस गांव की भूमि में खुदाई के समय प्राचीन ईंटों की दीवारें

उपलब्ध हुई हैं। यह बात गोरखों के लूट-पाट की ओर संकेत करती है कि उन्होंने इस ऐतिहासिक मन्दिरों के नगर को पूर्णतया नष्ट कर दिया था। मन्दिर के पूर्ण इतिहास के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। मन्दिरों से सम्बन्धित जो पुराना रिकार्ड इत्यादि था वह आग में नष्ट हुआ बताया जाता है। इस मन्दिर का प्रबन्ध 1957 से स्थानीय ग्रामीण कमेटी कर रही है। वास्तव में यह मन्दिर भी अब जीर्ण-शीर्ण अवस्था से है। मन्दिर में सम्बन्धित वस्तुएं इधर-उधर नष्ट हो रही हैं।

दत्तात्रेय महाराज को भगवान परशुराम का गुरू माना जाता है। एक मान्यतानुसार दत्तात्रेय स्वामी भगीरथ ही की तरह पृथ्वी पर एक पवित्र नदी को लाना चाहते थे। बाणासुर जब सतलुज नदी को लाया तो सराहन जिसे प्राचीन शोणितपुर बताया जाता है, वहां से उसने नदी को आगे छोड़ दिया। उसने आस-पास बसे सभी महत्वपूर्ण स्थल अपने तीव्र वेग में प्रवाहित कर दिए जिसमें दत्तनगर भी था। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं कि नदी के वेग और गोरखाओं का आक्रमण यहां के प्राचीन मन्दिर को नष्ट करने के लिए उत्तरदायी हैं। कुछ वर्षों पूर्व यहां एक शिवलिंग भी प्राप्त हुआ है। हो सकता है यहां भगवान शिव का मन्दिर रहा हो। प्राचीन मन्दिर जब सतलुज की धारा में बह गया तो परशुराम जी ने अपने गुरु की स्मृति में दत्तात्रेय मन्दिर का निर्माण किया।

पहले से ही यह ब्राह्मणों का गांव रहा है। यहां उस दौरान पूर्ण विधि से पूजा-अर्चना हुआ करती थी। सभी व्रत तथा त्यौहार यहां मनाए जाते थे तथा 14 महत्वपूर्ण पर्व भी इसमें शामिल थे। लेकिन अब दीवाली और दत्तात्रेय स्वामी की जयन्ती ही यहां मनाई जाती है। मन्दिर में सुबह-शाम पूजा होती है। मन्दिर परिसर में शीतल जल की बावड़ी है। जिसके आस-पास भी पत्थर की कई प्रतिमाएं हैं। मन्दिर और भण्डार-कक्ष को चारों तरफ से वृक्षों ने घेर रखा है। बाहर घास का मैदान है।

पुरातात्विक दृष्टि से इस स्थान का बहुत महत्व है। सूक्ष्मता से अध्ययन और सर्वेक्षण करने पर यहां और भी तथ्य उजागर हो सकते हैं।

भीमकाली मन्दिर परिसर, सराहन

शिमला से लगभग 184 कि०मी० दूर और समुद्रतल से 2000 मीटर की ऊंचाई पर हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग के दाईं ओर पहाड़ों की गोदी में बसा है। प्राचीन काल में यह स्थान शोणितपुर के नाम से विख्यात बाणासुर की राजधानी के रूप में विकसित था। आज यह सराहन के नाम से देश-विदेश में जाना जाता है। एक प्रमुख शाक्त केन्द्र के अतिरिक्त 17वीं शताब्दी के अन्त तक यह स्थान बुशहर रियासत की राजधानी रहा और अब प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र और पर्यटन स्थल के रूप में लोकप्रिय है। वर्तमान में इस जगह की ख्याति यहां स्थित प्राचीन भीमाकाली मन्दिर के कारण ही है जो ऐतिहासिक एवं कला की दृष्टि से एक अद्‌भुत स्तम्भ है। रामपुर से यह स्थान 40 कि०मी० पर है।

कालान्तर में शोणितपुर के नाम से एक साम्राज्य की राजधानी की नींव बाणासुर ने रखी बताई जाती है। यहीं पर श्रीकृष्ण और बाणासुर के युद्ध की घटना भी प्रमुख है। बताया जाता है कि बाणासुर की पुत्री उषा ने स्वप्न में एक दिन एक राजकुमार को देखा और उस पर मुग्ध हो गई। उस दिन के बाद वह अक्सर उदास रहती थी। एक दिन उसकी एक प्रिय सहेली चित्रलेखा ने उसके मायूस रहने का कारण पूछा तो उसने उसे सभी कुछ बतला दिया। चित्रलेखा कल्पनाचित्र बनाने में पारंगत थी। अतः स्वप्न के अनुरूप जब उसने उस राजकुमार का चित्र बनाया तो उषा की खुशी का ठिकाना न रहा। इस पर चित्रलेखा ने उसे वचन दिया कि वह इस राजकुमार को कहीं से भी उसके पास लाएगी। इस तरह कई दिनों की तलाश के बाद उसने श्रीकृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध को उसके महल से चारपाई सहित उठाकर उषा के महल में ला दिया और उषा ने अनिरुद्ध को इसका पूर्ण उल्लेख किया। यह भी बताया जाता है कि चित्रलेखा बाणासुर की छोटी पुत्री थी। श्रीकृष्ण ने जब अनिरुद्ध के अपहरण की बात सुनी तो वह उसकी तलाश में यहां तक पहुंच गए और बाणासुर से घोर युद्ध हुआ। इस तथ्य का पता खुद बाणासुर को भी नहीं था। अन्त में पराजय बाणासुर की हुई लेकिन सारी घटना जानने पर श्रीकृष्ण ने वहीं अनिरुद्ध का विवाह उषा से कर लिया और शोणितपुर को वापिस दहेज के रूप में बाणासुर को लौटा दिया। इस तरह वर्तमान सराहन "शोणितपुर" के नाम से प्राचीन काल में फलता-फूलता रहा।

धार्मिक ग्रन्थों में शोणितपुर सम्बन्धी कही गई यह कथा विद्यमान है और विद्वानों ने सराहन को ही शोणितपुर माना है। लेकिन इस कथा के अनुसार यहां स्थापित मन्दिर के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं मिलता। यह केवल इसकी प्राचीन ऐतिहासिकता को ही दर्शाता है। यहां स्थापित भीमाकाली शक्तिपीठ को इक्कावन शक्तिपीठों में से एक माना जाता है। देवी के नामकरण और यहां जन्म के बारे में कई किंवदन्तिया उपलब्ध है। ये कथाएं मारकण्डेय पुराण और दुर्गा शप्तशती में उल्लेखित है जिससे भीमाकाली की उत्पत्ति पर जानकारी मिलती है। प्राचीन युग में पृथ्वी पर राक्षसों का साम्राज्य रहा जो देवताओं को सताया करते थे। इन राक्षसों में महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ-निशुम्भ और चण्ड-मुण्ड काफी शक्तिशाली माने गए हैं। इन्होंने हिमालय के क्षेत्रों में जब उपद्रव मचाया तो उनसे राजा इन्द्र कई वर्षों तक युद्ध करते रहे। लेकिन उन्हें इनको मारने में सफलता नहीं मिली। इसलिए इन्द्र ने सभी देवताओं और ऋषि-मुनियों को एकत्र करके भगवान शिव की शरण में जाने का निर्णय लिया। लेकिन शिवजी के पास जाकर उन्हें निराशा ही हुई क्योंकि भगवान शिव ने कहा कि इन राक्षसों को शक्ति का वरदान उन्होंने ही उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर दिया है इसलिए उन्हें ब्रह्माजी के पास जाना चाहिए। लेकिन ब्रह्मा जी ने भी अपनी असमर्थता प्रकट की और भगवान विष्णु के पास जाने को कहा। इस पर इन्द्र सहित सभी देवतागण भगवान विष्णु के पास चले गए। जब उन्होंने सारी घटना का वर्णन किया तो शेष-शैय्या पर विराजमान विष्णु जी को क्रोध आ गया। उनके मुख से एक तीव्र ज्वाला निकली। इस पर सभी

देवताओं के मुख से भी उसी तरह की ज्वाला उत्पन्न हुई। चारों तरफ धुएं के बादल फुट पड़े। इस तेज से एक कन्या ने जन्म लिया जो आदिशक्ति का रूप थी। सभी ने उस शक्ति की जय-जयकार की और अपनी रक्षा हेतु निवेदन भी किया। हिमालय के राजा हेमुकुन्त ने कन्या को एक सफेद शेर भेंट किया। कुबेर जी ने मुकुट, वरुण देवता ने वस्त्र तथा जल, तथा सभी ने मालाएं, कमल, शंख, चक्र तथा कई शक्तिपूर्ण वस्तुओं से उस शक्ति को सुसज्जित किया। इस तरह समस्त देवताओं और ऋषि-मुनियों ने भी अपनी शक्ति को उसे भेंट कर दिया। इस तरह देवी ने कहा कि उसे कई रूपों में राक्षसों के संहार हेतु जन्म लेना पड़ेगा और इसी तरह बताया जाता है कि सराहन के स्थान पर देवी ने "भीमाकाली" के रूप में जन्म लिया जिसकी स्थापना विधिवत उस समय लोगों ने की।

शक्तिपीठों की स्थापना के सम्बन्ध में पूर्व अध्यायों में व्यक्त कथा के अनुसार सती के शरीर का एक भाग यानि कान शोणितपुर में गिरा था जिससे भीमाकाली उत्पन्न हुई। इस तरह भीमाकाली का अर्थ देवी के विशाल रूप से है जिसने राक्षसों का संहार किया।

यहां प्राचीन मन्दिरों में देवी की दो प्रतिमाएं स्थापित हैं। मन्दिर के सबसे ऊपरी भाग अर्थात् आखिरी मंजिल में माता का कन्या रूप मूर्ति स्थापित है तथा इसके नीचे वाली मंजिल में विवाहित रूप। यदि उपरोक्त कथाओं पर गौर किया जाए तो उसके अनुरूप केवल देवी की उत्पत्ति पर प्रकाश मिलता है मूर्तियों और मन्दिरों की स्थापना पर नहीं। क्योंकि महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा यहां स्थापित नही है। लेकिन नाम से इस देवी की शक्ति और भव्यता का पूर्णतया आभास हो जाता है। यदि हम यह मानते हैं कि सराहन प्राचीन शोणितपुर था और यह बाणासुर की राजधानी रही है तो यहां किसी देवी की स्थापना की बात तत्कालीन कही जा सकती है क्योंकि बाणासुर से सम्बन्धित उपलब्ध कथाओं में बाणासुर ने हिरमा नामक राक्षस कन्या से विवाह किया है और उनके अठारह पुत्र-पुत्रियां हैं जिनका पूर्णतया देवी और देवताओं के रूप में पूरे किन्नौर में साम्राज्य है लेकिन हिरमा का कोई भव्य मन्दिर नहीं है। ऐसी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि बाणासुर और शोणितपुर में राजधानी के खत्म होने पर इस देवी की यहां लोगों ने स्थापना की हो। लेकिन उपलब्ध प्रमाणों के अभाव से इस बारे में हमें किंवदन्तियों पर ही निर्भर करना पड़ेगा और यह बात सत्य है कि सराहन की भीमाकाली एक शक्तिशाली देवी रही है।

कालान्तर में देवी को नरबलि की बात कही जाती है और दलाना गांव के एक बदरा नामक ब्राह्मण ने इस जगह देवी की आराधना करके नरबलि को समाप्त करवाया था। भीमाकाली का शाली पर स्थित मन्दिर और देवी का सम्बन्ध भी यहां के मन्दिर और देवी से है क्योंकि यहीं से उस ब्राह्मण के साथ देवी वहां गई बताई जाती है। दुर्गा सप्तशती, सुखसागर और प्रेमसागर में जिस सती के शरीर से देवियों की उत्पत्ति हुई

और जिस शक्ति ने राक्षसों का संहार करने हेतु विष्णु और देवताओं की शक्ति से जन्म लिया हो वह नरबलि ले यह बात अपने आप में हास्यास्पद तो है ही लेकिन गलत भी है। नरबलि तो कोई असुर देवी-देवता ही ग्रहण कर सकता है और सराहन की भीमाकाली यदि उपरोक्त दो कथाओं के आधार पर जन्मी है तो यह देवी हिरमा हो सकती है। हिमालय में हिडिम्बा और हिरमा नाम से दो देवियां हैं। हिडिम्बा ने भीम से विवाह किया है। क्या फिर "भीमाकाली" का नाम भीम से मिलता-जुलता नहीं है :—

बुशहर रियासत से सम्बन्धित एक दस्तावेज में यहां पर दो देवियों के जन्म और स्थापना की बात उपलब्ध है। एक विवाहित और दूसरा कन्या रूप। द्वापर युग में यहां एक ब्राह्मण आया। उसे साधु भी कह सकते हैं। उपलब्ध दस्तावेज में साधु कहा गया है। इसके पास एक लाठी थी। यह यहां कई दिनों तक तपस्या करता रहा। इस लाठी को वह अपने पास रखता था। जिसमें उसने किसी देवी की स्थापना की थी। तपस्या पूर्ण करने पर जब वह गया तो उसकी लाठी भारी हो गई और वह उसे उठा ही नहीं सका। साधु ने देवी रूप में इस लाठी की स्थापना यहीं पर की। इस साधु का नाम भीमगिरि था और इस देवी को इसी नाम से भीमाकाली कहा जाने लगा।

यदि भीमगिरि से भीमाकाली माना जाए तो हमें भीम से भीमाकाली भी मानना पड़ेगा।

सराहन में देवी की स्थापना का सही अनुमान लगाना कठिन है लेकिन इसे किवदन्तियों और मन्दिरों एवं मूर्ति के कारण अति प्राचीन माना जाता है। यहां स्थापित मूर्ति डेढ़-दो सौ वर्ष पुरानी मानी जाती है। यहां भीमाकाली के दो मन्दिर हैं। प्राचीन मन्दिर कुछ टेढ़ा हो गया है। इसलिए उसके साथ ही एक अन्य मन्दिर उसी के अनुरूप उसी शैली में बनाया गया है। मन्दिर भूमि से ऊपर चार मंजिला है। इसकी भूमिगत भी एक मंजिल है। लकड़ी पर की गई नक्काशी अति सुन्दर और कला का सजीव उदाहरण है। प्रवेश द्वारों को चांदी के पतरों से मढ़ा गया है। नए मन्दिर में देवी की प्रतिमाओं की स्थापना सन् 1962 में की गई है। ऊपरी मंजिल में अष्टधातु की आठ भुजाओं वाली भीमाकाली की प्रतिमा स्थापित है। चारों तरफ परिक्रमा-पथ है। प्रतिमा को चारों तरफ से एक जंगलेदार वेदिका से सुरक्षित किया गया है जिसके मध्य केवल पुजारी ही भीतर बैठ सकता है। इस नई मूर्ति का निर्माण सराहन के साथ गमसोट नामक गुफा में किया गया है। यह एक मीटर ऊंची है। इस विशाल सुन्दर प्रतिमा के साथ अन्य कई प्रतिमाएं रखी गई हैं। इनमें चामुण्डा, अन्नपूर्णा, ब्रजेश्वरी, शिव-पार्वती, गणेश और गौतम बुद्ध की। सिंहासन बहुत ही सुन्दर ढंग से सजाया गया है। देवी को सोने और चांदी के छतरों से सजाया गया है। सुन्दर कपड़े देवी की प्रतिमा को चार चांद लगाए हुए हैं। दूसरे रूप में देवी पार्वती हैं। यह प्रतिमा दूसरी मंजिल में इसी तरह स्थापित है। यह शेर पर सवार है। साथ देवी के मन्त्री और अन्य देवी-देवता भी विराज-

मान हैं। इन प्रतिमाओं को विशेष अवसरों पर पूजा-अर्चना के लिए लोग अपने घरों और गांव में ले जाते हैं। इस तरह यह विवाहित रूप है।

प्राचीन मन्दिर टेढ़ा कैसे हुआ. इस बारे में तथ्य गौण है। लोगों का मानना है कि यह यहां आए भूकम्प के कारण है लेकिन परिसरों में तथा आस-पास ऐसा कुछ भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

"मैंने अगस्त 23, 1989 में जब माता के दर्शन किए तो काफी देर यहां के लोगों के साथ जो मन्दिर से सम्बन्धित थे, बातचीत भी की। उनकी बातों से कुछ ऐसा आभास हुआ कि यह सभी देवी के प्रकोप से है। लेकिन प्राचीन मूर्ति पुराने मन्दिर में ही स्थापित बताई जाती है तथा वहां विशेष अवसरों पर पूजा की जाती है। आम लोग उसके दर्शन भी नहीं कर सकते। इसमें कई प्राचीन पाषाण प्रतिमाएं भी हैं।"

और मान लिया जाए कि यह मन्दिर भूकम्प से टेढ़ा हुआ है तो उसके समकक्ष एक दूसरा उसी तरह का मन्दिर निर्माण कैसे किया गया। उस वृद्ध की बात सही लगती है कि यह सभी देवी के प्रकोप या रुष्ट होने से है। वैसे भीमाकाली की शक्ति अपार है। न जाने इस देवी ने वर्तमान में भी कितने लोगों के दुःख निवारण किए हैं। आज यहाँ जिस तरह से दूर-दूर से लोग प्रसन्नचित्त होकर आते हैं उससे देवी की शक्ति का पता लगता है। यहां जो भी गया वह खाली नहीं लौटता बशर्ते कि उसकी आस्था निश्छल हो और विश्वास से पूर्ण।

भीमाकाली मन्दिर में पूजा नियमित रूप से परम्पराओं के अनुसार ही होती है। सुबह शृंगार पूजा या आरती, 11 बजे के करीब माता को भोग लगता है और आरती होती है। सायं 8 बजे के लगभग शयन आरती का आयोजन होता है। विशेषकर मंगलवार तथा रविवार को मन्दिर में भीड़ रहती है। लेकिन अन्य दिनों भी यहां लोग मथा टेकने चले आते हैं। नवरात्रों में तो मेला ही लग जाता है। लोग देवी को बलि के लिए बकरे अपने साथ लाते हैं जिन्हें मन्दिर के साथ एक बलिकक्ष में काटा जाता है। इसके अतिरिक्त रामनवमी, जन्माष्टमी, मकर सक्रान्ति, शिवरात्रि और दीपावली को विशेष पूजाएं होती हैं और इन त्यौहारों को धूमधाम से मनाया जाता है। यहां दशहरा उत्सव का आयोजन तीन दिनों तक होता है जिसमें रथ यात्रा निकाली जाती है।

परिसर के अन्य मन्दिर

भीमाकाली मन्दिर परिसर में कई अन्य प्राचीन मन्दिर हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है:

रघुनाथ मन्दिर

एक कथानुसार कहा जाता है कि सातवीं और आठवीं शताब्दी के मध्य एक बार बुश-

हर के राजा बीज सिंह और कुल्लू के राजा का आपस में युद्ध हो गया। इस युद्ध में कुल्लू का राजा मारा गया। यह राजा युद्ध के समय अपने साथ रघुनाथ जी की एक प्रतिमा रखता था। राजा के मरने के बाद बुशहर का राजा सम्मानपूर्वक उस प्रतिमा को अपने साथ लाया और उसे भीमाकाली मन्दिर परिसर में स्थापित कर दिया तथा एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण किया। यहां दशहरा उत्सव कुल्लू दशहरे की परम्परानुसार मानाया जाता है। जिसमें रघुनाथ जी की रथ यात्रा निकाली जाती है और हजारों लोग इसमें भाग लेते हैं।

नृसिंह मन्दिर

परिसर का यह दूसरा प्रमुख मन्दिर माना जाता है। कालान्तर से यह परम्परा रही है कि राजा-महाराजा अपनी विजय के लिए भगवान नृसिंह की पूजा-अर्चना किया करते थे और कई राजा अपने साथ युद्ध के दौरान भी मूर्ति को रखते थे। बुशहर राज परिवार में नृसिंह भगवान को बहुत महत्व दिया जाता था। इस देवता को न्याय का देवता भी माना जाता है इसलिए यहां के राजा जब दरबारों में किसी मुकद्दमें का फैसला सुनाते तो इस देवता की शपथ पहले लेते थे। इसलिए रामपुर के महलों में एक मन्दिर में नृसिंह की प्रतिमा स्थापित है। भीमाकाली परिसर के इस मन्दिर की मूर्ति प्राचीन नहीं है। संगमरमर की इस चतुर्भुजी प्रतिमा को 1983 में स्थापित किया गया है। पहले देवता सम्बन्धी निशान ही मन्दिर में उपलब्ध थे। इस प्रतिमा को यहां हरिण्य कश्यप का वध करते हुए दर्शाया गया है।

लांकड़ा वीर मन्दिर

भीमाकाली मन्दिर के बिल्कुल साथ लांकड़ावीर का मन्दिर स्थित है। इसे भीमाकाली का गण कहा जाता है जो भैरव का रूप है। मन्दिर में इस देवता की कोई प्रतिमा नहीं है। लकड़ी के एक खम्बे में कुछ ध्वजाएं बांधी गई हैं तथा साथ एक त्रिशुल है जो देवता का प्रतीक चिह्न है। इसे पाताल भैरो भी कहा जाता है। मन्दिर के भीतर एक कुआं भी है जिसे लांकड़े का कुआं कहते हैं। यह बहुत गहरा है जिसकी थाह लेना कठिन है। बताया जाता है कि इसके भीतर एक गुप्त दरवाजा भी है जिसका प्रयोग तत्कालीन शासक विपत्ति इत्यादि में बाहर जाने को किया करते थे। इसी में नर बलि देने की परम्परा भी बताई जाती है। लांकड़ा वीर के दो मन्दिर हैं एक अति प्राचीन और दूसरा नया है जो हाल ही में बनाया गया है।

इन चारों मन्दिरों का प्रबन्ध एक मन्दिर समिति देखती है। भीमाकाली मन्दिर के साथ अन्य तीनों मन्दिरों की पूजा भी होती है।

महाराजा पदम सिंह ने मन्दिर का मुख्य दरवाजा चांदी के पतरों से मढ़ाया था। इन्हीं के शासन काल में इस मन्दिर का पूर्णतया जिर्णोद्धार भी किया गया।

आज यह स्थान देश-विदेश में प्रख्यात हो चुका है। एक पर्यटक स्थल के रूप

में भी और एक प्राचीन धार्मिक स्थल की दृष्टि से भी। मन्दिर की उत्कृष्ट कला को देखने समय-समय पर विद्वान लेखक और शोधकर्ता यहां आते रहते हैं। पुरातात्विक दृष्टि से भी इस मन्दिर का विशेष महत्व है। यात्रियों की सुविधा हेतु जहां हिमाचल प्रदेश पर्यटन विकास निगम का होटल श्रीखण्ड है वहां अन्य कई विश्राम गृह भी हैं। मन्दिर के साथ सराहन का बाजार है और ऊपर की ओर सेब के बगीचे। यहां से लगभग 6000 मी० की ऊंचाई पर स्थित सतलुज के पार श्रीखण्ड महादेव चोटि के दर्शन भी किए जा सकते हैं। बर्फ से ढकी श्रीखण्ड पर्वतमाला अति सुन्दर लगती है। प्रातः जब सूर्य उदय होने पर किरणें इन चोटियों को स्पर्श करती हैं तो इनकी स्वर्णिम आभा आश्चर्य चकित कर देती है।

हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर सराहन के नीचे ज्यूरी नामक स्थान है जहां से सराहन के लिए 17 कि०मी० चढ़ाई वाली सड़क है। यह स्थान ट्रैकिंग करने वालों में भी अत्यन्त लोकप्रिय है।

बलग का प्राचीन मन्दिर

शिमला से 60 किलोमीटर दूर गिरि गंगा के बाएं छोर पर बलग का सुन्दर गांव हरी-भरी पहाड़ियों की गोदी में बसा है। इसी गांव के मध्य में स्थित है प्राचीन शिव मन्दिर जो पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। शिखर शैली में निर्मित यह मन्दिर वास्तुकला के लिए भी अद्भुत है। मन्दिर के गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है और इसके साथ कई प्रतिमाएं हैं। कहा जाता है कि यह प्रतिमाएं इस गांव के विभिन्न स्थानों पर बने मन्दिरों में स्थापित थीं जिन्हें इन मन्दिरों के खण्डित होने के बाद इस मन्दिर में लाया गया है। इन पाषाण प्रतिमाओं में एक प्रतिमा भगवान विष्णु की है और अन्य मां दुर्गा की। दुर्गा मां को महिषासुरमर्दिनी के रूप में दर्शाया गया है। एक अन्य प्रतिमा में देवी को शान्त रूप में देखा जा सकता है।

मन्दिर का ऊपरी भाग लकड़ी की छत से ढका है। यह छत मन्दिर के निर्माण-काल की है। मन्दिर की बाहरी दीवारों पर विभिन्न प्रकार की प्रतिमाएं अंकित हैं। गर्भ गृह के समक्ष मण्डप बना है। इसके स्तम्भ में अनेक प्रकार के जानवरों की आकृतियां बनी हैं। कई जगह राक्षसों तथा फूल-पत्तियों को देखा जा सकता है। मन्दिर का सही निर्माण काल आंकना सम्भव नहीं है। फिर भी यह माना जाता है कि यह ऐतिहासिक मन्दिर दसवीं शताब्दी के पहले का है। यह भी बताया जाता है कि मन्दिर के चारों तरफ पांच छोटे-छोटे मन्दिर भी हुआ करते थे परन्तु ये मन्दिर नष्ट हो चुके हैं।

इस मन्दिर के साथ ही एक सात मंजिला भवन है जो पहाड़ी शैली का सुन्दर उदाहरण है भगवान परशुराम जी के मन्दिर के नाम से जाना जाता है। एक किवदन्ती के अनुसार कहा जाता है कि बलग प्राचीन काल में महा पराक्रमी सम्राट बली की राजधानी रहा है। बली को बलसन क्षेत्र का स्वामी भी माना जाता है। बली ने कई

देवताओं को बन्दी बनाकर कारागार में डाल रखा था। इसलिए उन्हें मुक्त करने हेतु भगवान विष्णु ने वामन रूप धारण किया था तथा छल पूर्वक भूमि का दान मांगना पड़ा था। इस तरह उस शिव भक्त सम्राट को देवद्रोह का दण्ड दिया गया था। आज भी बलि द्वारा पूजित शिवलिंग जहां भगवाणु को विष्णु भूमि दान दिया गया था, सम्मान पूर्वक भगवान विष्णु पधारते है और पूजा होती हैं।

बलग के लिए ठियोग से सड़क चली जाती है जो 18 कि०मी० के सफर के बाद सैंज पहुंचती है। यहां से 10 किलोमीटर आगे गिरी के किनारे बलग का प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र है।

महासू देवता

शिमला जिले के ऊपरी भाग में महासू देवता इष्ट देव के रूप में माना जाता है जिसके कई मन्दिर अति प्राचीन हैं। आज जो शिमला जिला है वह कभी "जिला महासू" के नाम से जाना जाता रहा है। शिमला-कोटखाई सड़क से कोटखाई तहसील में एक गांव अभी भी महासू के नाम से प्रसिद्ध है। यहां महासू मेला प्रति वर्ष देवता महासू के सम्मान में आयोजित किया जाता है। इसके अतिरिक्त ठियोग में गांव गजेड़ी और चौपाल में गांव पौड़िया में महासू के प्राचिन मन्दिर हैं। कुमारसैन के कोटेश्वर महादेव की तरह ही महासू देवता के बारे में भी एक प्राचीन कथा प्रचलित है। महासू देवता का कालान्तर में वास काश्मीर में माना जाता है। ये चार भाई हैं। महासू जिले में किसी समय यह देवता एक ब्राह्मण के अनुरोध पर यहां आया था जिसकी कथा इस प्रकार कही जाती है।

यमुना और तौंस नदी के क्षेत्र में एक बार एक दानव का आतंक फैला हुआ था। पूरा क्षेत्र इस दानव के अत्याचार से दुखी था। तौंस नदी के ऊपरी क्षेत्र में एक गांव था। जहां एक गरीब ब्राह्मण अपने सात बेटों और पत्नी के साथ रहा करता था। धीरे-धीरे उस दानव ने उस ब्राह्मण के छः बेटों की हत्या कर दी और अब उसकी आंख उसके सातवें बेटे पर थी। इस क्षेत्र में यह दानव प्रत्येक घर से वर्ष में दो बार एक आदमी का चुनाव अपने लिए किया करता था। अपने पुत्र के दानव द्वारा खा जाने के बाद वे दोनों बहुत परेशान थे। एक दिन उसकी पत्नी किसी देव छाया से प्रभावित होकर कांपने लगी और उसने कई बार महासू नाम पुकारा। पूछने पर उसने कहा कि काश्मीर में वास कर रहा महासू देवता हमारे बेटे को उस दानव के चुंगल से मुक्त कर देगा। जब वह होश में आई तो उसने अपने पति से काश्मीर जाने का आग्रह किया। उसके पति का का नाम हूण भाट था। उसने इससे पहले महासू नाम नहीं सुना था। अब उसके समक्ष समस्या थी कि वह यहां से कई सौ मील लम्बा सफर काश्मीर तक इस बूढ़े शरीर से कैसे करेगा। लेकिन एक ही पुत्र के रहने और उसे बचाने की फिक्र ने उसे वहां जाने पर मजबूर कर दिया। अब किसी ने उसे यह भी बताया कि वह हाटेश्वरी मन्दिर में रह रहे पुजारी से काश्मीर का रास्ता पूछें। ब्राह्मण ने साहस किया और पहले हाटकोटि पुजारी

के पास गया। पुजारी ने उसे देख कर कहा कि वह कमजोर है और इतनी विकट यात्रा वह नहीं कर पाएगा। ऐसा न हो कि वह रास्ते में ही मर जाए। लेकिन हूण ने अब पीछे हटना मुनासिब न समझा और वह पुजारी से रास्ता पूछ कर काश्मीर की तरफ रवाना हो गया। जब वह काफी दूर महासू देवता की याद करते-करते निकल गया तो उसके साथ चमत्कार हो गया। उसने अपने शरीर में एक स्फूर्ति महसूस की और उसी क्षण वह हवा में उड़ने लगा। अब वह एक सुन्दर तालाब के किनारे खड़ा था। यह वह तालाब था जहां से महासू देवता पानी प्रयोग करते थे लेकिन उसे यह पता न था। वह अभी इस चमत्कार के बारे में सोच ही रहा था कि वहां महासू देवता का वजीर पहुंच गया और उसने हूण से यहां आने का कारण पूछा। हूण ने यथावत आने का कारण बता दिया और प्रार्थना की कि वह उसे महासू देवता से मिलवा दें। वजीर ने उसकी दर्द भरी कथा सुनी और कहा कि वह तालाब के साथ खेत में आराम करें और महासू देवता के आने की प्रतीक्षा करें। हूण ने वैसा ही किया। जैसे ही वह खेत में गया तत्काल जमीन से एक सोने की प्रतिमा प्रकट हुई। हूण ने अनुमान लगा लिया कि यह महासू देवता ही हो सकता है। उसने उस प्रतिमा को जोर से पकड़ कर अपनी छाती से लगा लिया और रोते हुए दुखी मन से प्रार्थना की कि हे देव मेरे बेटे को उस दानव से बचा दो। महासू ने उसकी विनती को स्वीकार कर लिया और उसे वापिस चले जाने को कहा। साथ ही उसे देवता ने यह भी बताया कि जब वह गांव पहुंचे तो छोटे बच्छुओं में सोने का हल जोते और एक खेत में केवल पांच फाटें/खाईयां/ ही बनाए। उसमें चार प्रतिमाएं हम चारों भाईयों की और महासू देवता की माता की प्रतिमा होंगी।

हूण जब वापिस आया तो उसके साथ पूर्ववत घटना हुई। उसका शरीर हवा में उड़ गया और उसने कुछ पल बाद अपने आप को अपने गांव की सीमा पर पाया। वह खुशी-खुशी घर गया तथा देवता द्वारा बताया गया विधान किया। जैसे ही उसने पहली फाट दी तो उससे देव बासिका पैदा हुआ, दूसरी फाट में देव पवासी, तीसरी में देव बोठा महासु, चौथी में देव चालदा महासू और पांचवी फाट में उनकी माता देव लाड़ी प्रकट हुई। बताया जाता है कि हल के फाले से चारों भाईयों में से तीनों को जांघ, कान और आंख में चोटे आई थीं। इसके बाद उन देवताओं के साथ उनके मन्त्री भी प्रकट हुए। हूण ने देवताओं को दानव का स्थान बताया जहां यह वास करता था। इस तरह उस दानव के साथ महासू देवता का घोर युद्ध हुआ और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। इस तरह यह क्षेत्र दानव के अत्याचार से मुक्त हुआ था। हूण ने अपने सातवें बेटे को महासू देवता का पुजारी नियुक्त कर दिया और जब तक यह परिवार रहा उन्होंने देवता की सेवा की और उसके बाद पूरी घाटी में महासू देवता को लोगों ने अपने इष्ट देवता के रूप में पूजना आरम्भ कर दिया। दानव का वध करके दो भाई बाशक और पबासी महासू गढ़वाल की ओर चले गए तथा बोठा पालदा महासू जोनसार बावर में ही बस गए। तौंस नदी के किनारे हनोल गांव में बोठा-महासू का पहाड़ी शैली में बना मन्दिर

आज भी देखा जा सकता है। महासू देवता की प्रतिमाएं इन मन्दिरों में आज भी स्थापित है। लोग महासू देवता की मन इच्छा पूर्ण होने पर जातरें करवाते रहते हैं।

बिजट महाराजा मन्दिर

बिजट महादेव का प्राचीन मन्दिर चूड़धार की उत्तरी ढलानों में बसे रमणीक गांव सराहन में स्थित है। इस गांव के लिए शिमला से सामान्य बस सेवा चलती है। चौपाल के रास्ते इस गांव में पहुंचा जा सकता है। इस मार्ग में एक बीहड़ जंगल पड़ता है जिसे डुण्डी का जंगल कहते हैं। इसी जंगल के साथ बह रहे एक नाले के किनारे प्राचीन मन्दिरों के भग्नावेष देखे जा सकते हैं। बिजट का मन्दिर यहीं है। पहाड़ी शैली का यह भव्य मन्दिर पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है और पहाड़ी वास्तु-कला का उत्कृष्ट नमूना है। मन्दिर में दो बड़ी अट्टालिकाएं स्थापित हैं। एक अट्टालिका में बिजट महाराजा एवम् उनके परिवार से सम्बन्धित देवी-देवताओं की प्रतिमाएं रखी रहती हैं। इसके साथ वृताकार प्रांगण है जहां कई दो मंजिला भवन निर्मित हैं। इस देवता को ब्रजेश्वर महादेव के नाम से भी पुकारा जाता है।

कहते हैं कि जब आशासुर ने चूड़धार पर श्रीगुल देवता के मन्दिर पर धावा बोला तो देवता क्रोधित हो गए। उन्होंने असुरों को खत्म कर दिया। इसी के मध्य बिजट देवता की प्रतिमा सराहन गांव में जा गिरी। लोगों ने इस प्रतिमा को आस्था के साथ एक मन्दिर बना कर अवस्थित कर दिया। इसके साथ-साथ पुरातन राजधानी सराहन, सिरमौर और जोड़ना इत्यादि स्थानों में आज भी बिजट महाराज के मन्दिर देखे जा सकते हैं। सराहन को वैदिक कालीय देव इन्द्र की नगरी भी कहा गया है।

बिजट महाराज नौ सालों में एक बार अपने समस्त राज्य का भ्रमण करते हैं। एक मान्यता के अनुसार बिजट महाराज का दण्ड प्रति वर्ष सारे देवलोक का भ्रमण ठुण्ड देवों की मण्डली के साथ करता है और प्रत्येक देवतागण महाराज की इन स्वर्ण जड़ित छड़ियों की पूजा करके इन्हें विदा कर देता है। मन्दिर में आज भी 14 ऐसी छड़ियां विद्यमान हैं। कहा जाता है कि यह दण्ड जब शिवभूमि में जाता है तो भगवान शिव भी इनका स्वागत करते हैं। भगवान विष्णु भी स्थानीय देवतागण तो अपने-अपने मन्दिरों में कई दिनों तक इनकी पूजा-अर्चना करते रहते हैं। इस पूजा को स्थानीय भाषा में "धुआकरा पूजा" कहते हैं।

बिजट महाराज चौपाल क्षेत्र का इष्ट देव है और लोगों की अपने इष्ट के प्रति गहन आस्था है। वे अपने परिवार की सुख-समृद्धि हेतु सदैव मन्दिर में जाकर बिजट महाराज से कामना करते रहते हैं। इस मन्दिर में प्रति वर्ष विशु मेला लगता है जिसमें हजारों लोग उपस्थित होते हैं। सिरमौर में स्थित बिजाई देवी मन्दिर के साथ जुड़ी कथा में देवता के यहां प्रकट होने की एक अन्य कथा भी प्रचलित हैं। इस देवी को बिजट की बहिन माना जाता है।

हाटकोटी मन्दिर समूह

शिमला से लगभग 100 कि०मी० की दूरी पर पूर्व में समुद्रतल से 1370 मीटर की ऊंचाई पर पब्बर नदी के किनारे प्राचीन हाटकोटी मन्दिर समूह स्थित है। यह स्थान हाटेश्वरी के नाम से एक प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में माना जाता है। हिमालय की दुर्गम घाटी में यह तीर्थ प्राचीन मन्दिरों, प्रस्तर तथा काष्ठकला के बिखरे पड़े पुरातन भग्नावेशों के कारण पुरातात्विक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है।

मूल मन्दिर परिसर यहां पहुंचने वाली सड़क के नीचे स्थित है जिसके पीछे समतल ऊपजाऊ जमीन और समक्ष गांव हैं। इसके बिल्कुल ऊपर लगभग आधा फर्लांग की दूरी पर एक पहाड़ी है जिस पर छः सौ गज लम्बा और तीन सौ गज चौड़ा एक मैदान है। इस पहाड़ी को सुनपुर टीला कहते हैं। यह स्वर्णपुर से भी प्रख्यात है। दूर से देखने पर लगता है कि प्राचीन काल में अवश्य इस मैदान पर एक लघु नगरी बसी होगी जो अब नष्ट हो गई है। लोगों का कहना है कि इसी टीले पर विराट नगरी थी जहा पांडव अपने गुप्तवास के कई बरस व्यतीत किए। इस पहाड़ी के थोड़ा नीचे नदी की ओर एक गुफा है। इस गुफा को बहुत लम्बी और चौड़ी बताया जाता है। आम आदमी का इसमें जाना असम्भव है। कुछ लोग यह कहते हैं कि मैदान में जब कभी राजा-महाराजाओं के महल निर्मित थे तो उनके मध्य से यह गुप्त दरवाजा निकाला गया था। इस बात के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं लेकिन ऐसा स्थानीय लोगों का मानना है।

हाटकोटी गांव के आसपास नदी के किनारे नागर शैली के शिखरकार मन्दिर तथा प्रस्तर प्रतिमाएं अवलोकनीय है। इन मन्दिरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मन्दिर हाटेश्वरी माता अर्थात महिषासुर मर्दिनी का है और दूसरा भगवान शिव का। यह दुर्गा का ही रूप है। मन्दिर पत्थर को तराश कर बनाया गया है जिस पर पहले पत्थर का एक बड़ा अमलक स्थापित था। इस समय यह अमलक मन्दिर के साथ पड़ा है। मन्दिर का ऊपरी भाग ढलवां है और इसे स्लेटों के साथ छवाया गया है। मन्दिर अति प्राचीन है लेकिन समय-समय पर यहां के शासकों तथा श्रद्धालुओं ने इसका समयानुरूप वास्तुशिल्प के आधार पर जिर्णोद्धार करवाया है।

महिषासुरमर्दिनी की भव्य प्रतीमा दसवीं शताब्दी में स्थापित हुई थी जिसके सम्बन्ध में पंक्तियां वेदिका स्तंभ पर उत्कीर्ण हैं। दो मीटर ऊंची यह कांस्य प्रतिमा कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। गर्भगृह के बाहर परिक्रमा पथ निर्मित है। प्रतिमा को सुन्दर वस्त्रों से सजाया गया है। प्रतिमा को कभी भी नग्न अवस्था में नहीं रखा जाता। जब भी पुजारी प्रतिमा को नहलाता है तो वह दरवाजे को बन्द कर लेता है। कहा जाता है कि केवल एक बार वर्ष में नवरात्रों को ही देवी के कपड़े उतारे जाते हैं और नए वस्त्र पहनाए जाते है। प्रतिमा भूमि में काफी गहरी बताई जाती है। इसका प्रमाण गोरखाओं के साथ घटी एक घटना से लगता है। 1805 से लेकर 1815 तक शिमला की पहाड़ी रियासतें गोरखाओं के अधीन रहीं और हाटकोटी उनका मुख्य-

गढ़ था। उन्होंने इस प्रतिमा को अपने साथ ले जाना चाहा लेकिन इसे भूमि से न निकाल पाए। इसलिए मुर्ति पर जड़े कीमती हीरे तथा साथ स्थापित अन्य प्रतिमाओं को गोरखे उठाकर ले गए। देवी ने कालान्तर में महिषासुर राक्षस को मारा था जिस कारण इसका नाम महिषासुर मर्दिनी पड़ा।

देवी के मन्दिर के बाहर प्रवेश द्वार के बाईं ओर एक ताम्र कलश लोहे की जंजीर से बन्धा है। इसकी रोचक घटना कही जाती है। कहते हैं कि एक रोज भादों महीने में भारी वर्षा हो रही थी। मन्दिर के पुजारी को रात्रि में स्वप्न हुआ कि पब्बर नदी में दो बड़े-बड़े ताम्र कलश बहते हाटकोटी की ओर आ रहे हैं। वह उठा और नदी के किनारे चला गया। देवी की शक्ति से उसने इन कलशों को तत्काल पकड़ लिया। उसके साथ गांव के अन्य लोग भी थे। उनकी सहायता से उसने उन दोनों को मन्दिर के बाहर रख दिया। काफी समय बाद उसी तरह भारी वर्षा हो रही थी तो दोनों कलश लुड़क कर बाहर गिर गए। पुजारी ने एक को तो पकड़ लिया लेकिन दूसरा रेंगता हुआ ओझल हो गया। इसलिए पुजारी ने पकड़े हुए ताम्र कलश को जंजीर से बान्ध लिया। लोगों का कहना है कि बरसात में जब भारी वर्षा होती है तो रात को इस कलश से सीटी की सी आवाजें आती हैं। वह अपने स्थान को उछल-उछल कर त्यागने का प्रयास करता है। यह करीश्मा लोगों को आश्चर्य में डाले हुए है।

लोगों में इस देवी के सम्बन्धी और देवी के जन्म सम्बन्धी कई कथाएं कही जाती है। कहते हैं कि बहुत समय पूर्व एक ब्राह्मण परिवार में दो सगी बहिनें थीं। उन्होंने छोटी उम्र में ही संन्यास ले लिया और घर से भ्रमण के लिए निकल पड़ीं। उन्होंने संकल्प लिया कि गांव-गांव जाकर वह दोनों लोगों के दुख-दर्द सुनेंगी और उसके निवारण हेतु उपाए बताएंगी। वे इसी दृष्टि से कई दिनों तक लोगों की सेवा करती रही। रास्ते में छोटी बहिन एक दिन थक गई और वह एक जगह बैठकर फल इत्यादि खाती रही जबकि दूसरी चलते-चलते हाटकोटी गांव में पहुंच गईजहां मन्दिर स्थित है। उसने यहां एक खेत के मध्य पड़ाव लगा लिया और ईश्वर ध्यान में मग्न हो गई। उस समय यहां मन्दिर इत्यादि कुछ नहीं होता था। कई दिनों वह इसी तरह रही और एक दिन अचानक लुप्त हो गई लेकिन जहां वह बैठी थी वहां एक पत्थर की प्रतिमा निकल पड़ी। इस चमत्कार से लोगों की उस कन्या के प्रति श्रद्धा बढ़ गई और उन्होंने यह बात जुब्बल रियासत के राजा को भी बताई। राजा ने जब यह सुना तो पैदल चलकर यहां पहुंचा और इच्छा प्रकट की कि वह प्रतिमा के चरणों में सोना चढ़ाएगा। जैसे ही सोने के लिए प्रतिमा के आगे कुछ खुदाई कि तो वह दूध से भर गया। उसके बाद खोदने पर यह गड्ढा खून से भरने लगा। इस पर खुदाई रोक दी और राजा ने यहां मन्दिर बनाने का निश्चय किया। लोगों ने उस कन्या को देवी रूप माना और गांव के नाम से इसे हाटकेश्वरी देवी कहा जाने लगा।

आज भी यहां प्रतिदिन लड़कियां नंगे पांव दूर-दूर से माता के दर्शन करने

और पूजा हेतु आया करती हैं। वे यहां आकर माता को भोग बनाती हैं और सभी को बांटती हैं। जिस दिन उन्होंने यहां आना होता है उस दिन वे व्रत रखती हैं।

मन्दिर के साथ बाईं ओर भण्डार कक्ष है। यह काफी बड़ा है जिसे पत्थर से निर्मित किया गया है। इसकी छत ढलवां स्लेट से बनी है।

भण्डार कक्ष के बाद प्राचीन शिव मन्दिर स्थापित है। यह शिखर शैली में बना है। इसकी भीतरी छत लकड़ी के टुकड़ों को जोड़ कर बनाई गई हैं। इनमें देवी-देवताओं की कलात्मक आकृतियां उत्कीर्ण की गई हैं। गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है। इसके साथ ही भगवान विष्णु, दुर्गा और गणेश की पाषाण प्रतिमाएं भी स्थापित हैं। प्रतिमाएं कला एवं पुरातत्व की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है मन्दिर का दरवाजा काफी छोटा है।

दो साल पूर्व पब्बर नदी के किनारे एक किसान को हल चलाते हुए खेत के मध्य में एक शिवलिंग प्राप्त हुआ है। जैसे ही उस किसान का फाला किसी चीज से टकराता मालुम हुआ उसने बैल रोक दिए और वहां खोद कर देखा तो वह काले रंग का पत्थर सा था। अधिक खोदने पर उसका गोलाकार आकार स्पष्ट होने लगा और पूर्ण शिवलिंग बाहर आ गया। उसने तत्काल गांव के लोगों को बुला लिया। लोगों ने इसे भगवान शिव की शक्ति से प्रकट शिवलिंग मान लिया और उसकी पूजा की तथा छोटा सा मन्दिर भी बना लिया। लेकिन लगता है कि प्राचीन काल में यहां अवश्य कोई शिव मन्दिर था जो बाद में नष्ट हो गया होगा तथा उसके गर्भगृह में स्थापित शिवलिंग जमीन में दब गया होगा।

हाटकोटी प्राचीन समय में एक राजनैतिक और सांस्कृति नगरी के रूप में विकसित था इसका विकास पूर्व मध्यकाल में हुआ बताया जाता है। देवी की प्रतिमा इसी काल में निर्मित मानी जाती है। स्वच्छंद भैरवी की ऐसी ही एक प्रतिमा जो कांसे की है इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में रखी गई है जो यहीं से प्राप्त हुई बताई जाती है। एक प्रमाण के अनुसार सिरमौर नरेश वीर प्रकाश ने तेरहवीं शती में यहां एक एक दुर्गा मन्दिर का निर्माण करवाया था।

हाटकोटी गांव के ऊपर की पहाड़ी की दूसरी ओर रोहड़ू जाती सड़क के किनारे कई अन्य खण्डित मन्दिरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें सभी शिखराकार हैं। कई खण्डित प्रतिमाएं बाहर तथा भीतर बिखरी पड़ी है। ये मन्दिर दुर्गा और शिव के हैं। सड़क के साथ ही एक भव्य शिव मन्दिर जमीन में धंस गया है जिसके भीतर शिवलिंग स्थापित है। लेकिन हाटकेश्वरी मन्दिर के अतिरिक्त इस प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को कोई भी महत्व नहीं देता है। मात्र कभी कोई लेखक या विद्वान यहां जाए तो वह अवश्य इस धरोहर को नष्ट होते देखकर दो आहें दुख से भर आता है। हालांकि हाट-कोटी दुर्गा परिसर को चारों ओर एक पक्की दीवार से सुरक्षित कर लिया है और इसका पूर्ण तरह से जिर्णोद्धार करके इस स्थल को नया रूप दिया गया है। मन्दिर के साथ मुख्य गेट से प्रवेश होते ही एक अन्य भवन निर्मित है जो हवन इत्यादि हेतु प्रयोग में

लाया जाता है। यात्रियों के आवास के लिए यहां एक विश्राम गृह, पर्यटन निगम की पर्यटक शाला और मन्दिर की सराय मौजूद है।

इसका प्रबन्ध स्थानीय कमेटी के अधीन है और विधिवत् कार्यकारीणि के चुनाव होते हैं। यह समिति इस स्थान के विकास हेतु कार्यरत है। लेकिन क्या यहां की जो बिखरी सांस्कृतिक धरोहर है उसको सुरक्षा पहुंचाना जरूरी नहीं है ? पुरातात्विक दृष्टि से ये खण्डित प्रतिमाएं, टूटे फूटे मन्दिर इत्यादि भी कम महत्वपूर्ण नहीं।

शिखड़ू देवता मन्दिर, रोहड़ू

रोहड़ू शिमला जिले की एक तहसील है। इस के रोहड़ू गांव में श्री शिखड़ू देवता का प्राचीन मन्दिर निर्मित है। यहां के लोगों का यह देवता इष्ट देव है। शिमला से लगभग 130 किलोमीटर लम्बे इस बस योग्य रास्ते में कई अन्य मन्दिर भी अवस्थित हैं। लगभग 100 किलोमीटर के बाद श्री हाटेश्वरी माता का मन्दिर आता है। यहीं से रोहड़ू के लिए सड़क पब्बर नदी के बहाव के दाहिनी छोर से चली गई है। प्रकृति ने इस क्षेत्र को अनेकों आभूषणों से अलंकृत किया है। इस देवता को पंजवासा भी कहा जाता है। वह इसलिए कि इस देवता के मन्दिर यहां के पांच गांवों जखड़, गंगटोली, तंदाली, दशालणी और रोहड़ू में स्थित हैं। देवता के मन्दिर में देवता के सोने और चांदी के मोहरें हैं। देवता का अपना रथ-छतर है। विशेष आयोजनों, मेलों और जातराओं के समय इस रथ को सुन्दर कपड़ों और गहनों से सजाया जाता है। इस रथ पर देवता के मोहरें सजाए जाते हैं।

इस देवता की कहानी अति रोचक है। बताया जाता है कि एक बार यह क्षेत्र भयंकर सूखे की चपेट में आ गया। सर्वत्र निर्जनता का माहौल फैल गया। लोगों में त्राही-त्राही मच गई। अपने घर छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाने के अतिरिक्त अब चारा भी क्या रह गया था। इसी क्षेत्र के एक गांव में एक ग्वाले की नई-नई शादी हुई थी। उसकी पत्नी अति सुन्दर योवना पूर्ण थी। इस अकाल ने उनके जीवन में भी एक काली दस्तखत दे दी। अपनी भेड़-बकरियों के साथ दूर चले जाने का जब उस गडरिए थेलू ने निर्णय लिया तो इस विरह वेदना से उसकी नव-योवना पागल हो गई। लेकिन विवशता थी। थेलू ने उसे समझाया कि वह शीघ्र लौटेगा। और वह चला गया। दूर, बहुत दूर।

पल-पल अपनी प्रेयसी की यादों में गुजारता रहा। उसके पास एक बांसुरी थी जो उसका सहारा था यानि हृदय वेदना को बांसुरी के स्वरों से सहलाने का एक मात्र उपाए। वह बांसुरी बहुत मीठी बजाया करता था। अपनी भेड़-बकरियों को चुगाते-चुगाते वह एक पहाड़ पर पहुंच गया जहां एक छोटी-सी झील में पानी बचा था। वह वहीं रहने लग गया। रोज बांसुरी बजाता रहता। कभी इतना खो जाता कि उसे सुध ही न रहती। यह स्थान चौशाल था। इस झील को चन्द्रवाहन के नाम से जाना जाता था।

एक दिन थैलू पूर्ववत बांसुरी बजा रहा था कि तभी झील के मध्य उसे कुछ विचित्र दृश्य दिखाई दिया। वहां से एक आकृति उसकी ओर आई और इसके समक्ष खड़ी हो गई। उस आकृति ने बताया कि वह इस झील का स्वामी है—देवता ! बांसुरी पर मुग्ध होकर वह प्रकट हुआ है। उसने थैलू को वरदान मांगने को कहा। थैलू ने एकदम कह दिया कि यदि वह सचमुच देवतारूप है तो उसके गांव के अकाल को दूर कर दे। देवता अन्तर्ध्यान हो गया इससे पहले थेलू को देवता ने सूखा खत्म होने का वचन दिया था। झील का पानी फैल गया। और रोहडू की तरफ उसका जब बहाव हुआ तो उसने उसी देवता का स्मरण करके अपनी बांसुरी और एक कमल का पुष्प वहीं से तोड़कर इस आशय के साथ जल में प्रवाहित कर दिया कि वह उसकी पत्नी को मिल जाए। वैसा ही हुआ। उसकी पत्नी पानी भरने नदी के तट पर आई तो स्वतः ही देव कृपा से बांसुरी और फूल उसकी गगरिया में आ गए। वह प्रसन्न हुई लेकिन दूसरे पल उदास भी। सोचने लगी कि पता नहीं उसका पति कैसा होगा।

कुछ दिनों के बाद थैलू वापिस गांव लौट आया। उसने सारी कथा ग्रामीणों को सुनाई तो वे भी प्रसन्न हो गए। उसकी पत्नी तो फूली नहीं समा रही थी। एक अन्तराल के बाद स्नेह लौट पड़ा, विरह का काला अन्धकार छट गया और वे दोनों रात-दिन एक-दूसरे में समाते गए।

कहते हैं कि कुछ अर्से के बाद इलाके में महामारी फैल गई। एक दिन थैलू जैसे ही सोया तो स्वप्न में वही देवता प्रकट हो गया। उसने थैलू को याद दिलाई कि सूखे को खत्म करने के लिए उसने सात भेड़ें देवता को देनी की थीं। उसने अपना वादा भुला दिया। देवता इतना कहकर लुप्त हो गया। वह उठ गया और उसे अपना अतीत याद आ गया। सत्य ही उसने देवता के लिए सात भेड़ें देने का वचन दिया था जो वह भूल गया था। सुबह ही उसने यह घटना सभी ग्राम वासियों को सुनाई और निर्णय लिया गया कि थेलू के साथ वे सभी जाएंगे और जाकर झील में देवता को भेड़े देंगे। लोग कई दिनों की यात्रा के बाद वहां पहुंच गए। थेलू ने झील के किनारे पहले जैसी बांसुरी बजानी शुरू कर दी लेकिन देवता प्रकट न हुआ। उसे पता लग चुका था कि अब देवता उससे नाराज है। इस पाप या अपराध की सजा अपने आपको देने की दृष्टि से उसने आत्महत्या करने के लिए झील में छलांग लगा ली लेकिन दूसरे ही क्षण किसी आकृति ने उसे बाहर फेंक दिया। वह वही देवता था। थेलू ने अपनी भूल का प्रायश्चित किया। अब देवता ने उन लोगों के साथ ही चलने के लिए कहा। लोग प्रसन्नता से देवता को अपने गांव ले आने के लिए राजी हो गए। इस पर देवता ने थेलू को एक घास की बोरी दी और कहा कि वे भेड़ों के साथ गांव चले और उसके आने की प्रतीक्षा करे। थेलू ने वैसा ही किया। मार्ग में घास के थैले ने उसे थका दिया। उसने सोचा घास ही तो है और उसे फेंक दिया। लेकिन बोरी साथ ले आया। घर पहुंच कर जब बोरी को नीचे रखा तो उसे कुछ घास दिखाई दी। उसने जैसे ही उस घास को निकालने के लिए हाथ बढ़ाया वह घास सोना बन गई थी। वह हैरान था। उसे याद आया कि ऐसी घास उसने

रास्ते में फेंक दी है। वह भाग कर वहां गया और उस घास को उठाने लगा। उसे उसके मध्य एक सोने की प्रतिमा मिली। उसने देव्य शक्ति समझकर उसे उठा लिया और घर ले आया। बताया जाता है कि जहाँ वह घास उसने फेंकी थी वह किनारा वहां से बह रही छोटी-सी नदी शिखड़ी का था जिससे जब गांव में एक मन्दिर में उस मोहरे को लोगों ने स्थापित किया तो उसे शिखड़ू ही नाम दिया गया। तभी से लोग इस देवता पर अटूट श्रद्धा रखते हैं। हर वर्ष मेले का यहां आयोजन होता है। अब तो यह मेला सरकारी रूप ले चुका है।

एक दूसरी किवदन्ती इस प्रकार है कि राजा पद्म सिंह के राज्य काल में इस क्षेत्र में भयंकर अकाल पड़ गया था। किसानों की सारी फसलें नष्ट हो गई। नदी और चश्मों का पानी सूख गया। लोगों ने राजा सहित अपने देवताओं की पूजा की कि वर्षा हो जाए लेकिन वहां वर्षा नहीं हुई। राजा क्रोधित हो गया और उसने सम्बन्धित देवताओं के गूरों को देवता रूप में जेलों में बन्द कर दिया। कहा जाता है कि रोहड़ू का शिखड़ू इनमें नहीं था। जेलों में बन्द देवताओं के मुखबरों ने सलाह दी कि देवता शिखड़ू के पास जाकर इसके लिए विनती करो ताकि इससे छुटकारा पाया जा सके। लोग एकत्रित हुए और देवता के पास पुकार की। देवता ने लोगों की बात सुनी और राजा की एक मनौती की याद दिलाई। किसी समय राजा ने देवता के लिए सात बकरे माने थे जिन्हें देना वह भूल गया है। इसी कारण राज्य में ऐसा हो रहा है। लोगों ने जब राजा से यह बात कही तो वह सहमत हो गया। देवता को मनाया गया कि राजा सात बकरे अवश्य देगा लेकिन इस प्रकोप को टाल दें। तभी आसमान में बादल घिर आए और वर्षा शुरू हो गई। क्षेत्र फिर से हरा-भरा होने लगा। लोगों के मन शान्त हो गए और राजा ने खुशी से सात बकरे देवता को भेंट किए। यह दिन थे 9-10 बैशाख के। इस दिन भारी जनसमूह यहां एकत्रित हुआ था जिसने एक मेले का ही रूप ले लिया। इसी दिन से यहां आयोजित होने वाले इस विशाल मेले की नींव भी पड़ी।

बांदरा देवता मन्दिर

बांदरा देवता का प्राचीन मन्दिर बंछूछ गांव में स्थित है। यह गांव रोहड़ू तहसील के जनपद में बसा है। जहां यह मन्दिर निर्मित है वहां कभी बीहड़ जंगल हुआ करता था जिससे यहां जाना अति कठिन था। रास्ता अति विकट होने के कारण जंगली जानवरों का डर निरन्तर लगा रहता था। इस मन्दिर के साथ एक विशाल देवदारू का पेड़ है जिसने मन्दिर का कलश अपने में समेटे रखा है। मन्दिर पहाड़ी शैली में पैगोडा नुमा है। मन्दिर की लोकशैली दर्शनीय है काष्ठकला का विचित्र प्रयोग इसमें मिलता है।

मन्दिर के सम्बन्ध में एक रोचक किवदन्ती आज भी पुजारी तथा अन्य ग्रामीण कहते हैं। जब वे इस कथा को सुनाते हैं तो इस तरह वर्णन करते हैं मानों यह घटना

उन्हीं के सामने हुई हो। कहते हैं एक बार रामपुर रियासत का राजा अपने कुछ साथियों के साथ इस जंगल में शिकार के लिए निकल पड़ा। उस समय जंगल के मध्य एक छोटा-सा लकड़ी का मन्दिर यहां विद्यमान था। बताया जाता है कि शिकार खेलते हुए यह मन्दिर राजा और उसके साथियों से पूर्णतया नष्ट हो गया। ये लोग जूतों सहित मन्दिर के प्रांगण में और बाहर-भीतर भाग-दौड़ करते रहे। जिससे मन्दिर की पवित्रता नष्ट हो गई। राजा साथियों सहित जब वापिस महल पहुंचा तो उसे पेट में दर्द शुरू हो गया। राजा ने बहुत इलाज करवाया परन्तु उसकी दर्द किसी भी तरह से ठीक नहीं हुई।

एक दिन की बात है कि वहां से एक साधु घूमता हुआ निकला। वह महल में भी प्रवेश कर गया। राजा के पहरेदारों ने राजा की तकलीफ का उस साधु से जिक्र कर दिया। उसने तत्काल राजा से मिलना चाहा तो उसे राजा के पास ले जाया गया। उसने राजा को बताया कि यह दर्द किसी देव प्रकोप की वजह से हुआ है। फिर साधु ने राजा को शिकार वाली घटना बताई और कहा कि वहां किसी देवता के मन्दिर की पवित्रता भंग हुई है। इसलिए जब तक उस मन्दिर का नए सिरे से निर्माण नहीं किया जाता यह पेट दर्द ठीक नहीं हो सकती।

राजा को शिकार वाली पूरी बात याद आ गई। उसे यह भी स्मरण हो आया कि वहां एक छोटा-सा घर रूपी मन्दिर अवश्य था। उसने उसी वक्त अपने प्रहरी भेजे और दोबारा घटना का जायजा लिया। सचमुच मन्दिर क्षतिग्रस्त हो चुका था। इस पर राजा ने अच्छे कारीगर बुलाकर इस मन्दिर को दोबारा सुन्दर ढंग से बनवाया। कारीगर ने इस मन्दिर में जैसे अपना सर्वस्व निछावर कर दिया हो और यह मन्दिर कला का एक उत्कृष्ट नमूना बन गया। सिपाहियों ने जब देखा कि यह मन्दिर सभी भवनों और मन्दिरों से बिलकुल अलग तरह का है तो उन्होंने उस कारीगर को इसलिए मारना चाहा कि वह दोबारा इस तरह का दुर्लभ मन्दिर अन्यत्र न बनाए। उसने उनकी चाल भांप ली और मन्दिर की छत से छलांग लगाकर वहीं आत्महत्या कर ली। मन्दिर प्रांगण में उसके पैरों के चिन्ह अभी भी मौजूद हैं।

इस मन्दिर के साथ कुछ और भी छोटे-छोटे मन्दिर हैं जिनमें शिव-पारवती, गणेश भगवान और विष्णु जी की प्रतिमाएं रखी गई हैं। इस तरह की लगभग 45 से अधिक प्रतिमाएं यहां मौजूद हैं।

बांदरा नामकरण के बारे में कोई कथा उपलब्ध नहीं है। यहां भुण्डा उत्सव की तरह ही 12 सालों में एक मेला मनाया जाता है जिसमें कालान्तर में नरबलि की प्रथा रही बताई जाती है। यह मेला मन्दिर निर्माण के साथ ही प्रारम्भ किया गया था। अब यह प्रचलन बन्द कर दिया गया है। रोहड़ू क्षेत्र एवं आस-पास के लोगों का यह स्थल श्रद्धाकेन्द्र है।

नाग मन्दिर, नालदेहरा

शिमला से 23 किलोमीटर दूर, समुद्रतल से 2044 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है एक ऐसा रमणीक स्थल जिसे पर्यटकों के स्वर्ग से अलंकृत किया जाता है। देवदार के घने जंगलों के मध्य इसे नालदेहरा के नाम से जाना जाता है। गोल्फ कोर्स होने के कारण यह देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी प्रसिद्ध पर्यटक स्थल के रूप में भी उभरा है। इसी गोल्फ कोर्स के ऊपर देवदारुओं के मध्य एक प्राचीन मन्दिर निर्मित है जिसकी छत सुन्दर स्लेटों से छवाई गई है। मन्दिर में लकड़ी तथा पत्थर का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। दूर से यह मन्दिर अति आकर्षक लगता है। दो-तीन देवदार के वृक्षों ने अपनी टहनियों से इस मन्दिर पर छत-सी बना रखी है। यही वह नाग मन्दिर है जिससे इस पर्यटक स्थल का नामकरण हुआ है।

इस मन्दिर में कोई प्रतिमा स्थापित नहीं है। भीतर लकड़ी के तख्ते जिन्हें हम शहतीरे भी कह सकते हैं, विद्यमान हैं जिन पर सांप की आकृतियां बनाई गई हैं। मन्दिर में इन आकृतियों के सिवा कोई मूल्यवान वस्तु श्री नाग देवता की शक्ति के अतिरिक्त नहीं है।

स्थानीय लोगों का कहना है कि यह मन्दिर कई सौ साल पहले का बना है। गोल्फ कोर्स के निर्माण से पूर्व यह स्थान एक जंगल हुआ करता था। चारों तरफ देवदार के विशालकाय घने वृक्ष होते थे। स्थानीय लोगों के पशु यहां नियमित रूप से चुगने के लिए आया करते थे। इन पशुओं को बच्चे चुगाने ले आया करते थे। कुछ दिनों बाद यह ऐसा होने लगा कि जो दुधारू गाय होती वह एक वृक्ष के नीचे खड़ी होकर हरी घास के मध्य किसी अदृश्य चीज पर स्वतः ही दूध गिराया करती थी। सायंकाल जब घर के मालिक उसको दूहते तो उसके थन सूखे होते। लगता बछड़ों ने सारा दूध पी लिया हो। इस पर बच्चों को रजकर डांट पड़ती। बच्चे परेशान होते कि दूध बछड़े आखिर पी किस तरह जाते हैं।

एक दिन बच्चों ने गायों को दूध गिराते देख लिया तथा इस घटना को घर में बता दिया। दूसरे दिन लोग खुद इस चमत्कार को देखने पशुओं के साथ चले आए और इस बात को सत्य पाया। खोज की गई तो पता चला कि जहां गाय दूध गिराती है वहां एक सफेद पत्थर है। लोगों ने उसकी खुदाई की लेकिन उसकी गहराई न मिल सकी। लोगों ने उसे खोदना छोड़ दिया और घर लौट आए।

रात्रि को एक ग्रामीण के स्वप्न में देवता प्रकट हो गया तथा उस स्थान पर मन्दिर बनाने के लिए उसे प्रेरित किया। सुबह उस ग्रामीण ने यह घटना सभी को सुना दी तथा लोगों ने एकत्रित होकर इस जगह पर एक छोटा-सा मन्दिर बना दिया। स्वप्न में देवता ने मन्दिर निर्माण की जगह के बारे में चीटियों के घेरे का संकेत दिया था और जब लोग वहां पहुंचे तो उस पिण्डी के चारों तरफ चीटियों की एक कतार ने सीमा बांध रखी थी जिस परिधि में यह मन्दिर बना।

इस स्थान पर देवता के प्रकट होने सम्बन्धी एक घटना और भी कही जाती

है। बताया जाता है कि यहां के गांव का एक तुरी कहीं से ढोल बजा कर आ रहा था। वह शादी-ब्याह में ढोल बजाने का कार्य किया करता था। यहां से गुजरते हुए उसने अपना ढोल कन्धे पर लटका रखा था। उसकी आदत थी कि वह अपने साथ हमेशा एक गुलेल रखता था जिससे शिकार के लिए पक्षियों को मार दिया करता। जब वह इस स्थान से गुजरने लगा तो उसने देवदार के वृक्ष के नीचे एक मुर्गे को उछलते-कूदते देखा। उसने तत्काल गुलेल निकाल ली और उस पर प्रहार किया लेकिन वह उसमें नहीं लगा। वह गुलेल से पत्थर पर पत्थर मारता गया लेकिन कोई भी पत्थर मुर्गे पर नहीं लगा। इसके बाद मुर्गे ने तुरी को ढोल बजाने को कहा। तुरी समझ गया था कि यह साधारण पक्षी नहीं है। उसने ढोल बजाना शुरू किया और तान में मुर्गा नाचता रहा। कुछ देर बाद वह मुर्गा अदृश्य हो गया।

तुरी भागता हुआ गांव आया और उसने यह बात सभी को बता दी। लोग धार्मिक प्रवृति के तो थे ही। सभी यहां एकत्रित हो गए और उस अदृश्य शक्ति के पुन: प्रकट होने के लिए प्रार्थना करने लगे। तभी एक ग्रामीण में देवता की छाया आ गई और उसने देवता के यहां बसने की बात कही। लोगों ने तत्पश्चात् मन्दिर का निर्माण किया और विधिवत् पूजा होने लगी। तभी से लेकर आज तक गांव में देवता की नियमित पूजा तथा विशेष अवसरों पर लोग इस मन्दिर में जागरण करते हैं।

आज तक गांव में यह प्रथा विद्यमान है कि यदि किसी गाय के बच्चा हो जाता है तो गाय का दूध और घी सबसे पहले नाग मन्दिर में चढ़ाया जाता है। नालदेहरा के साथ जुब्बड़ गांव बसा है जहां नाग देवता का दूसरा मन्दिर स्थित है। यहां नाग देवता का सुन्दर रथ और छतर बनाया गया है। चांदी के कई मोहरे रथ पर सजाए जाते हैं। मनोकामना पूर्ण होने पर देवता के रथ छतर को लोग अपने गांव-घरों में जातरों के लिए ले जाते हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान लार्ड कर्जन को यह स्थान अधिक पसन्द आया और उसने इसे गोल्फ कोर्स के लिए चुना। देवता के आशीर्वाद से यह स्थान अंग्रेजों के समय में गोल्फ एवं भ्रमण हेतु विख्यात हो गया। लार्ड कर्जन की बेटी लेडी अलगजेण्डर को यह स्थान इतना पसन्द आया कि उसने अपना नाम ही नालदेहरा रख लिया था।

नागदेहरा से आज यह स्थल नालदेहरा के नाम से भारत में ही नहीं अपितु विश्व भर में प्राकृतिक सुन्दरता और गोल्फ के लिए प्रख्यात है। अब यह पर्यटक स्थल हिमाचल पर्यटन विकास निगम के अधीन है जहां प्रतिदिन पर्यटकों की भीड़ लगी रहती है। इतना अवश्य है कि अब यह स्थल केवल एक गोल्फ कोर्स और पर्यटक स्थल के रूप में ही मान्य है, जिस देवता के आशीर्वाद से यह स्थान फल-फूल रहा है उसके मन्दिर को महज मनोरंजन का साधन पर्यटक लोग बनाए हुए हैं।

मशोबरा में भी प्राचीन देवी दुर्गा का मन्दिर स्थित है। यहां से नीचे उतरकर 5 कि०मी० दूर सतलुज की ओर देवदार के जंगल के मध्य सीपुर गांव है, जहां सीपी देवता का मन्दिर है।

सुन्नी के मन्दिर

सुन्नी शिमला से लगभग 48 किलोमीटर दूर सतलुज नदी के किनारे पर स्थित है। यह गांव शिमला करसोग मार्ग के दोनों ओर समुद्रतल से लगभग 500 मीटर की ऊंचाई पर बसा है। शिमला से यहां तक पहुंचने के लिए बस सतलुज नदी के तट से गुजरती है। इस स्थान को भज्जी रियासत की राजधानी का गौरव भी प्राप्त है। कस्बे के बिल्कुल शिखर पर राजा के पुरातन बेड़े आज भी साक्षी के रूप में खड़े हैं। सुन्नी से सतलुज नदी के किनारे-किनारे लगभग पांच किलोमीटर में तत्तापानी तक कई मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें कुछ अपनी मूल स्थिति बनाए हैं लेकिन कुछ दरिया के किनारे मिट्टी के बीच आधे दब चुके हैं। कुछ छोटे आकार के मन्दिर हैं जो जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है।

सही स्थिति में कालीघाट का भीमाकाली मन्दिर दर्शनीय है। यह मन्दिर पहाड़ी शैली का सुन्दर उदाहरण है। यहां का परिदृश्य देखते ही बनता है। मन्दिर के प्रांगण के बिल्कुल नीचे से सतलुज बह रही है। प्रांगण और मन्दिर के अधिकांश भाग को एक विशाल वृक्ष ने घेर रखा है। इस वृक्ष के नीचे पत्थर की आदमकद भैरव की प्रतिमा स्थापित है जिसे प्रहरी के रूप में स्थापित किया गया है। साथ एक शेर की प्रतिमा है। मन्दिर में प्रवेश हेतु लोग सदैव भैरव को मत्था टेकने के उपरान्त भीतर प्रवेश करते हैं। यह मन्दिर चारों तरफ से एक दीवार से घिरा है। इसी दीवार में एक बड़ा प्रवेश द्वार है जिससे भीतर प्रवेश किया जा सकता है। इस दीवार के भीतर चारों तरफ सुन्दर पेड़ और झाड़ियां हैं। एक कोने में पानी का नल है जिसमें हाथ-मुंह धोकर कुछ सीढियां चढ़कर मन्दिर के मण्डप में प्रवेश किया जाता है। यह मण्डप चारों ओर से खुला है। मण्डप को पार करके मुख्य मां काली का मन्दिर है। एक छोटे दरवाजे से भीतर माता की प्रतिमा के दर्शन किए जाते हैं। पुजारी केवल सुबह-शाम ही पूजा करने आता है। दिन को दर्शक खुद ही माता के मन्दिर में मथा टेकने जाते हैं। मन्दिर के साथ और एक छोटा-सा मन्दिर है जो भगवान शिव को समर्पित है। इसका दरवाजा काफी छोटा है। भीतर मन्दिर के गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है। मन्दिर निर्माण की सही तिथि बताना कठिन है लेकिन तहसील के राजस्व रिकार्ड में यह दो सौ सालों से दर्ज है। लेकिन मन्दिर इससे भी पूर्व का बना है। मन्दिर के पीछे मेला मैदान है जहां प्रति वर्ष दशहरा और लालल का मेला लगता है जिसमें स्थानीय देवता भाग लेते हैं। मन्दिर के साथ कुछ दूरी पर सतलुज नदी पर एक विशाल कच्चा पुल सुकेत रियासत को जोड़ता है जिसे काली घाट के पुल के नाम से जाना जाता है। क्योंकि मन्दिर दरिया के छोर पर है इसलिए जब हवा के झोंके चलते हैं तो बट वृक्ष के पत्तों की सरसराहट दरिया के शोर से एक अजीब स्वर लहरी उत्पन्न कर देती है जिससे यहां कई घण्टों रुके रहने को मन करता है। यहां का माहौल अत्यन्त शान्तीमय है जिसमें स्नेह भरा लगता है। एक पल के लिए मन्दिर के प्रांगण में बैठकर आदमी सभी परेशानियों को भूल बैठता है।

संकटमोचन मन्दिर

सुन्नी बाजार से बसन्तपुर की ओर लगभग एक फर्लांग की दूरी पर आम के बूढ़े पेड़ों के मध्य सतलुज नदी के किनारे प्राचीन संकटमोचन मन्दिर स्थित है। वास्तव में यह मन्दिर परिसर पुराने और नए मन्दिर का संयुक्त परिसर कहा जा सकता है क्योंकि प्राचीन मन्दिर को नए भवन के भीतर सुरक्षित कर दिया गया है जिससे अब मन्दिर के बाहर एक बड़ा हाल बन गया है जहां लोग शान्ती से बैठकर जब तक चाहे भगवान महावीर की अराधना कर सकते हैं, कीर्तन कर सकते हैं और दूर के सफर से आकर यहां विश्राम कर सकते हैं। यह परिसर चारों तरफ से बन्द है केवल एक मुख्य गेट भीतर प्रवेश करता है, जिसके बाहर जूते उतारकर आप भीतर प्रवेश कर सकते हैं। बहुत पहले महावीर का यहां छोटा-सा मन्दिर हुआ करता था लेकिन अब सड़क से आते-जाते इस परिसर पर नजर पड़ते ही मन दर्शन के लिए लालायित हो उठता है।

महावीर जी के मन्दिर के दायीं ओर दो अन्य छोटे मन्दिर मां वैष्णों देवी और भगवान शंकर को समर्पित हैं। इन मन्दिरों में छोटी-छोटी प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की गई हैं। महावीरजी के मन्दिर के साथ यह किदवन्ती जुड़ी है कि अपने बनवास काल में पांडव सतलुज के इस छोर पर रुके थे जिन्होंने हनुमान जी की प्रतिमा यहां स्थापित की और जब तक वह यहां रहे पूजा करते रहे। हनुमान मन्दिर में पहले एक काला पत्थर ही महावीर जी की प्रतिमा थी लेकिन अब इस प्राचीन प्रतिमा को सुरक्षित रखकर महावीर जी की मूर्ति बनाई गई है। यहां कई सालों से रह रहे कुछ महात्मा जनों ने स्थानीय प्रशासन के सहयोग से इस विशाल मन्दिर परिसर का निर्माण किया है। स्थानीय लोगों ने भी खूब सहयोग दिया है।

इस मन्दिर के ऊपर खेतों में एक और मन्दिर स्थित है जो भगवान शिव को समर्पित है। यह एक प्राचीन अवशेष मात्र रह गया है। यहां शायद ही कभी पूजा की जाती हो। भीतर शिवलिंग स्थापित है। मन्दिर की दीवारों पर घास और काई उग आई है। सुन्नी बाजार में बस स्टेण्ड पर एक विशाल पीपल का वृक्ष है जिसके नीचे बैठकर लोग विश्राम किया करते है। यहीं से एक रास्ता तहसील परिसर को चला जाता है। रास्ते के प्रारम्भ होते ही दाहिने किनारे एक और प्राचीन मन्दिर देखा जा सकता है। यह भगवान विष्णु को समर्पित है। लेकिन मन्दिर उचित देख-रेख के अभाव में अपना मूल रूप खोए जा रहा है। इसमें पत्थर की प्रतिमाएं रखी हैं। इन मन्दिरों का पुरातात्विक दृष्टि से यदि अध्ययन किया जाए तो यह विदित हो सकता है कि इनके निर्माण का सही काल क्या रहा होगा। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह स्थान कालान्तर में प्रमुख भक्ति केन्द्र रहा है।

बसन्तपुर सुन्नी से 8 कि०मी० की दूरी पर स्थित है। शिमला-सुन्नी तथा शिमला-किंगल मार्ग यहीं एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। इसी मार्ग के मध्य दुर्गा मन्दिर स्थित है। यहां खेतों के मध्य देवी का प्राचीन मन्दिर भी स्थित है।

भीमाकाली मन्दिर शाली

शिमला के प्रमुख स्थान रिज मैदान पर जब भी हम प्रकृति के मनोहारी दृश्यों का अवलोकन चारों ओर करते हैं तो पूर्व की ओर हमारी आंखें एक विशाल नुकीले टिब्बे (चोटी) पर जा टिकती हैं। एकटक निहारते रहने के उपरान्त इस चोटी पर एक भवन चट्टान के रूप में दिखाई पड़ता है—और यही मां भीमाकाली का प्राचीन मन्दिर समुद्रतल से 2897 मी० की ऊंचाई पर स्थित है।

मनोरम-प्रख्यात गोल्फ कोर्स एवं पर्यटक स्थल नालदेहरा जो शिमला से 22 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, यहां से देवदार के बीच की पहाड़ी पर खड़े होकर भी बहुत करीब से इस मन्दिर को देखा जा सकता है। यहां से ऐसा लगता है कि यह मन्दिर आसमान को स्पर्श कर रहा हो।

यह स्थान शिमला से लगभग 50 किलोमीटर दूर है। लेकिन बस से केवल मशोबरा तक ही जाया जा सकता है, वहां से पैदल मार्ग लेना पड़ता है। पहले कुछ किलोमीटर की उतराई गुम्मा तक और वहां से खड़ी चढ़ाई द्वारा मन्दिर पहुंचा जा सकता है। दूसरा मार्ग शिमला-बसन्तपुर-गुम्मा तक बस द्वारा जाया जा सकता है। यहां से भी मन्दिर के लिए दो मार्ग हैं। एक मार्ग पहाड़ी संकरी पगडंडियों का है जो सीधा मन्दिर के बीच निकलता है और दूसरा खुला खच्चर मार्ग है, जहां से श्रद्धालु और पर्यटक घोड़े द्वारा आ-जा सकते हैं। मार्ग में आखरी गांव दलाना आता है जिसके उपरान्त कोई बस्ती नहीं है।

भीमाकाली का यह मन्दिर लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन बताया जाता है। हालांकि इस मन्दिर का कोई इतिहास लिखित रूप में प्रामाणित नहीं है लेकिन देवी के यहां आने की कथा अवश्य उपलब्ध है। किवदंती के अनुसार शिखर की गोद में बसा गांव दलाना ब्राह्मणों का प्रमुख गांव है। इसी गांव से एक व्यक्ति ने काशी जाकर अध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की। इस ब्राह्मण को बचपन से ही मां का आशीर्वाद प्राप्त था तथा नियमित यह ब्राह्मण देवी की पूजा में भी तल्लीन रहा करता था। काशी विद्या-पीठ से जब वह गांव वापिस लौटा तो इसे एक प्रकाण्ड विद्वान की उपाधि से लोगों ने अलंकृत कर दिया। इसका नाम श्री बद्रीदत था। यह काल हिमाचल प्रदेश में छोटी-छोटी रियासतों का था और रियासतों के राजा-महाराजा अपने दरबारों में अवश्य किसी विद्वान पंडित को आश्रय दिए रखते थे और उनका हृदय से सम्मान भी करते थे।

बताया जाता है कि पंडित बद्रीदत एक दिन भ्रमण के लिए शिमला के ऊपरी स्थान में चले गए और सराहन पहुंच गए। सराहन में प्रसिद्ध मां भीमाकाली का मन्दिर स्थित है। इस दौरान पंडित ने देखा की देवी ने रूष्ट होकर अपने प्रचण्ड रूप से वहां की प्रजा को आतंकित कर रखा है। तत्कालीन राजा की शरण में जब प्रजा ने निवेदन किया तो राजा ने किसी तरह से देवी को प्रसन्न किया और प्रतिदिन देवी को एक मनुष्य की बलि देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद आतंक तो समाप्त हो गया लेकिन एक घर से रोज एक व्यक्ति की बलि दी जाने लगी।

पंडित बद्रीदत जब रात्री को एक गांव में पहुंचा तो उसने कहीं ठहरने के लिए जगह तलाशनी चाही। गांव से गुजरने के बाद उसे एक घर से चक्की पीसने की आवाज आई। वह रूक गया और दरवाजे से भीतर देखने पर उसे दिए की रोशनी में चक्की पीसती एक बुढ़िया दिखाई दी जो साथ-साथ रो भी रही थी। उसके मन में इसके जानने की इच्छा उत्पन्न हो उठी। उसने दरवाजा खटखटाया और बुढ़िया से अनुमति लेकर भीतर बैठ गया। जब उसने बुढ़िया के रोने का कारण पूछा तो बुढ़िया ने बताया कि अब तक देवी मां के लिए उसके छः पुत्रों की बलि दी जा चुकी है, अब उसके सातवें पुत्र की बलि दी जानी है। वह उसके लिए आज अच्छे पकवान पका रही है और इसी दुख से रो भी रही है कि इसके बाद उसका आखरी सहारा भी छीन जाएगा। इस कथा को सुन कर वह पंडित हैरान हो गया और उसके मन में जहां बुढ़िया की सहायता करने की इच्छा उत्पन्न हुई वहां जनता को इस आतंक से मुक्ति दिलवाने के लिए भी वह सोच में पड़ गया। उसने तत्काल बुढ़िया को उसके बेटे की जगह खुद को बलि हेतु अर्पित करने की हठ कर ली लेकिन बुढ़िया को यह भाया नहीं। परन्तु वह नहीं माना। इस पर बुढ़िया ने वह पकवान उसे खिला दिए। लोगों को जब विदित हुआ तो उनके मन में इस बलिदान हेतु उस पंडित के लिए स्नेह के बादल उमड़ पड़े लेकिन उसको बचाना उनके बस से बाहिर था।

पंडित बद्रीदत विद्वान तो था ही, उसने मन्दिर में प्रवेश किया और दरवाजा बन्द करके मां की स्तुति प्रारम्भ कर दी। बताया जाता है कि उसने लगातार सात दिन और रात मां की स्तुति बन्द कमरे में की। सातवें दिन मां भीमाकाली ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दे दिए और बताया कि वह यहां की जनता से अप्रसन्न है। लेकिन वह जो भी चाहे उसे इच्छानुसार फल देगी। पंडित ने मां के चरणों में अपना मस्तक डाल कर निवेदन किया कि नर बलि न लें उनके बदल वह उसी की बलि ले लें। मां उसके बलिदान को देखकर और भी प्रसन्न हो गई और इसके बदले मां ने एक शर्त रखी कि वह उसके पैतृक गांव में रहना चाहेगी। उस पंडित ने यह बात स्वीकार की और मन्दिर में एक छोटी मूर्ति को स्थापित करके उसकी प्राण प्रतिष्ठा कर दी। लेकिन भीमाकाली मन्दिर की महिमा को ज्यों का त्यों बनाए रखा और जिस कारण देवी मां रूष्ट थी उस बात का गहराई से अध्ययन करके उसका समाधान भी कर दिया।

लोगों को इसके उपरान्त उस पंडित ने पूर्ण परिचय दिया और उन्हें विश्वास दिलाया कि देवी अब नर बलि कभी नहीं लेगी। वह सदैव जन कल्याण ही करती रहेगी। इस पर उस पंडित का जहां राजा ने भव्य स्वागत किया वहां वह लोगों की अपार स्नेह का पात्र भी बन गया। उसके बाद मां की मूर्ति लेकर पंडित अपने गांव असंख्य लोगों के साथ रवाना हो गया। गांव पहुंच कर उसने लोगों के सहयोग से वहां देवी का मन्दिर स्थापित कर दिया जो दलाना में आज भी स्थित है। लेकिन कुछ अर्से बाद देवी ने गांव के ऊपर शिखर पर बसने की जब इच्छा जाहिर की तो लोगों ने उसी अनुरूप मां का वहां भी मन्दिर बना दिया जो चारों तरफ से शिखर की तरह

दिखाई देता है या ऐसा लगता है कोई प्राणी या जीव चुपचाप बैठा हो। देवी की अपार शक्ति से शाली टिब्बा आज हिमाचल में ही नहीं बल्कि बाहर के स्थानों में भी प्रख्यात है। जहां प्रतिदिन श्रद्धालु आते-जाते रहते हैं वहा नवरात्रों में तो हजारों लोगों की भीड़ दिखाइ देती है। लोग बाहर डेरा डालकर समय बसर करते देखे जा सकते हैं। स्थानीय लोगों ने अब तो इस मन्दिर का पूर्णतया जिर्णोद्धार कर दिया है लेकिन मूल स्थान को उसी तरह सुरक्षित रखा गया है।

भीमाकाली सराहन मन्दिर के इतिहास का यदि अध्ययन किया जाए तो उसमें अवश्य कभी नर बलि का जिक्र मिलता है। लेकिन शाली मन्दिर का जिक्र वास्तव में इतना उल्लेखित नहीं जितना की इस किवदंती में है। यहां और भी कई ऐसे स्थान हैं जो मनुष्य को आश्चर्य चकित कर देते हैं। शाली टिब्बे पर जाकर चारों तरफ के मनोहारी दृश्य देख जा सकते हैं। यहां जाकर लगता है मानों मनुष्य आकाश में बादलों के समीप पहुंच गया है।

यह देवी यहां के लोगों की कुल देवी है। इसके चमत्कार और शक्ति की कई कथाएं लोग सुनाते रहते हैं। एक वर्ष पूर्व की एक घटना मन को दहला देने वाली है जिससे इस देवी के प्रति किसी की भी आस्था बढ़ सकती है।

बताया जाता है कि पास के किसी गांव में रह रहे दो लड़कों की आपस में बोल चाल हो गई। उनमें एक अति भोला भाला था और उसने वह बात भूल। दी लेकिन दूसरा न भूला सका। उसने एक दिन अपने एक दोस्त के साथ उस लड़के को शाली टिब्बे जाने पर राजी कर लिया। वह दिन भर का सफर तय करके रात्रि में वहां पहुंचे। कुछ देर बाद उन दोनों ने उस तीसरे को एक पेड़ के साथ बान्ध दिया और एक दराट से उस पर प्रहार करने लगे। वह जोर-जोर से चिल्लाया लेकिन उस जंगल में आखिर उसके बचाव के लिए कौन आने वाला था। तभी उन्होंने देखा कि कहीं से एक बुढ़िया हाथ में लाठी लेकर अचानक उनके मुंह के पास आई और उसने दराट को छीन लिया। इसके डर से वे दोनों भाग गए। बुढ़िया ने उस लड़के को रस्सियों से खोल कर आजाद किया और घर जाने के लिए कहा। और आश्वासन दिया कि उसे अब डरने की आवश्यकता नहीं है।

वह लड़का मुक्त हो गया और मन ही मन देवी को अपनी जान की रक्षा के लिए दुहाई देने लगा। यह ख्याल उसे बाद में आया कि रात्रि को उसे बचाने वाली भीमाकाली ही हो सकती है ओर नहीं।

दिन प्रतिदिन यह स्थान लोकप्रिय होता जा रहा है। यहां का सौन्दर्य अभूत-पूर्व है। चारों तरफ के परिदृश्यों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वर्ग में पहुंच गए हैं। अभी यहां तक बस योग्य सड़क न होने के कारण लोग अधिक मात्रा में नहीं जा पाते हैं। यदि यहां तक बस योग्य मार्ग निर्मित हो जाता है तो इसमें सन्देह नहीं यह स्थान हिमाचल का प्रमुख शक्ति केन्द्र बन जाएगा और हजारों लोग माता के दर्शन करके हिमालय की इन मनोरम छटाओं का अवलोकन भी कर पाएंगे।

माहूनाग मन्दिर खोब

शिमला से किंगल जाने वाली सड़क पर बसन्तपुर और गुम्मा गांव के बाद कडारघाट नामक स्थान आता है। यह स्थान शिमला से 58 कि०मी० दूर है। यहां तक बस में यात्रा करने के पश्चात् डेढ़ किलोमीटर की चढ़ाई चढ़ने पर खोब गांव आता है। यह गांव खैरा पंचायत में बसा है। माहूनाग मन्दिर यहीं स्थित है। मूल मन्दिर चारों तरफ से ऊंची दीवार लगाकर बन्द है। भीतर जाने के लिए केवल एक मुख्य दरवाजा है जो पूर्व की ओर खुलता है। दरवाजे से भीतर जाने पर बाईं ओर नाग मन्दिर है। ये दो कमरे हैं। एक में माहू नाग का वास है। मन्दिर सक्रान्त में केवल एक बार खुलता है। इसमें नाग की प्रतिमाएं स्थापित हैं। साथ वाले कमरे में प्राचीन मूर्तियां और मोहरें हैं जिनकी नियमित पूजा होती है। नाग देवता का विशाल रथ है। जो केवल जातरों के लिए ही सजाया जाता है। रथ में 12 से अधिक मोहरे लगाए जाते हैं जो चांदी की चारों तरफ लगने वाली बड़ी गाची के ऊपर होते हैं। रथ को उठाने के लिए चार व्यक्ति होते हैं। उठाने के लिए जो दो लम्बे डण्डे हैं उन पर चांदी के रुपए मेखों से लगाए गए हैं। रथ में पीछे की ओर एक मूर्ति लगी रहती है जिसे लम्बे बालों से ढांपे रखा जाता है। ऊपर की ओर बड़ा चांदी का छतर मोहरों को ढके रहता है। रथ के साथ सुन्दर छतर भी है जिसे अन्य व्यक्ति उठाता है।

जब वह रथ जातरों में बाहर जाता है तो देवता को बकरे की बलि देनी पड़ती है। यह देवता अपनी मर्जी से कहीं भी अपने रथ को ले जाता है। जो व्यक्ति रथ उठाते हैं उन्हें यह पता नहीं रहता कि रथ कहां जा रहा है। मन्दिर में रोज सुबह पंचायत होती है जिसमें दूर-दूर से लोग अपने सुख-दुख लेकर आते हैं। यहां से यह निश्चित है कि कोई भी व्यक्ति खाली नहीं लौटा है।

यह देवता सुकेत से यहां आया है। इसलिए जो परम्पराएं और नियमावली बखारी कोठी माहूनाग की हैं वही यहां भी हैं। कहा जाता है कि खोब गांव के बजुर्ग सुकेत से यहां बसने आए थे जिनके साथ ही नाग कुल देवता के रूप में उनके साथ है। प्रारम्भ में नाग देवता के मोहरे पीतल के थे। इस मन्दिर के साथ देवता का भण्डार गृह है। मन्दिर की छवाई स्लेटों से की गई है। मन्दिर की कुछ दूरी पर नीचे की ओर एक छोटा मैदान है जिसके एक ओर दूसरा छोटा मन्दिर है। इसमें जो देवता की प्रतिमा है उसे नाग का पहरेदार बताया गया है। माहूनाग की जन्म कथा भी वही है जो बखारी कोठी माहूनाग की है। यहां पुरानी परम्पराएं सुरक्षित हैं। गांव में कोई व्यक्ति शराब तक नहीं पीता है। बजतंर बहुत सुन्दर है।

कहते हैं कि एक बार पंडित जवाहरलाल नेहरू ने हिमाचल प्रदेश के सभी मुख्य देवताओं को दिल्ली आमन्त्रित किया था लेकिन यह पहला देवता था जिसने दिल्ली जाने से इन्कार कर दिया। ऐसा इसलिए किया गया कि देवता किसी भी वाहन में नहीं जाता है। केवल पैदल यात्रा की ही परम्परा है। लेकिन वर्ष 1989 में अप्रैल 8-9 को चनावग (तहसील सुन्नी) में लोक-उत्सव मनाया गया उसके लिए पहली बार

नाग देवता ने वाहन में आने की अनुमति दी थी। परन्तु जब वापिस अपने मन्दिर देवता गया तो इस परम्परा को तोड़ने के लिए एक बकरे की बलि ले ली।

कुरगण प्रकाश, मढोड़

श्री कुरगण देवता का प्राचीन मन्दिर जिला शिमला की तहसील सुन्नी में स्थित मढोड़ गांव में है। यहां तक के लिए शिमला से सीधी बस सेवा उपलब्ध है। शिमला से जो सड़क ढली होती हुई करसोग जाती है इस पर लगभग 32 कि०मी० की दूरी पर देवीधार नामक स्थान है। यहां हिन्दुस्तान-तिब्बत सड़क का वह नया मार्ग मिलता है जो आगे जाकर किगल में मिल जाता है। इस गांव का मुख्य मार्ग छोड़कर बस बांई ओर चली जाती है और 11 किलोमीटर बाद इस स्थान पर पहुंचती है। इस तरह कुल दूरी लगभग 43 कि०मी० तय करने के उपरान्त इस गांव के छोर पर पहुंचा जा सकता है।

यहां एक बड़ा चबूतरा है जिस पर दो विशाल पीपल के वृक्ष चारों तरफ अपनी टहनियां फैलाए हुए हैं। ये वृक्ष कई सौ वर्ष पुराने बताए जाते हैं। इनके साथ भी कुछ पत्थर की प्रतिमाएं विद्यमान हैं। इस चबूतरे से दाहिनी ओर कुछ सीढ़ियां चढ़ कर प्राचीन श्री मनसा देवी मन्दिर निर्मित है और इस मन्दिर के ठीक बांई ओर काफी सीढ़ियां चढ़ने के बाद घने झुरमटों के मध्य प्राचीन देव कुरगण का मन्दिर स्थित है। इस मन्दिर का दरवाजा पश्चिम की ओर है जिसे सामने से एक बड़े पीपल के वृक्ष ने घेर रखा है। जहां सीढ़ियां समाप्त होती है वहां भी एक छोटा चबूतरा है जिस पर लोहे की गुर्जे, कड़ोले तथा पत्थर की प्रतिमाएं रखी हैं। देवता का मन्दिर साधारण तरीके से मिट्टी के 'भीत' लगा कर बनाया गया है और ऊपर स्लेट की छत डाली है। भीतर देवता की वह पिण्डी स्थित है जिस रूप में देवता का जन्म हुआ था। देवता का दूसरा मन्दिर यहां से एक किलोमीटर दूर गांव में है जहां मोहरे और रथ विद्यमान हैं। देवता का भण्डार भी वहीं है।

यह देवता सिरमौर का टीका माना जाता है जिसका नाम कुरगण प्रकाश था। इस स्थान में यह एक अप्रिय घटना के बाद पहुंचा था। केवल सर ही मृत्यु के बाद यहां प्रकट हुआ इसलिए इसका नाम मढोड़ घाट पड़ा अर्थात जहां सर "मूंड" कटा हो। रियासती काल में या उससे पूर्व सिरमौर में देव प्रकाश नाम से एक राजा था जिसकी सात रानियां थीं। इन रानियों में से एक रानी के गाजी प्रकाश पुत्र हुआ। इस वंशावली में इस राजा के बाद सिरमौर का राज्य वीर प्रकाश ने सम्भाला और इसी राजा के चार पुत्र हुए जिनमें एक था कुरगण प्रकाश।

इसी दौरान सिरमौर पर एक विपत्ती आ टूटी थी जिसमें राजपरिवार के साथ पूरी राजधानी बाड़ में एक नर्तकी के शाप से बह गई। इस घटना का वर्णन सिरमौर

जिले में किया गया है। उसके बाद ये पुत्र इधर-उधर निकल गए और जगह-जगह बसने लगे। कुरगण प्रकाश सुन्नी तहसील के एक गांव में रहने लगा जिसे चलाहल पंचायत में बताया जाता है। कुरगण प्रकाश बाल्यकाल से ही धार्मिक विचारों का था। उसे कोई दैव्य शक्ति प्राप्त थी जिसके कारण वह दुखी लोगों का भला किया करता। उन्हें जड़ी-बूटियां पीस कर दवाई बनाकर देता तथा यदि कोई जादू टोना होता तो उसे भी दूर किया करता। कुरगण प्रकाश अधिक समय अपने पूजापाठ में ही व्यतीत करता रहता।

बताया जाता है कि इसी गांव में एक सुन्दर युवती कई सालों से बीमार रहती थी। कुरगण प्रकाश ने एक दिन उस युवती को ठीक कर दिया। इस उपकार के कारण वह मन ही मन इसका आदर करती रही। कभी कुरगण प्रकाश को अपने घर भी बुला लिया करती और निश्छल हृदय से उनका आदर सत्कार करती। कई बार उनका जिक्र वह अपनी अन्य सहेलियों में भी कर लेती। धीरे-धीरे यह निःस्वार्थ भाव उन दोनों की जिन्दगी का अभिशाप बनता रहा क्योंकि उन दोनों का इस तरह मिलना-जुलना लोगों को ठीक न लगा और उनके इस मेल-जोल को लोगों ने बुरी नजरों से देखना शुरू कर दिया।

इसके अतिरिक्त जिस तरह कुरगण प्रकाश गुणी व्यक्तित्व का व्यक्ति था वह बात कुछ स्वार्थी ब्राह्मणों को अच्छी न लगी। ये वे ब्राह्मण और चेले-चांटे थे जो झाड़-फूंक करके लोगों से पैसा वसूला करते। उन्होंने भी इस बात को अधिक तूल दिया और जिस परिवार की वह युवती थी उस परिवार के मर्दों ने एक दिन कुरगण प्रकाश को मारने की योजना बना ली। उन्होंने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया जिसमें कुरगण प्रकाश को भी आमन्त्रित किया गया। निमन्त्रण के अनुसार वह वहां पहुंच गया। उसका एक साथी भी साथ था। परिवार के लोगों ने पूर्व योजना के अनुसार उसे रात्रि को रोक लिया। अन्धेरा जैसे ही हुआ कुरगण प्रकाश को एक कमरे में बुला कर कुछ लोगों ने उसे पकड़ कर मारना चाहा। वह बाहर भागा लेकिन एक व्यक्ति ने मक्की की भलोटी उल्टा दी जिससे दानों पर वह फिसल गया और लोगों ने दराट से उसका सर काट दिया। इसके बाद एक किल्टे में लाश को बान्ध कर उसी के चेले को धमकी दी गई कि वह इसे ले जाकर दरिया में डाल दे अन्यथा उसके भी वही हाल होंगे। भय के कारण तथा अपने गुरू के दुःख में पागल सा वह किल्टे में लाश उठा कर दरिया की ओर चला गया।

चलते-चलते वह मढोड़ गांव के ऊपर स्थित एक ऊंची धार पर पहुंचा तो थक गया। इस जगह को 'मशे की धार' कहते हैं। वहां उसने किल्टा एक तरफ रख दिया। उसका प्यास से बुरा हाल हो रहा था। वह अभी बैठा ही था कि किल्टे से आवाज आई जिसमें उस चेले से पानी के लिए कहा गया था। अपने गुरू की आवाज सुन कर वह चकित रह गया और विनम्र भाव से बोला कि यहां पानी उपलब्ध नहीं है। वह पानी सतलुज नदी में ही पिला सकेगा। तभी उस आवाज ने उसे निर्देश दिया कि जहां वह

बैठा है वहां अपनी छड़ी से तीन प्रहार करे। उसने ऐसा ही किया। तीसरे प्रहार में वहां पानी की धार निकल पड़ी और उन दोनों ने पानी पी लिया। इस धार में यह पानी अभी भी उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में देवता के कारदार एक रथावली यानि कथा विवरण गाते भी हैं जिसमें वर्णन किया गया है—

पैली चोट तीनिए गुर्जा री बाई माटिया री फाल कडाई
दूजी चोट तीनिए जेबे गुरजा री बाई गौंचा री फाल कडाई
तीजी चोट तीनिए जेबे गुरजा री बाई दूधा री फाल कडाई
चौथी चोट तीनिए जेबे गुरजा री बाई पाणिया री फाल आई

इन पक्तियों का भावार्थ यह है कि पहली बार जब उसने लोहे की छड़ी को जमीन में मारा तो मिट्टी निकली। दूसरी बार गौमूत्र, तीसरी बार दूध और चौथी बार पानी की धारा जमीन से निकल गई। यह पानी सतलुज नदी का था जिसे उन दोनों ने पीकर अपनी प्यास बुझाई। बरसों से यह जल का चश्मा यहां विद्यमान है। जब सतलुज का जल नीला होता है तो इस चश्में का जल भी नीला ही हो जाता है और जब मटमैला होता है तो इस जल का रूप भी वैसा ही हो जाता है।

उस चेले अर्थात कुरगण के सेवक ने अब किल्टा उठाने की सोची लेकिन उससे किल्टा न उठाया गया। वह भारी हो गया। तत्पश्चात् उसने कुरगण से निवेदन किया कि वह उसकी अब क्या सेवा करे। कुरगण के कटे शरीर ने उसे मढोड़ गांव में स्थित श्री मनसा देवी के पास भेजा और कहा कि देवी से स्थान मांगकर वापिस लौटना ताकि वहां वास हो सके। सेवक ने वैसा ही किया लेकिन श्री मनसा देवी ने वहां स्थान देने से मनाही कर दी। वह वापिस लौटा और देवी की अस्वीकृति के बारे में बता दिया। कुरगण ने उसे पुनः जाने को कहा और देवी को अपनी बहिन बनाने का प्रस्ताव भेजा। वह फिर देवी के पास मन्दिर आया और यथावत निवेदन किया। देवी ने उसकी विवशता को देखकर उसको स्थान देने का निश्चय कर लिया। अपने मन्दिर के साथ बिल्कुल समक्ष 'शिम्बलधाला' नामक स्थान में कुरगण के लिए वास हेतु स्थान दे दिया। सेवक ने किल्टा उठाना ही चाहा था कि वह लुप्त हो गया और उसकी सेवा के लिए कुरगण ने अदृश्य होते उसे अपने साथ ही पूजे जाने का वचन दे दिया।

अब कुरगण प्रकाश ने अपने लिए देवी द्वारा दिए स्थान पर जन्म लेना था। अतः इस स्थान में एक पत्थर की पिण्डी के रूप में वह प्रकट हो गया। इस जगह गांव वालों की गौएं,चरने आया करती थी। उनमें से जो दुधारु गाय होती वह उस पिण्डी के ऊपर खड़ी होकर स्वतः ही दूध की धार गिराया करती और जब सायं वापिस घर लौटती तो उसके मालिक को यह देखकर आश्चर्य होता कि उसके थनों में दूध ही नहीं है। एक दिन गांव वालों ने इस चमत्कार को देखने का निर्णय लिया और वे गायों के पीछे इस जगह चले आए। उन्होंने जब देखा कि एक गाय बीच जुब्बड़ में खड़ी होकर थनों से दूध गिरा रही है तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। लोगों ने

सोचा कि यह कोई भूत-प्रेत है। इस पर उन्होंने मिलकर उस पत्थर को निकालना चाहा लेकिन उसकी गहराई बढ़ती गई। काफी मेहनत के बाद भी वह गहराई को देख नहीं पाए। एक व्यक्ति ने गुस्से होकर उस पत्थर के सर पर कुदाली मार दी जिससे उसमें हल्की सी दरार आ गई। लोग अपने घरों को वापिस आ गए।

रात्री को सरवाल घराने का एक कनैत वहां से घर लौट रहा था। उसके पास बोझा था। आराम करने की इच्छा से वह पीपल की ओट में बोझा रखकर बैठ गया। तभी उसे शिम्बलधाले से किसी के कहराने की आवाज सुनाई दी। वह तत्काल खड़ा हो गया और इधर-उधर देखने लगा। वह आवाज बढ़ती गई। अन्धेरे में वह उसी तरफ बढ़ा। उस जगह पहुंचा तो उसने देखा की एक पत्थर के सिर से खून बह रहा है। जितना लोगों ने गड्ढा खोदा था वह पूरा खून से भर गया था। उसने हाथ से जब पिण्डी को छुआ तो वह गर्म महसूस हुई। उसने तत्काल अपने सर की पगड़ी उतारी और उस पत्थर में लपेटदी और कहराना बन्द हो गया। उसने सोचा कि यह अवश्य कोई देवी शक्ति है। उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया और इस अदृश्य शक्ति के बारे में पूछा। तभी उस पिण्डी से आवाज निकली और कुरगण ने अपने नाम के साथ सारी घटना सुना डाली। उस व्यक्ति को कहा कि यहां देवता का मन्दिर बनाया जाए वह गांव के लोगों की हर तरह से रक्षा करेगा।

वह वापिस आया और सुबह उठकर इस बात का जिक्र सभी गांव वालों से किया। लोग जब पुनः वहां वापिस आए तो खून देखकर हैरान रह गए। उसके अनुरोध पर लोगों ने पिण्डी के चारों ओर मन्दिर बना दिया जिसके बाद उसी वंश के व्यक्ति ने देवता की पूजा की। अब वहां नियमित पूजा अर्चना होने लगी। देव श्री कुरगण प्रकाश ने लोगों की मनोकामनाएं पूर्ण की जिससे देवता के प्रति उनकी श्रद्धा भी बढ़ती रही। देवता के साथ प्रहरी के रूप में उस सेवक की स्थापना भी हुई जो उस शरीर को किल्टे में उठाकर लाया था।

लोगों ने अपनी आस्था अनुरूप देवता की सम्पति जोड़नी शुरू कर दी। उसके मोहरे और कई निशान बनाए गए तथा कुछ दिनों बाद देवता का रथ और छत्तर भी बना लिया गया। आज देवता का वह रथ कई मोहरों को सजाकर सुन्दर ढंग से छत्तर तथा वाद्य यन्त्रों सहित जगह-जगह लोगों की मनौतियों पर जातर के लिए ले जाया जाता है। देवता को बकरे की बलि देने की रस्म है। इन मोहरों में श्री कुरगण प्रकाश, दानों, दरवाणी, देवी श्री मनसा के मोहरे अष्टधातु और कांसे के बने हैं।

देव श्री कुरगण प्रकाश के आज कई तहसीलों में मन्दिर हैं और रथ छतर बनाए गए हैं। विशेषकर जिला सोलन में। सोलन जिले में देवता के उस समय मन्दिर बनाए गए जब बिलासपुर के राजा ने देवता को अपने महल में आमन्त्रित किया था। इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा कही जाती है। बताया जाता है कि एक बार राजा बिलासपुर के दो सिपाही सुन्नी राजा को एक पत्र देने आ रहे थे। मढोड़घाट जब वे पहुंचे तो उन्होंने खेतों में कुछ फल लगे देखे। उन्होंने भूख के कारण जैसे ही उन्हें तोड़ना

चाहा तो देवता के गूर ने उन्हें रोक दिया और कहा कि वे फल तब तक नहीं खा सकते जब तक वह देवता को नहीं चढ़ा लेगा। लेकिन सिपाही अड़े रहे। उनकी देवता के गूर के साथ हाथापाई हो गई। गुस्से में एक सिपाही ने अपनी तलवार निकाली। जैसे ही गूर पर प्रहार करने के लिए उसने हाथ बढ़ाया तो गूर ने उस तलवार को पकड़कर घूंट लिया। पुलिस कर्मचारी इस अद्‌भुत बात को देखकर उल्टे पांव भाग खड़े हुए और सारा वृतान्त अपने राजा को बिलासपुर आकर सुना दिया। राजा को इस बात का विश्वास ही न हुआ। फिर भी उसने इस बात की छान-बीन करने की दृष्टि से उस गूर को राजा भज्जी के द्वारा आमन्त्रित किया। राजा भज्जी को जब सुन्नी में वह पत्र मिला तो वह खुद भी अचम्भित हो गया। उसने तत्काल गूर को आमन्त्रित किया और उससे पूछा,

"क्या यह सत्य है कि तुमने राजा बिलासपुर के सिपाहियों की एक तलवार घूंट ली है।"

"महाराज मेरी यह मजाल कि मैं ऐसा कार्य करूं। यह तो सारा उस देव महाराज का कमाल है।" उसने विनम्रता से उत्तर दिया।

"भाई राजा बिलासपुर ने तुम्हें बुलाया है।" राजा ने सन्देश सुनाया।

"महाराज ठीक है लेकिन मैं अकेला कैसे जा सकता हूं। मेरा महाराज भी साथ चलेगा। राजा बिलासपुर को मन्जूर हो तो लिख दें।" गूर ने कहा।

राजा बिलासपुर को पत्र मिला तो उसने यह बात मान ली। एक तिथि निश्चित हुई। देव श्री कुरगण अपने निशानों, वाद्य यन्त्रों सहित बिलासपुर के लिए रवाना हो गया।

इस आश्चर्य की चर्चा सारे में हो चुकी थी। रास्ते में यह देवता जहां-जहां से भी गया वहीं पर उसके स्थान बनें। इनमें तहसील अर्की की पंचायत मांगू में "देव श्री कुरगण प्रकाश संगोही, देव श्री कुरगण प्रकाश मांगू, देव श्री कुरगण प्रकाश कराड़ाघाट, देव श्री कुरगण प्रकाश डवारू, देव श्री कुरगण प्रकाश हलोग (धामी), देव श्री कुरगण प्रकाश बठमाणा, देव श्री कुरगण प्रकाश कोलका तथा कई अन्य स्थानों पर देवता के पुराने मन्दिर मुख्य हैं। इन सभी जगह पर आज देव कमेटियां हैं और देवता के सुन्दर रथ-छतर बने हैं।

कहते हैं जब देवता अपने कारदारों के साथ बिलासपुर पहुंचा तो उसका भव्य स्वागत हुआ। एक रात विश्राम के बाद दूसरे दिन देवता के राजा ने दर्शन करने थे। वह आया तथा उस गूर से मुलाकात की। गूर ने देवता को स्मरण किया तथा वाद्य यन्त्रों के साथ देवता का आहवान किया गया। अब उसमें छाया का प्रवेश हो गया था। वह राजा को बताता रहा कि देवता मढोड़ से चलकर कहां-कहां पहुंच रहा है। जैसे ही देवता का प्रवेश अदृश्य रूप से राजा के महल में हुआ कहते हैं महल की भारी दीवार में दरार पड़ गई थी। फिर गूर ने, जिस सिपाही की तलवार घूंटी थी अपने पास उसे बुलाया और अपना मुंह खोलकर अपनी तलवार पहचानने को कहा। लेकिन सिपाही

यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि वहां हजारों तलवारें थीं। वह असहाय-सा हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। इस पर गूर ने पहले सोने की तलवार निकाली लेकिन सिपाही ने यह कह कर मना कर दिया कि यह उसकी नहीं है। उसके बाद चांदी की तलवार पेट से गूर ने बाहर निकाली और तीसरी बार जब एक और तलवार निकली तो सिपाही ने उसे ले लिया कि यही उसकी है। इस पर सारे लोग राजा सहित देवता की शक्ति से हैरान रह गए। राजा ने देवता से क्षमा मांगी तथा अपने महल के नगाड़े जिन्हें दरागे कहा जाता है देवता को भेंट किए। ये दरागे (नगाड़े) आज भी मन्दिर में सुरक्षित हैं।

कुछ विद्वान इस घटना को राजा बिलासपुर द्वारा इस क्षेत्र में आक्रमण करने से जोड़ते हैं जो सत्य नहीं लगती क्योंकि देवता को जिस आदर से बिलासपुर तक बुलाया गया और बिलासपुर में राजा ने देव श्री कुरगण की स्थापना की थी वह इस बात के साक्षी हैं।

देव श्री कुरगण प्रकाश की बहिन माता मनसा का जो प्राचीन मन्दिर यहां विद्यमान है वह लगभग पांच सौ बरस पुराना बताया जाता है। मन्दिर के दो भाग हैं जिसे सिमेंट से बनाया गया है। चारों तरफ दीवार है। प्रवेश द्वार के बाहर द्वारपाल अर्थात् दरवाणी की विशाल पत्थर की प्रतिमा विराजमान है। यह देव देवी का प्रहरी है जिसके साथ शेर की प्रतिमा है। अचानक यदि कोई पहली बार यहां जाए तो एक पल के लिए इन प्रतिमाओं को देखकर भयभीत हो जाता है। मन्दिर के चारों तरफ परिक्रमा पथ है। भीतर माता की भव्य प्रतिमा स्थापित है।

इस स्थान को मढोड़घाट के नाम से भी पुकारा जाता है। एक मनोरम प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त स्थान जिसे चारों तरफ से कई सौ बरसों पुराने पेड़ों ने घेर रखा है। देवता और माता श्री मनसा के कई उत्सव यहां होते हैं।

माता श्री मनसा देवी के यहां आने सम्बन्धी घटना में कहा जाता है कि कांगड़ा के किसी व्यक्ति ने इस देवी को अपने झोले में उठा रखा था। जब वह यहां से गुजरा तो आराम करने बैठ गया। जब उठा तो झोला इतना भारी हो गया कि उठा ही नहीं सका। उसके बाद देवी की यहीं स्थापना की गई थी। इस देवी को बनसांई यानि वन देवी के नाम से भी पूजा जाता है। यह देवी कई परिवारों में कुल देवी के रूप में पूजनीय है।

"यहां यह लिखना उचित समझूंगा कि यही देवी हमारे परिवार की भी कुल देवी है और विपत्ती की घड़ी में जब भी देवी का स्मरण किया है इस देवी ने मां के रूप में उस दुख के निवारण में सहायता की है।"

हरशिंग मन्दिर चनावग

शिमला से लगभग 53 किमी० दूर समुद्र तल से लगभग 1830 मी० की ऊंचाई पर एक रमणीक गांव है चनावग। इसी गांव में देव हरशिंग का प्राचीन मन्दिर स्थित

है। शिमला से इस गांव तक दो सड़कों के रास्ते जाया जा सकता है। पहली सड़क शिमला-दाड़गी चली जाती है। दाड़गी से पांच किलोमीटर की खड़ी चढ़ाई इस गांव तक लगती है। दूसरी सड़क शिमला-बिलासपुर रोड़ पर शिमला से लगभग 32 किलोमीटर दूर कराड़ाघाट जगह है। यहीं से कच्ची सड़क कशलोग चली जाती है। यह कशलोग गांव से पीछे मांगू से बाजण चला गया है। बाजण से चनावग लगभग 5 किलोमीटर दूर रह जाती है। यही सड़क कशलोग और बडोग गांव में स्थित देव हरशिंग मन्दिरों के लिए भी चली गई है।

गांव चनावग में देवता का दो मंजिला मन्दिर है। पहली मंजिल में देवता के वाद्य यन्त्र रहते हैं और दूसरी मंजिल देवता का वासस्थल है। इसी में देवता के आठ से अधिक पीतल के मोहरे पश्चिम की दीवार में बने एक चकोर खाने में रहते हैं जहां उनकी नियमित सुबह-शाम पूजा होती है। इन मोहरों का मुख पूर्व की ओर है। पूजा के लिए शंख, घण्टी और धुड़छ (कड़छी की तरह आकृति का जिसमें धूप जलाया जाता है) का प्रयोग होता है। पुजारी पहले मन्त्रोच्चारण से धूप जलाता है और फिर देव पूजा घंटी बजाकर की जाती है। उसके बाद ऊंचे स्वर में शंख नाद होता है। ऊपर और नीचे दोनों मंजिलों के आगे बरामदा है। मन्दिर का प्रांगण चारों ओर से घने वृक्षों से ढका है। मुख्य दरवाजे के समक्ष एक छोटा चकोर मन्दिर है जिसमें भैरव (पहरेदार) की पत्थर की विशाल नंगी प्रतिमा है। केवल शरीर पर एक कपीन बनी है। साथ शेर बना है और कई लोहे की गुरजें और कड़ोलें विद्यमान हैं। लकड़ी की एक-दो मूर्तियां गल गई हैं जिन्हें पीछे की ओर रखा गया है। इन दोनों मन्दिरों पर स्लेटों की छत पड़ी है। यानि मन्दिर पूर्णतया ग्रामीण पहाड़ी शैली में बना है। चारों तरफ दीवार है तथा भीतर आने के लिए दक्षिण एवं पूर्व की ओर से रास्ते हैं। ऊपर की मंजिल के लिए सिमेन्ट की सीढ़ियां लगी हैं।

वाद्य यन्त्रों में देवता के तीन चाम्बी ढोल, एक नगाड़ा, दराग, करनाल और नरशिंगा मुख्य हैं। जातर में जब यह देवता जाता है तो इसके रथ को सुन्दर ढंग से सजाया जाता है। रथ में आठ मोहरे लगते हैं। मुख्य मोहरा जो सबसे ऊपर लगता है उसके ऊपर बड़ा सोने का छतर लगता है। चारों तरफ चार कलश और चांदी के छतर सजाए जाते हैं। पीछे की तरफ मां काली का मोहरा लम्बे बालों के मध्य ढका रहता है। रथ को चार व्यक्ति उठाते हैं। कभी दो भी। रथ में चारों तरफ एक लम्बी चांदी की गाची इसके सजावट में चार चांद लगा देती है। इसी तरह के रथ कशलोग और बडोग गांव में भी सजाए जाते हैं।

कशलोग गांव में भी साधारण दो मंजिला मन्दिर है और यहां के देवता को हरशिंग देवता का छोटा भाई माना गया है। इसके साथ चण्डी पंचायत में दूसरा गांव है—बडोग। यहां भी सीमेन्ट और पत्थर का सुन्दर दो मंजिला मन्दिर है। बाहर बरामदा है। दूसरी मंजिल में देवता के मोहरे रहते हैं। प्रांगण में भगवान हनुमान, मां काली तथा भैरव की विशाल मूर्तियां सिमेन्ट की बनी हैं।

गांव चनावग से लगभग 5 किलोमीटर की दूरी पर उत्तरकी ओर 2455 मी० की ऊंचाई पर हरशिंग पर्वत है जो इस देवता की जन्म स्थली है। यह धार बहुत विशाल है। इसके उत्तर की ओर सतलुज नदी समुद्रतल से लगभग 535 मीटर की ऊंचाई पर बहती है। यहां से चारों तरफ की दृश्यावली मन को मोह लेती है। यहां अब कशलोग, बडोग और चनावग क्षेत्र की जनता ने देवता का नया मन्दिर बना दिया है। पहले यह मन्दिर बहुत छोटा था। इस छोटे मन्दिर को भीतर से उसी तरह सुरक्षित रखा गया है। नए मन्दिर निर्माण के वक्त जब इस दरवाजे को उखाड़कर नया दरवाजा लगाना चाहा तो जैसे ही एक मजदूर ने इसे उखाड़ने के लिए कुदाली मारी भीतर एक भयंकर सांप ने फंकार भर दी। इससे मजदूर भाग गए और डरकर वहां नहीं आए। दूसरे दिन जब देवता को पूछा गया तो देवता ने इस दरवाजे को बदलने से मनाही कर दी और कहा कि यह दरवाजा देवता को बहुत प्रिय है।

मन्दिर के गर्भगृह में देवता की पिंडी स्थापित है। वहीं एक विशाल शिला भी है। कुछ लोग कहते हैं कि देवता की पिंडी अब वहां नहीं है। उसके स्थान पर अब एक खोला (सुराख) धरती के भीतर है जिसके ऊपर शिला रखी गई है। शिकारियों के लिए कभी यह धार लोकप्रिय रही है। यहां हिरण और घोल्ल बहुत होते हैं। लेकिन देवता की मर्जी के बिना यहां शिकार नहीं खेला जाता था। यदि कोई शिकारी देवता के पास मनौती कर देता तो तत्काल उसकी बन्दूक का निशाना लग जाता। यदि देवता रुष्ट होता तो मुंह के पास कई फायर चलाने पर भी जानवर नहीं मरता। परन्तु अब यह स्थान शिकार के लिए बन्द है। इस धार को सांझी धार भी कहते हैं। क्योंकि तीन पंचायतों के लोग यहां से घास काटते हैं।

नामकरण

देवता का नाम इसी धार पर प्रकट होने के कारण पड़ा लगता है। इस धार के सम्बन्ध में माना जाता है कि बहुत समय पहले यहां हरिसिंह नाम का गोरखा अपने साथियों के साथ रहा करता था। यह दिन भर इधर-उधर लूट-पात करते और शाम को यहां वापिस आ जाया करते। जब अंग्रेजों ने सतलुज घाटी के साथ सर्वेक्षण किया तो वे यहां भी आए और उन्होंने इस गोरखे को मार दिया। उन्होंने यहां कुछ भवनों का निर्माण भी शुरू किया था लेकिन देवता के प्रकोप से वे इसमें सफल न हो सके। लगता है कि इसी गोरखे के नाम पर इस धार को हरशंग कहा जाने लगा हो। कई लोग इस देवता को भगवान शंकर का रूप भी मानते हैं। और ऐसा भी लगता है कि हरिशंकर से हरशंग बिगड़कर नाम पड़ गया हो। लेकिन देवगाथा में हरशंग वर्णन आता है जिससे ऐसा लगता है कि यह देवता बाद में ही यहां आया है।

जन्म

कहते हैं कि इस धार के साथ बसे गांव रंडवाहल के लोग यहां ग्वालुओं के

पास पशु चुगाने भेजा करते थे। लेकिन दूध देने वाली सभी गाएं सायंकाल में खाली थनों को लेकर पहुंचती थी। एक दिन लोगों ने इस बात की जानकारी लेनी चाही और पशुओं के पीछे-पीछे चल पड़े। देखा कि एक पिंडी पर बारी-बारी गऊएं स्वतः ही दूध गिरा रही हैं। उन्होंने इस पिंडी को देव रूप मानकर पूजना शुरू किया। बाद में यह देव एक व्यक्ति में प्रवेश हुआ और अपने बारे में पूरा विवरण बताया। पहले रंडवाहल के लोगों ने अपने गांव में छोटा-सा मन्दिर बनाया और फिर बडोग के लोगों ने अपने गांव में देवता का मन्दिर बनाया और इसे अपना इष्ट स्वीकार किया। एक मत के अनुसार यह भी माना जाता है कि सरसापटड़ी से जब यह देवता चला था तो बडोग के घाट में, जहां देवता का मन्दिर है, उसने विश्राम किया था, जिससे यहां पर इस देवता को सबसे बड़ा भाई मानते हैं। क्योंकि हर्शिंग धार तीन पंचायतों की सांझी धार है इसलिए स्वाभाविक था कि यह देवता तीन पंचायतों का स्वामी बन गया। एक कथा के अनुसार यह भी कहा जाता है कि हर्शिंग धार से लोग इस देवता का निशान अपने-अपने गांव में लाए। इस देवता का कालान्तर में एक मन्दिर चनावग गांव से एक किलोमीटर दूर पूर्व की ओर गांव खुनारा में भी था। बताया जाता है कि यहा इस देवता के तीन मोहरे लोगों ने स्थापित किए थे। इस मन्दिर का मुख्य दरवाजा उस समय दक्षिण की तरफ था। इसी दौरान राजा धामी जब कहीं बाहर जाने पर अपने घोड़े पर चढ़ता तो वह अक्सर गिर जाया करता था। जब वह परेशान हो गया तो एक दिन उसने अपने राज पुरोहित से इस बात की जानकारी चाही। उसने बताया कि उत्तर दिशा की ओर किसी पहाड़ी पर कोई देवता रहता है जिसके कारण ऐसा होता है। राजा ने तत्काल इस बात का पता लगाने के लिए कुछ सिपाही भेजे। उन्हें काफी अर्से बाद यही मन्दिर मिला तो उन्होंने उसको जला डाला। लोगों को दूसरे दिन जब पता चला तो वे बहुत दुखी हुए। क्योंकि मन्दिर में तीन मोहरे स्थापित थे इसलिए तीनों पंचायतों के लोग यहां से इन मोहरों को उठाकर ले गए तथा अपने-अपने गांव में उनकी स्थापना कर दी। यहां एक छोटी-सी देहरी है। इस तरह गांव बडोग में बड़ा भाई, चनावग में मंझला और कशलोग में सबसे छोटा भाई बस गया। देवता के बारे में प्रमाणिक कुछ भी नहीं है लेकिन यह देवता लगभग 500 वर्ष से भी पहले यहां आ गया था।

गांव चनावग में देवता का प्रवेश अत्यन्त चमत्कारी ढंग से इस दूसरी कथा में कहा जाता है। यह देवता जब जूड (चनावग पंचायत) गांव की एक गुफा में आया तो वहां के लोगों को कई चमत्कार हुए। उसके बाद चनावग गांव में रात्रि को लोगों की छतों पर किसी के चलने की आवाजें आने लगीं। कभी किसी की छतों और छप्परों पर पत्थर गिरते थे तथा कभी कोई अन्य चमत्कार हो जाता था। उस समय यह गांव बहुत छोटा था और बताया जाता है कि सुकेत से यहां दो भाई बसने आए थे। एक का नाम रामू था और दूसरे का टऊ। जब इस तरह की घटना हुई तो रामू ने अराधना शुरू कर दी और देवता उसमें प्रवेश कर गया। उसके बाद उसने इस देवता का एक पीतल का

मोहरा बना दिया और कई दिनों तक अपनी छत पर उसे पूजता रहा। इसी कारण लोग इस देवता को 'चांगड़ू देवो' यानि छत पर निवास करने वाला देवता भी कहते हैं। दूसरा भाई भैरव का पुजारी बन गया। जब लोगों को यह पता चला तो उन्होंने अपनी मन इच्छा के लिए मनौतियां माननी शुरू कर दीं। उन्हें लाभ हुआ और फिर जातरों की मनौतियां हुईं। फिर रामू देवता के मोहरे को कमर में गाची बांधकर उसमें रखकर जातरों में नचाया करता और दूसरा भाई कन्धे पर शंगल और गूरज उठाकर डमरू से देवता को नचाता था। धीरे-धीरे चनावग पंचायत के लोगों ने पैसा एकत्रित किया और इसका रथ छतर बना दिया। तभी से यहां यह देवता मन्दिर में रहकर लोगों के सुख-दुख का साक्षी बन गया।

यह देवता कहां से आया और किसका रूप है, इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। लेकिन जो पुराने लोग देवता का गीत जिसे 'वाणी' कहा जाता है, गाते हैं उसकी पंक्तियों में कुछ वर्णन अवश्य आता है। इस गीत की प्रारम्भ से अन्त तक की पंक्तियां नीचे दी जा रही हैं।

हो पगड़ा देवा हो पगड़ा, हाथ जोड़ी-जोड़ी अर्जा
करदे आसे कल्याणे तेरे।

(गा कर देवता को आमन्त्रित किया जा रहा है। गाने वाला सभी पंचो की ओर से अनुरोध करता है कि हम सभी तेरे भक्त हैं, तेरे क्षेत्र के रहने वाले हैं, हमारी विनती है कि तू प्रकट हो जा)

कणका रे दाणे एवो सतवांजे तेरे,
ब्रह्मा-विशणुए मांगे।

(देवता की जब बैठक (पंची) होती है तो उस समय जो पुजारी या दिउआ (जिसमें देवता की छाया आती है) होता है उसके हाथ में कणक के दाने दिए जाते हैं। फिर वह उन दानों को सबको बांटता है। ये देवता की तरफ से रक्षार्थ माने जाते हैं। उक्त पंक्तियों में यही बात कही गई है)

कस देशा थे तू आया देवा, कस देशा थे किया प्याणा
जे चल पहाड़े जाणा।

(अब गाने वाले देवता से पूछ रहे हैं कि हे देवा तू यह तो बता दे कि तू कहां से आया है और कहां से तूने यह इच्छा प्रकट की थी कि पहाड़ में रहने के लिए जाना है)

नीला देशा से आया, सरसापटड़ी थे किया प्याणा
चल पहाड़े जाणा।

(अब देवता कह रहा है कि वह नील देश से आया है और सरसापटड़ी नामक स्थान से पहाड़ में बसने के लिए इच्छा प्रकट की है)

यहां यह कहना कठिन है कि नील देश और सरसापटड़ी मूल रूप में कहां है।

कोई कहते हैं कि देश के किसी जिले में है और कई लोगों की यह भी धारणा है कि यह स्थान हिमाचल प्रदेश में ही कहीं स्थित है।

वार सरसा पार सरसा, बिचे गंगा खाई,
अंगे-संगे हीरा जंज्जयाला चलेय, मूरे भीमा माई।

(उक्त पंक्तियों में वर्णन है कि बीच में गंगा बह रही है, और दोनों तरफ सरसा क्षेत्र है। जब देवता वहां से चलता है तो उसके साथ कई सहयोगी देवता गण चंजयाला, बीर हैं और सबसे आगे मां भीमा काली हैं)

मरसापटड़ी थे चलेया-बडोगा रे घाटे आसण लगाया,
परबत-परबत टोले पर कोई नी मेरी नजरी आया।

(अब देवता बडोग घाट में पहुंच गया है। यह स्थान चनावग से कुछ दूर है जहां अब देवता का मन्दिर भी है। यहां देवता ने विश्राम किया है और अपने रहने के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश करने लगा है)।

हरिसिंह परबत को ध्यान लगाया, नीचे बगी सतलुज गंगा
हरिसिंह परबत पर बासा तेरा।

(बडोग नामक स्थान से देवता ने हरिसिंह परबत पर ध्यान लगाया और अपने स्थाई निवास के लिए यह स्थान चुन लिया। फिर वहां देवता पिंडी के रूप में प्रकट हुआ था)

गवालुए बडोगुए धूम मचाया, गऊंवे नहाया,
फेर गऊएं दूध पलयाया।

(बडोग गांव के लोगों ने जब देखा कि उनकी गऊएं हरशिंग धार पर दूध गिराती हैं तो सारी जगह हल्ला मच गया और फिर देवता के जन्म का सभी को पता चल गया)।

देव बड़योगी मन्दिर

देव बड़योगी वास्तव में सुकेत का प्रसिद्ध देवता माना जाता है। यह देवता माहूनाग का पुरोहित भी है। देव हरशिंग मन्दिर के पीछे झाड़ियों के मध्य इस देवता का कच्चा छोटा मकान रूप में मन्दिर है। छत स्लेटों की है। मन्दिर का मुख पूर्व दिशा की तरफ है। प्रांगण में एक पेड़ के नीचे पत्थर की प्रतिमाएं ढकी रहती हैं। इस देवता का भीतर एक मोहरा है। बताया जाता है कि जो आदमी सुकेत से चनावग आया था वह एक दिन हल चला रहा था। हल चलाते-चलाते उसके फाले में यह मोहरा लग गया। उसने उठाकर देखा तो आश्चर्य चकित रह गया। यह जमीन में उलटा पड़ा था। इसी व्यक्ति में यह देवता प्रवेश हो गया और उसने यहां आने का कारण बताया। उसके बाद गांव चनावग के लोगों ने इस देवता को इष्ट देव के रूप में मानना शुरू कर दिया।

इसी गांव के मध्य भूमि पुत्र देवता की स्थापना भी है। यह देवता फसल का देवता माना जाता है। वर्ष में फसल पकने पर गांव के बच्चे यहां भोजड़ू भाटी यानि खीर और फुलके पकाते हैं जो देवता का भोग है। देवता भूमि पुत्र का जहां निवास स्थान है वहां विशाल खड़की का वृक्ष है और चारों तरफ झाड़ियां हैं। मान्यता है कि यदि नियमित इस देवता को पूजा जाए तो गांव में फसल अच्छी होती है।

शिव मन्दिर चनावग

गांव चनावग की पश्चिम दिशा की ओर लगभग आधा किलोमीटर दूरी पर शिव मन्दिर स्थित है। वर्ष 1979 में गांव की ग्रामीण विकास सभा चनावग द्वारा सभा के गठन के साथ यह निर्णय लिया गया था कि यहां एक शिव मन्दिर का निर्माण किया जाए। 1980 से सभा के चन्द लोगों ने इस मन्दिर का निर्माण कार्य शुरू कर दिया। यह भार इन सदस्यों ने बिना चन्दा एकत्रित किए उठाया था। एक लम्बे अन्तराल के बाद यह मन्दिर पूर्ण हुआ और सभा ने 1987 को अप्रेल 10 के दिन लोक उत्सव में इस मन्दिर को लोगों के लिए खोल दिया। मन्दिर पत्थर और सिमेन्ट का बना है। पहाड़ी शैली में निर्मित इस मन्दिर के गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है और पीछे की पूरी दीवार में शिव भगवान की विशाल मूर्ति बनाई गई है। मन्दिर को नीचे के मार्ग से सीढ़ियां बनीं हैं। नीचे की ओर मन्दिर के समक्ष पहले एक प्राकृतिक पानी की कुफर होती थी परन्तु उसे अब एक बड़े मैदान में परिवर्तित कर दिया गया है। इसके साथ माध्यमिक पाठशाला भवन है। मन्दिर का निर्माण यहीं के कलाकार श्री ज्ञानचन्द ने किया है।

8

सोलन

1936 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाले सोलन जिले की 1981 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 3,03,280 है। इसकी सीमाएं उत्तर में बिलासपुर और मण्डी, पूर्व में शिमला, दक्षिण में सिरमौर व हरियाणा तथा पश्चिम में हरियाणा व पंजाब के क्षेत्रों से लगती हैं। हिमाचल प्रदेश के अस्तित्व में आने से पूर्व यह पूर्ण क्षेत्र बघाट रियासत के नाम से प्रसिद्ध था। सोलन इसकी राजधानी हुआ करती थी जो आज जिले के मुख्यालय के रूप में एक प्रमुख शहर है। इसके अतिरिक्त कुनिहार, कुठाड़, अर्की (जो बाघल रियासत से जाने जाते थे), नालागढ़ और मांगल (जो हण्डूर रियासत के नाम से थे) इत्यादि रियासतें भी प्रमुख थीं। पूर्व में इन रियासतों को महासू जिले का अंग बना दिया गया लेकिन जब सोलन को पूर्ण जिले का दर्जा हासिल हुआ तो ये क्षेत्र उसमें शामिल हो गए। सन् 1948 में महासु जिले में शामिल होने के बाद 1972 में जिलों का पुनर्गठन किया गया था। नालागढ़ का क्षेत्र उप तहसील के रूप में पहले पंजाब में हुआ करता था।

सोलन शहर के मध्य एक प्राचीन देवी मन्दिर अवस्थित है जिसे शलूणी माता के नाम से जाना जाता है। कहा जाता है कि इसी देवी के नाम से इस जिले का नामकरण हुआ है अर्थात् शलुणी से सोलन नाम ने जन्म लिया। इसका प्रमाण यह मन्दिर आज भी क्षेत्रीय लोगों की आस्था का केन्द्र है। प्रतिवर्ष इस देवी के नाम पर यहां एक विशाल मेले का आयोजन होता है जो यहां के इतिहास और संस्कृति का प्रतीक है।

सोलन शहर समुद्रतल से 1350 मीटर की ऊंचाई पर स्थित रेल और बस सेवा से जुड़ा है। इस जिले के प्रमुख भ्रमणीय पर्यटक स्थलों में कसौली और चायल हैं। कसौली हिमाचल प्रदेश का पहला हिल स्टेशन है। सोलन से यह स्थान 28 कि० मी० दूर समुद्रतल से 1927 मीटर की ऊंचाई पर अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के लिए देश-विदेश में प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध औद्योगिक नगर परवाणु सोलन 30 किलोमीटर और चायल 74 कि० मी० की दूरी पर स्थित हैं। इनके अतिरिक्त अर्की, कुनिहार, मलोण, नालागढ़ स्पाठू और डगसाई अति प्रसिद्ध स्थान हैं। इसी जिले

के जुब्बड़ हट्टी नामक स्थान में हवाई पट्टी का निर्माण हुआ है जिस कारण शिमला जैसा विश्व विख्यात पर्यटक स्थल आज हवाई सेवा से जुड़ गया है ।

हालांकि इस जिले में कोई ऐसा विशाल मन्दिर नहीं है जो वास्तुकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो लेकिन फिर भी यहां की देव परम्परा सदियों पुरानी है। गांव-गांव में निर्मित कुल और इष्ट देवताओं के मन्दिर और उनके रथ-छतर लोगों की देवताओं के प्रति गहन आस्था के प्रतीक हैं। ये मन्दिर अनेक लोक कथाओं से भरे पड़े हैं। इनमें से कुछेक का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

जखोली माता मन्दिर

अर्की कस्बे से दक्षिण-पूर्व की ओर बातल गांव बसा है। इस गांव से लगभग एक किलोमीटर दूर पहाड़ी की गोद में बसा है जखोली गांव जो लगभग 25-30 परिवारों से भरा है। इस गांव के साथ एक नाला बह रहा है जिसके दाईं ओर माता जखोली मन्दिर प्रसिद्ध है। इसे दुर्गा का रूप मानते हैं और इस देवी का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी पीढ़ियों से लोग वहां रहते हैं। लोगों की देवी पर अपार आस्था है और वही उनके सुख-दुख की संगिनी भी है।

तीन दशकों पूर्व तक यह मन्दिर पुराने ढंग से बना हुआ था लेकिन अब इसका जिर्णोद्धार किया गया है। साधारण पहाड़ी शैली में निर्मित यह गांव की शोभा है। यह देवी लोगों की कुल देवी है। दूर-दूर से लोग यहां दर्शन करने भी आते रहते हैं। एक कथानुसार कहा जाता है कि किसी समय एक साधु महात्मा कहीं से भ्रमण करता हुआ इस गांव में पहुंच गया। गांवों के लोगों ने इस महात्मा को वहीं ठहरा दिया जहां आज मन्दिर निर्मित है। यह उसी काल की बात है जब यह गांव अस्तित्व में आया था। लोगों का कहना है कि उस समय यहां लोगों के निवास हेतु एक सराय हुआ करती थी। यह साधु अपनी धुनी लगाकर कई दिनों तक यहीं रहा। इस साधु के पास शाम को लोग एकत्रित होकर भजन-कीर्तन करने आया करते थे।

एक दिन इसी तरह लोग ईश्वर भजन में मग्न थे। बाहर हल्की-हल्की बारिश हो रही थी। अचानक एक गर्जना हुई जैसे आसमान से बिजली गिर पड़ी हो। सभी लोग डर गए लेकिन वह साधु मग्न चुपचाप शान्त बैठा रहा। तभी अन्धकार में एक आवाज गूंजी।

"ए भक्तजनों। मैं इस स्थान में कई बरसों पहले से निवास करती रही हूं। पहले जमाने में लोग यही मेरी पूजा-अर्चना किया करते थे लेकिन एक दिन भारी भूचाल से वह मन्दिर नष्ट हो गया। आज जब मेरे इस स्थान में धूप आदि जलने लगा तो मुझे प्रसन्नता हुई। मैं चाहती हूं यहां मेरा मन्दिर बने।" और यह आवाज लुप्त हो गई। दूसरे दिन यह बात आग की तरह गाँव तथा आसपास में फैल गई। लोग साधु के पास एकत्रित हो गए और यहां देवी के मन्दिर का निर्माण शुरू हो गया। लगभग 10 फुट की खुदाई करने पर एक प्रतिमा मिली तो लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा।

यह दुर्गा की प्रतिमा थी जिसे मन्दिर निर्माण पूरा होने पर परम्परानुसार प्रतिष्ठित कर दिया गया। इसके बाद अब यह लोगों की श्रद्धा और आस्था का केन्द्र है।

बणिया देवी मन्दिर

अर्की से लगभग 6 किलोमीटर दूर एक गांव बसा है जिसे बणिया देवी के नाम से जाना जाता है। लोगों का कहना है कि इस गांव में निर्मित माता बणिया देवी के मन्दिर के कारण ही इस गांव का नामकरण हुआ है। साधारण पहाड़ी शैली में बना यहां इस देवी का प्राचीन मन्दिर है। यह गांव और आसपास के क्षेत्र में अति प्रसिद्ध है।

रियासती काल में जब कुछ राजपूत राजा उज्जैन से बघाट और बाघल रियासत में रहने आए थे तो उन्होंने इस स्थान पर अपनी कुल देवी की स्थापना की थी। बाघल रियासत के प्रथम राजा ने इसी देवी की एक मूर्ति अपने महल में भी स्थापित करवाई थी लेकिन यह राजा नवरात्रों में बणिया देवी मन्दिर अवश्य देवी की पूजा हेतु आया करता था। एक बार जब नेपाली जनरल अमर सिंह थापा ने अर्की के राज महलों पर अपना अधिकार जमा लिया और यहां के सभी राजाओं को परास्त कर दिया तो इस रियासत के राजा अक्षय देव ने बणिया देवी जाकर रियासत की रक्षा के लिए प्रार्थना की और कुछ ही समय में देवी की अपार शक्ति के कारण इस राजा को अपना शासन वापिस मिल गया।

इस देवी को दस भुजाओं वाली सिंहवाहिनी से माना जाता है। अर्की के राज घराने के अतिरिक्त यह देवी गांव और दूसरे क्षेत्रों के लोगों की कुल देवी है। नवरात्रों में यहां मेले का आयोजन किया जाता है। हर नई फसल पर प्रत्येक घर से सर्व प्रथम देवी को भेंट आती है।

नारसिंह देवता

बाघल रियासत की राजधानी अर्की के महलों में नारसिंह देवता की स्थापना की गई है। महलों में मुख्य दरवाजे के समक्ष प्रांगण में बहुत बड़ा बट वृक्ष है। इसी के नीचे देव नारसिंह की स्थापना उस समय की गई थी जब इन राजमहलों का निर्माण करवाया गया था। महल के भीतर भी अष्टधातु की प्रतिमा स्थापित है। मान्यता है कि धार नगरी का एक राजा, जिसे बाघल में देव धारावाला के नाम से पूजा जाता है, एक बार एक युद्ध में हार गया और उसने अपने सेनापति नारसिंह को अपना राज्य सौंप दिया। इस सेनापति ने एक शक्तिशाली सेना का गठन किया। लेकिन राजा जो हार गया था वनों में तपस्या हेतु चला गया। सेनापति ने शीघ्र ही हारी हुई रियासत को जीत लिया और राजा के परिवार के वरिष्ठ सदस्य को सौंप कर खुद भी राजा की सेवा में जंगल में चला गया।

वन में उनका देहान्त हो गया लेकिन प्रजा के मध्य वे दोनों देवता के रूप में पूजे जाने लगे। अर्की के क्षेत्र में आने वाला पहला राजा अजय देव परमार भी उसी

खानदान से सम्बन्धित था। उसने उन दोनों देवताओं की मूर्तियां अपने साथ लाई और महलों में स्थापित करवा दी। अर्की के राजमहलों में आज भी देव नारसिंह की स्थापना की गई है "जिसे नारसिंह की पौल" के रूप में जाना जाता है।

कहा जाता है कि देव धारा वाले का मन्दिर नहीं होता है। इस देवता को लोग अधिकतर महिलाएं अपने घरों में चांदी की चौकी बनवाकर पूजती हैं। यदि कोई कन्या ब्याही जाए तो उसे ससुराल में जाकर इस देवता की चौकी बनानी पड़ती है। देवता का गांव या परगने में एक चेला होता है जिसे "देवो धारवाले का दींवा" कहा जाता है। कहीं-कहीं गांव में इस देवता की चौकी स्थापित होती है। यानि एक चबूतरे की तरह ऊंची जगह जिसके मध्य देवता सम्बन्धी लोहे के निशान और पत्थर तथा धातु की मूर्तियां स्थापित होती हैं। इस देवता को बकरा बलि के रूप में दिया जाता है। जो महिलाएं इस देवता को पूजती हैं उसमें भी यह देवता खेलता है। साल में दो बार इस देवता को पूजने वाली महिलाओं को अपने-अपने घरों में "खेल" देनी पड़ती है। यानि छठे महीने हर नई फसल पर इस देवता के गूर या चेले को बुलाया जाता है तथा विधिवत इसकी पूजा होती है और रक्षा के चावल लिए जाते हैं।

देव नारसिंह विजय का प्रतीक माना जाता है। रियासती काल में कहा जाता है कि प्रत्येक राजा अपने महलों में नारसिंह को कुल देवता के रूप में पूजता था और किसी युद्ध पर जाते हुए नारसिंह की एक प्रतिमा भी साथ रखी जाती थी।

अर्की सोलन से 65 कि० मी० की दूरी पर और शिमला से 32 कि० मी० की दूरी पर एक प्रसिद्ध स्थान है। राजमहलों के लिए आज भी इसे ऐतिहासिक माना जाता है। मुख्य बाजार के ऊपर पहाड़ी पर पुराने राजमहल स्थापित हैं। इन राजमहलों में उत्कृष्ट भित्तिचित्र कला के अनूठे उदाहरण हैं।

अर्की बाजार के साथ कई पुराने मन्दिर भी स्थापित हैं।

सकनी धार्मिक स्थल

अर्की कस्बे के पश्चिम-दक्षिण की ओर एक ऊंची पहाड़ी पर एक स्थान है सकनी। यहां एक विशाल चट्टान के नीचे से पानी की पतली धार निकल रही है जो बाहर आकर फैल जाती है। घने पेड़ों के मध्य यह स्थान अति रमणीय और शान्त है।

इस स्थान का नाम ऋषि शकुनि से भी जोड़ा जाता है। वैसे भी नाम सकनी ऋषि के नाम से मिलता-जुलता लगता है। इस लोक कथा के अनुसार बताया जाता है कि बहुत पहले एक ग्वाला अपने पशुओं को इस धार पर चराया करता था। उनमें एक ऐसी गाय थी जो घर आकर रोज बहुत कम दूध दिया करती। इस पर गांव के लोगों को उस ग्वाले पर ही शक हो गया कि यही हेराफेरी करता है। काफी समय तक यह क्रम चलता रहा। एक दिन इस गाय की मालकिन खुद इसे चुगाने ले गई। सायं काल जब वह महिला अपने पशुओं को घर लाने लगी तो यह गाय गुम थी। महिला को काफी आश्चर्य हुआ। काफी तलाश करने पर वह एक चट्टान पर खड़ी

मिली। वह यह देखकर हैरान थी कि उसके थनों से स्वत: ही दूध निकलकर चट्टान के भीतर समाता चला जा रहा है।

वह अभी कुछ सोच ही रही थी कि तभी एक साधु उस चट्टान के नीचे से निकल कर उसके समक्ष आकर बोलने लगा, "हे मां मैं यहां सदियों से तपस्या कर रहा हूं। तुम्हारी इस गाय ने मुझे दूध पिलाकर प्रसन्न कर दिया। बोलो तुम्हें क्या चाहिए।" महिला पहले तो हतप्रद सी खड़ी रही। किन्तु कुछ देर बाद कहने लगी, "बाबाजी अर्की में पानी की बहुत कमी है। आप इस शहर को पानी दे दीजिए मैं आपकी उम्र भर कृतज्ञ हो जाऊंगी।" "तथास्तु" कहकर वह साधु उसी चट्टान के नीचे चला गया। दूसरे दिन लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि उस चट्टान के नीचे से पानी की धार बह रही है। इस पर उस महिला ने हृदय से साधु को प्रणाम किया और वचन दिया कि अब वह खुद प्रतिदिन यहां आकर दूध पहुंचाया करेगी।

पता नहीं फिर यह परम्परा कब तक चलती गई लेकिन यहां जाकर आश्चर्य होता है कि सारी पहाड़ी चट्टानों से निर्मित है लेकिन इसी एक पत्थर के नीचे से पानी गदगद बह रहा है जिसने अर्की शहर को सींचा है। इस जगह के चारों ओर हरियाली है। सुन्दर वातावरण और एकदम शान्त। साधुओं के लिए यहां एक सराय बनी है जिसमें साधुजन रहा करते हैं। यह जगह सदियों से श्रद्धा केन्द्र के रूप में विख्यात है।

बाड़ूबाड़ा देवता

बाड़ूबाड़ा देवता चण्डी, कश्लोग तथा मांगू इत्यादि पंचायतों में बहुत मशहूर है। जिले की कई अन्य पंचायतों में भी देवता की जातराएं होती हैं।

चण्डीगांव से बाड़ूबाड़ा धार लगभग पांच-छ: कि०मी० दूर है। शिमला से कश्लोग गांव तक बस योग्य सड़क है जहां से भी यह मन्दिर नजदीक पड़ता है।

धार पर विशाल पेड़ों के बीच देवता का मन्दिर है। इस देवता का रथ-छतर है, तथा रथ पर जातरों के दौरान मोहरे सजाए जाते हैं।

देवता को जातराओं के दौरान "चोफा" देने की एक विशेष परम्परा है। देवता का गूर इस दौरान नंगा होकर बाजा-बजन्तर के साथ आता है और पके हुए बड़े रोट कौओं को खिलाता है। इस वक्त हजारों कौए स्वत: ही आ जाते हैं। यह परम्परा विशेष पूजा से अदा होती है।

कुरगण देवता

देव कुरगण सिरमौर का टिका माना जाता है। इस देवता के प्रकट होने की कहानी "मढोड़ में देवता कुरगण मन्दिर" के साथ जिला शिमला के अध्याय में पूर्ण रूप से बताई जा चुकी है। तहसील सुन्नी में स्थित जुणी पंचायत का मढोड़ गांव कुरगण का जन्म स्थान माना जाता है। यहीं से सोलन जिले के अधिकतर गांव में यह देवता लाया गया था। सोलन क्षेत्र के बाघल इलाके में इस देवता के प्रति लोगों की गहरी

आस्था है। यह इष्टदेव के रूप में पूजित है। कई गांव में इस देवता के मन्दिर निर्मित हैं और ये मन्दिर पत्थर और सिमेन्ट के बने स्लेट की ढलवां छतों वाले हैं। कई जगह पर गुम्दाकार भी हैं। अधिकतर मन्दिर दो मंजिले हैं तथा दूसरी में देवता के मोहरे रखे रहते हैं। ये पीतल तथा अष्टधातु के हैं। मुख्य मोहरा देवता कुरगण का होता है जिसके साथ कई दूसरे इष्टदेवों की प्रतिमाएं भी होती हैं। निचली मंजिल देवता के भण्डार या वाद्य यन्त्रों के लिए रहती है। कई जगह पर मन्दिर से अलग देवता के भण्डार बनाए गए हैं।

प्रत्येक मन्दिर में देवता का सुन्दर रथ छतर होता है। किसी विशेष अवसर पर जातर के लिए ही इस रथ का परम्परानुसार श्रृंगार किया जाता है। मन्दिर में रखे सभी मोहरों को लकड़ी के इस रथ में कपड़ों पर सजाया जाता है। इस चकोर रथ में दोनों तरफ लम्बी दो लकड़ी की शहतीरें लगी रहती हैं जिन्हें चांदी से मढ़ा होता है। रथ को दो या चार व्यक्ति उठाते हैं। प्रत्येक रथ के साथ एक छतर होता है जो छाते की तरह लेकिन काफी बड़ा होता है। इसे मोटे सुन्दर कपड़ों से बनाया जाता है। रथ में ऊपर मोहरें और चारों तरफ एक-एक सोने या चांदी के छतर लगाए जाते हैं। मध्य में ऊपर बड़ा छतर लगाया जाता है। नीचे की तरफ रंग-बिरंगी कपड़े की छोड़ें सजी रहती हैं अर्थात दो या सवा दो मीटर लम्बे कपड़े के असंख्य दुपट्टे जो रथ को आकर्षण पहुंचाते हैं। जातरों में एक विशेष बाजे के साथ रथ को नचाया जाता है। जिसे जातर कहते हैं।

इस क्षेत्र में जातरों की विशेष परम्परा होती है। कुछ यहां पारम्परिक मेले लगते हैं जहां कई जगह से सात या पांच या ग्यारह देवताओं के रथ छतर आते हैं। इनमें दानोघाट, चनावग और चण्डी की जातरों के उदाहरण दिए जा सकते हैं। गांव में इच्छानुसार मानता पूरी होने पर भी लोग घरों में देवता को आमन्त्रित करवाते हैं और इस तरह एक दिन पहले देवता उस व्यक्ति के घर चला जाता है। दूसरे दिन जातर होती है और शाम के वक्त देवता के नुवाले किए जाते हैं। देवता का गूर और उसके साथ दो या तीन दूसरे सहयोगी देवता एक साथ खेलते हैं और लोगों के प्रश्नों के उत्तर देते हैं। वे गेहूं और चावल के दानों को रक्षा के रूप में बांटते हैं। इन दानों का देव परम्परा में विशेष महत्व है। इन्हें सतवांजे कहते हैं। इनमें चार, पांच और सात दानों को उपयुक्त माना जाता है और जिस व्यक्ति को तीन, छः या 8 दाने आते हैं वह देवता के पास विनती करता है कि उससे देवता खुश नहीं है। पुनः गूर उसे सतवांजे देता है।

कुरगण देवता को बलि रूप में बकरा काटने की परम्परा है। जो "मानता" के अनुसार देवता को जातर हेतु बुलाता है उसे बकरा अवश्य चढ़ाना पड़ता है।

मन्दिर में प्रति सक्रान्त को दोपहर बाद देवता की पंची का आयोजन किया जाता है। सक्रान्त देव परम्परा में श्रेष्ठ दिन माना जाता है। इस दिन प्रत्येक घर से लोग रोट के रूप में आटा और धूप चढ़ाते हैं। पंची में लोग गूर से अपनी बीमारी या

अन्य किसी घरेलु मुश्किल के निवारण के लिए प्रार्थना करते हैं और गूर उसे रास्ता सुझाता है।

मन्दिरों में सुबह शाम पुजारी पूजा करता है। गांवों के इन मन्दिरों की अपनी-अपनी देवता समितियां हैं जो मन्दिर के प्रबन्ध को सुचारू रूप से चला रही हैं। सरकार का इन पर कोई भी नियन्त्रण नहीं है।

देव कुरगण के मन्दिरों में मुख्यत: निम्न मन्दिर हैं—

—देव कुरगण मन्दिर मंगहोई, ग्राम पंचायत मांगू

—देव कुरगण मन्दिर मांगू, ग्राम पंचायत मांगू।

—देव कुरगण कराड़ाघाट, ग्राम पंचायत दानोघाट।

—देव कुरगण मन्दिर डवारू, दाड़लाघाट।

—देव कुरगण मन्दिर कोलका, दानोघाट।

ये सभी मन्दिर तहसील अर्की जिला सोलन में पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त और कई स्थानों पर भी इस देवता के लघु मन्दिर और थापने हैं।

लुटरू महादेव

लुटरू महादेव का यह प्राचीन और पवित्र स्थान अर्की बाजार के ऊपर एक पहाड़ी पर स्थित है। यहां चारों तरफ से चट्टानों से घिरी एक पहाड़ी है जिसके मध्य महादेव की गुफा है। पहले यहां तक पहुंचने के लिए तंग मार्ग हुआ करता था लेकिन अब यहां तक सीढ़ियां बना दी हैं। रास्ते से जाते हुए दोनों ओर सांपों, गणपति तथा भगवान शिव की प्रतिमाएं अंकित है। यह सभी यहां जाने वाले श्रद्धालुओं ने बनाई हैं। गुफा काफी लम्बी और चौड़ी है—लगभग एक सामान्य कमरे जैसी। गुफा के ऊपर सख्त चट्टानों से नुकीली लम्बे पत्थर के टुकड़े लटके हुए हैं। ऐसा लगता है कि ये गायें या भैंस के थन होंगे। जमीन पर भी प्राकृतिक रूप से बने शिवलिंग हैं। इन नुकीले पत्थरों से शिवलिंग पर पानी की बूंदें टपकती रहती है। ऐसी धारणा है कि पूर्व समय में इनसे दूध की धारा प्रवाहित होती रहती थी।

शिवरात्रि के दिन यहां मेले का आयोजन होता है। हजारों लोए महादेव लुटरू के दर्शन करने यहां पहुंचते हैं। स्थानीय प्रशासन ने इस स्थान का काफी विकास किया है। यहां तक पीने का पानी भी पहुंचा दिया है। जीप योग्य सड़क का निर्माण भी किया जा रहा है।

बताया जाता है कि सन् 1810-11 ई० में गोरखा जनरल अमरसिंह थापा ने जब अर्की के महल पर कब्जा किया था तो वह प्रतिदिन नंगे पांव यहां जाया करता था। उसकी इस गुफा में बहुत श्रद्धा थी।

बाड़ीधार

अर्की से लगभग 15 कि०मी दूर 2100 मीटर की समुद्रतल से ऊंचाई पर बान

के जंगल से ढका एक सुन्दर और शान्तमय स्थल है जिसे बाड़ीधार के नाम से जाना जाता है। यह एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल माना जाता है। इस स्थान का सम्बन्ध महाभारत से जुड़ा हुआ भी बताया जाता है।

मान्यता है कि महाभारत का युद्ध जब प्रारम्भ होने के चरण में था तो भगवान कृष्ण जी अन्य पांचों पाण्डव भाईयों के साथ यहीं युद्ध पर विचार विमर्श किया करते थे। उस समय उनके सैनिक भी उनके साथ सुरक्षा हेतु आए रहते थे। ये सैनिक श्री कृष्ण व पाण्डव को यहां छोड़ कर खुद गांव में घुस जाते और पशुओं को जबरदस्ती अपना शिकार बना लिया करते। एक दिन साहस करके लोगों ने मिल कर पाण्डवों को इनकी शिकायत कर दी। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अतः बतौर सजा उन सैनिकों को शाप दिया गया और वे पत्थर बन गए। लोगों को आश्वासन दिया कि उनका अब नुकसान नहीं होगा। लेकिन पाण्डवों ने यह शर्त रख दी कि स्वेच्छा से वे इनको वर्ष में एक बार किसी पशु को दे दिया करें। ग्रामीण इससे सहमत हो गए। इन्हें गण भी कहा जाता है। पत्थर रूप में इन्हें बाड़ीधार के नीचे से बहती खड्ड के किनारे रहने का आदेश दे दिया गया और उनके गले में बड़ी-बड़ी लोहे की जंजीरें डाल दी गई।

इस मुसीबत से छुटकारा दिलाने पर लोगों ने पाण्डव भाईयों को अपना देवता मान लिया। गणों को अब प्रतिवर्ष एक भैंसा दिया जाने लगा।

लोगों ने पाण्डवों को यहीं पर "बड़ा देव" के नाम से पूजा और उनकी प्रतिष्ठा हेतु प्रति वर्ष एक मेले का आयोजन भी किया। आज तक यह विशाल मेला आषाढ़ के प्रथम प्रविष्ठे प्रति वर्ष आयोजित होता है। काफी सालों तक भैंसा दिया जाता रहा और बाद में एक बकरा भेंट के रूप में गणों को दिया जाने लगा। लोगों ने यहां देवताओं के चार रथ बनाए हैं जिन्हें गणों के नाम से जाना जाता है। ये रथ मन्दिरों में गांव में हैं। मेले वाले लोग दिन बाजे गाजे के साथ इन्हें बाड़ीधार लाते हैं। यहां वन के मध्य एक छोटा मैदान है जहां इन्हें रखा जाता है। यहां एक मन्दिर भी निर्मित है।

यह धार्मिक पर्यटन स्थल के साथ ऐतिहासिक स्थान भी माना जाता है। यहां जब गोरखाओं ने उन्नीसवीं शती के प्रथम दशक में आक्रमण किया तो अर्की पर उसका साम्राज्य रहा। उसने बाड़ी धार के उत्तरी किनारे पर एक किला बनाया था जिसके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं।

इस स्थल के लिए पिपलुघाट नामक स्थान से सड़क निकाली जा रही है। इस धार की ढलान पर अति खूबसूरत वादी सरयांज तक तो अब नियमित बस सेवा आरम्भ हो चुकी है। यह अति रमणीक और शान्त स्थल है।

सुबाठू भगवती मन्दिर

सुबाठू जिला सोलन का एक प्रमुख कस्बा है जिसे आज सेना छावनी के नाम से भी जाना जाता है। समुद्रतल से 1625 मी० की ऊंचाई पर स्थित यह कस्बा एक साफ-सुथरा और सुन्दर स्थान है जहां 1813 में कर्नल रोज ने पहली गोरखा यूनिट की

स्थापना की थी और इसी से साथ नेपाली गोरखाओं की वीर गाथाओं का इतिहास सुबाठू जनपद के साथ सदा-सदा के लिए जुड़ गया। सोलन से यह स्थान 24 कि०मी० है।

सुबाठू में कई प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं जिनमें महाकाली का प्राचीन मन्दिर, ठाकुर द्वारा मन्दिर, महर्षि बाल्मीकि और गुग्गा माड़ी मन्दिर प्रमुख माने जाते हैं। लेकिन वर्तमान समय में मां भगवती मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है जिसके साथ गोरखों का पावन स्नेह और धार्मिक आस्था अत्यन्त गहराई में जुड़ गई है। यहां के जनपद में इस मन्दिर के लिए अगाध श्रद्धा है। यह मन्दिर सुबाठू बस स्टैण्ड से कुछ ही दूरी पर धर्मपुर कुनिहार सड़क के किनारे निर्मित किया गया है। हालांकि मन्दिर बहुत पुराना नहीं है लेकिन जिस तरह इस मन्दिर का निर्माण हुआ है वह दर्शनीय है। इस मन्दिर के रास्ते में कुछ दूर पीछे की ओर ठाकुर द्वारा मन्दिर है। इससे कुछ ही दूरी पर मां भगवती का विशाल मन्दिर एक पहाड़ी पर स्थित है। बहुत दूर से ही इसका गुम्बद चमचमाता दिख जाता है। मन्दिर में प्रवेश करने से पूर्व 20 फुट ऊंचा तोरण द्वार बना है जिसके मध्य भाग में विष्णु शैया निर्मित है। इसके नीचे अशोक चिह्न है और तोरण के दाएं और बांए मां दुर्गा की सभी आकृतियां निर्मित की गई है। यह आधुनिक मूर्तिकला का संजीव उदाहरण है। मन्दिर के प्रांगण में मन्दिर के शिलान्यास की प्लेट लगी है जिससे यह विदित हो जाता है कि मन्दिर का शिलान्यास 9 जुलाई, 1973 को मेजर जनरल एस०के० करोला द्वारा किया गया है। मन्दिर में मां भगवती की विशाल अष्टधातु की प्रतिमा अति सुन्दर है। भवन की छत रंग के कारण दूर से मन को भा जाती है। भीतर सुन्दर भित्ति चित्र हैं जिसमें कहीं श्री कृष्ण भगवान अर्जुन को गीता के उपदेश देते हुए दर्शाए गए हैं तो कहीं राधा-कृष्ण की अठखेलियों का वर्णन चित्रित हैं। एक स्थान पर राम और लक्ष्मण अपने गुरुदेव से शिक्षा ग्रहण करते हुए दिखाए गए हैं। प्रवेश द्वार के पार्श्व भाग में ऊपर एक अमूल्य चित्र दर्शनीय है जिसमें मां भगवती महाराणा शिवाजी को अपनी खड्ग भेंट करती दर्शायी गई हैं। चित्रों के साथ अनेक दोहे लिखे गए हैं।

मन्दिर का प्रांगण अनेक पुष्पों से सुवासित रहता है। इस मन्दिर की देखरेख हेतु यहां की सेना उत्तरदायी है। लेकिन मन्दिर सेना के जवानों के अतिरिक्त अन्य ग्रामीण लोगों के लिए सदैव खुला रहता है। यहां शिवरात्रि, दशहरा, दीपावली, बसन्त पंचमी और नवरात्रों में मेलों का आयोजन किया जाता है। वास्तव में सेना के जवानों द्वारा निर्मित यह मन्दिर ऐसी शक्ति का परिचायक है जिसकी प्रेरणा और आशीर्वाद से ये जवान देश की रक्षा हेतु सदैव तैयार रहते हैं। नवरात्रों में तो सेना की टुकड़ियां मां के मन्दिर की परिक्रमा भी करती है और पशुबलि भी दी जाती है।

9

सिरमौर

ग्यारहवीं शताब्दी के दौरान सिरमौर पर राजा मदन सिंह का राज्य था। यह राजा सूर्यवंशी परिवार से था। इस राज्य की राजधानी पांवटा साहिब से 16 किलोमीटर दूर पूर्व-पश्चिम की ओर गिरी नदी के छोर पर सिरमौर के नाम से ही प्रसिद्ध थी। इसे कयारदा दून के नाम से भी जाना जाता था। इस प्राचीन राज्य अर्थात रियासत के नामकरण के बारे में कोई भी प्रमाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं है लेकिन यह धारणा है कि इसकी खोज राजा रसालू ने आठवी शताब्दी के अन्त में की थी। बाद में जैसलमेर के एक अन्य राजा जिसका नाम सरमूर बताया जाता है ने अपने नाम पर इसका नामकरण किया। वर्तमान में इस स्थान को सिरमौर ताल से जाना जाता है। इस बात के प्रमाण यहां खुदाई करने से मिले हैं कि प्राचीन काल में इस स्थान पर अवश्य विशाल राजमहल हुआ करते थे। खुदाई में कुछ ऐसी शिलाएं प्राप्त हुई हैं जिन पर विभिन्न चित्र उत्कीर्ण हैं। यह ऐसे प्रमाण हैं जो यहां रियासत की प्राचीन राजधानी होने का दावा सिद्ध कर सकते हैं।

एक किवदन्ती के अनुसार कहा जाता है कि राजा मदन सिंह के शासनकाल में राज्य में एक दिन एक नटनी ने प्रवेश किया जो नटविद्या में माहिर थी। वह सीधी दरबार में आई और राजा से मिलने की हट करने लगी। उसने बताया कि वह जादुई विद्या में अति निपुण है और राजा दरबार में कुछ अनोखे कर्तब दिखाना चाहती है। राजा को जब इस बात की खबर पहुंचाई गई तो राजा ने उसे दरबार में आने की इजाजत दे दी। नटनी ने दावा किया कि वह सूत के धागे पर गिरी नदी को पार करके दिखा सकती है। यह बात आश्चर्य से पूर्ण थी। लेकिन वह युवती अपनी जिद पर अड़ी रही। इस पर टोंका और पोका नामक पहाड़ियों के बीच धागा या पतली रस्सी दो खम्बों में गिरी नदी के बीच बांध ली गई। इससे पूर्व की वह नटनी ऐसा करे राजा ने उसे जीतने पर आधे राज्य का स्वामित्व देने का वादा किया। नटनी ने रस्सी पर चलना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे चलती हुई जब मध्य में पहुंची तो राजा सहित उसके दरबारियों के होश उड गए। उन्हें बेवजह एक नटनी को आधे राज्य का स्वामी बना देना बेवकूफी लगी। इस पर राजा के मन में पाप पैदा हो गया और

उसने दरबारियों को कह कर पीछे से वह रस्सी कटवा दी। नटनी गिरी नदी में मर गई लेकिन मरने से पूर्व उसने चिल्लाते हुए राजा को श्राप दे दिया कि इस पूरी रियासत का कुछ नहीं रहेगा। कहा जाता है कि उसके पश्चात् गिरी में भयंकर बाढ़ आ गई और राजधानी सहित अन्य क्षेत्र भी नष्ट हो गए। यह बाढ़ पूरी रियासत को ही जैसे निगल गई हो। इससे सिरमौर का शासन ही खत्म हो गया।

सिरमौर राज्य को बिना किसी शासक के देखकर कुछ बचे हुए राज दरबार के लोग चिन्तित हो गए। उन्होंने पण्डितों और ज्योतिषियों को इस बारे में पूछा। तय किया गया कि किसी शासक को राज्य सम्भालने हेतु कहीं से लाया जाए। इस पर पण्डितों की एक टोली जैसलमेर पहुंची। वहां के राजा की तीन रानियां थीं। उनमें से एक गर्भवती थी। पण्डितों ने राजा को अपनी कथा सुनाई और सिरमौर चलने का आग्रह किया। उन्होंने गर्भवती रानी को अपनी रियासत की महारानी के रूप में चुना और भविष्यवाणी की कि उसके जिस पुत्र का जन्म होगा वह एक वीर शासक सिरमौर रियासत का होगा। राजा इस आग्रह को टाल न सका और उसी रानी के साथ सिरमौर चला आया। जैसे ही उन्होंने सिरमौर की सीमा में प्रवेश किया उस रानी ने एक पेड़ के नीचे ही पुत्र को जन्म दे दिया। यह वृक्ष ढाक के नाम से आज भी पूजनीय है जिसकी महिलाएं पूजा करती हैं। इस बालक का नाम बदन सिंह रखा गया और बाद में सिरमौर का राजा बना। इस राजवंश से सिरमौर के राज घराने की परम्परा चलती रही और अन्त में राजा राजिन्द्र प्रकाश के काल में आजादी के बाद समाप्त हुई। इस राजा की सन् 1964 में मृत्यु हुई।

सिरमौर के बाद कई स्थानों पर रियासत की राजधानी राजाओं की इच्छानुसार रही। राजा कर्म प्रकाश ने छः सालों तक इस रियासत की राजधानी कलसी नामक स्थान पर रखी लेकिन एक दिन जंगल में एक साधु के कहने पर राजा कर्म प्रकाश ने कलसी से नाहन के लिए अपनी राजधानी बदल ली। 1621 में राजा ने नाहन में राजधानी की नींव रखी और वहां कई मन्दिरों और महलों का निर्माण किया। यह आज एक सुन्दर एवं समृद्ध शहर के रूप में विकसित है जो राज्य के मुख्यालय के रूप में प्रसिद्ध है। नाहन न केवल ऐतिहासिक नगर है बल्कि आज एक सुन्दर पर्यटक स्थल के रूप में भी लोकप्रिय है। समुद्रतल से 932 मीटर की ऊंचाई पर यह नगर अम्बाला से 100 कि०मी०, चण्डीगढ़ से 90 किलोमीटर, शिमला से 100 किलोमीटर, सोलन से 85 कि०मी० और रेणुका से 40 किलोमीटर है।

सिरमौर जिला 2825 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्रफल में फैला सुरमयी पर्वत मालाओं के आंचल में अपनी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर, धार्मिक व सुन्दर पर्यटक स्थलों के लिए देश विदेश में सुविख्यात है। 1981 की जनगणना के मुताबिक इस जिले की जनसंख्या 3,06,952 थी। इस जिले में अनेक ऐतिहासिक, धार्मिक और पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें रेणुका, पांवटा साहिब, त्रिलोकपुर, धौला कुआं, चूड़

चांदनी और राजबन प्रसिद्ध हैं। सुकेती नाहन से 21 कि०मी० दूर मारकण्ड नदी के किनारे बसा जीवाष्म पार्क यानि फोसिल पार्क के लिए विश्व विख्यात है।

हिमाचल प्रदेश के निर्माता डा० यशवन्त सिंह परमार इसी जिले के निवासी थे। इनका जन्म 4 अगस्त, 1906 ई० में पछाद क्षेत्र के चंहाल गांव में हुआ था। हिमाचल के प्रथम मुख्यमन्त्री के रूप में वह 1963 से 1976 ई० तक कार्य करते रहे और 1981 ई० को हमसे विदा हो गए।

इस जिले की सीमाएं उत्तर में शिमला व सोलन, पूर्व में उत्तर प्रदेश, दक्षिण में उत्तर प्रदेश व हरियाणा और पश्चिम में हरियाणा व सोलन जिलों के साथ लगती है। इस जिले में अनेकों धार्मिक स्थल हैं जिनमें से कुछेक का यहां जिक्र किया जा रहा है।

श्री रेणका जी तीर्थ

शिमला से 135 किलोमीटर तथा जिला सिरमौर के मुख्यालय नाहन से श्री रेणुका जी का यह प्राचीन धार्मिक स्थल 40 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। लोक मान्यता है कि श्री रेणुका जी यहां झील के रूप में विद्यमान हैं। पहाड़ों की गोद में यह झील सचमुच ही एक सोई नारी जैसी लगती है। यह स्थान धार्मिक दृष्टि से जितना पावन और विख्यात है उतना ही प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण भी। झील के किनारे कई अन्य मन्दिर इस स्थल को चार चांद लगाए हैं।

प्राचीन काल में सहस्त्रबाहु नामक राजा बहुत अत्याचारी माना गया है। इसी राजा के राज्य से श्री रेणुका जी की कथा का प्रादुर्भाव होता है। यदुवंश के इस राजा को जब इसके कुल गुरु ऋचिक ने इसे अत्याचार को त्यागने की सलाह दी तो इसने उन्हें ही अपने राज्य से निकाल दिया। ऋचिक अपनी पत्नी सहित हालांकि चला तो आया लेकिन उन्होंने इस कुकर्मी राजा से निपटने का व्रत ही ले लिया। जब ऋषि ऋचिक अपनी पत्नी सहित कई सालों उत्तरी भारत के पर्वतों पर रहे तो वहीं उनके एक पुत्र हुआ जो बाद में ऋषि जमदग्नि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी काल में प्रसेनजित नामक राजा भी राज्य करता था। इसके एक पुत्री थी जो बाल्यकाल से ही बहुत गुणी थी। जब वह बड़ी हुई तो उसके विवाह की चिन्ता राजा को निरन्तर सताने लगी। एक दिन वह जब चिन्ता में डूबा था तो अचानक राजा को अपनी कुल देवी का स्मरण हुआ। उसी प्रेरणा से राजा रामाद्री पर्वत पर आ पहुंचा जहां जमदग्नि तपस्या में लीन रहते थे। उन्होंने जमदग्नि से सारी बात कही और वह विवाह के लिए राजी हो गए। इस तरह रेणुका जी का विवाह ऋषि जमदग्नि से सम्पन्न हो गया और ऋषि अपनी पत्नी को लेकर पुन: वन में अपने आश्रम रहने के लिए चले आए।

मरने के पूर्व ऋषि ऋचिक ने अपने पुत्र जमदन्नि को सहस्त्रबाहु के अत्याचार और उसको नष्ट करने की बात से अवगत करवा दिया था इसलिए विवाह के बाद ऋषि जमदग्नि इसी ताक में रहे कि उस अत्याचारी को किस तरह से समाप्त किया जाए। वह शक्तिशाली तो था ही। इसीलिए अपनी पत्नी सहित जमदग्नि ने जामू की धार

नामक पर्वत पर तपस्या प्रारम्भ कर दी। यह धार वर्तमान रेणुका झील के ऊपर स्थित है। जमदग्नि ने भगवान विष्णु की तपस्या शुरू की थी क्योंकि उन्हें पता था कि सहस्त्रबाहु को केवल भगवान विष्णु की सहायता से ही मारा जा सकता है। विष्णु भगवान जब उनकी तपस्या से प्रसन्न हुए तो जमदग्नि से वर मांगने के लिए कहा। इस पर उन्होंने भगवान विष्णु से सारी घटना कही और उनसे अपने पिता द्वारा लिए गए सहस्त्रबाहु को समाप्त करने के व्रत के बारे में कहा। बताया जाता है कि कुछ दिनों बाद समय पूर्ण होने पर स्वयं भगवान विष्णु ने ऋषि जमदग्नि के घर पुत्र रूप में जन्म लिया जो भगवान श्री परशुराम कहलाए। यह जन्म वैशाख शुक्लपक्ष को हुआ। इस दिन श्री रेणुका में मेला लगता चला आया है और माना जाता है कि भगवान परशुराम इस दिन यहां अपनी मां से मिलने आया करते हैं। इस मेले को राज्य स्तर पर आयोजित किया जाता है। हजारों लोग इस मेले में आते हैं और पवित्र झील में स्नान करते हैं।

ऋषि जमदग्नि सदैव गंगा का पवित्र जल ही पीते थे और रेणुका जी कच्चे घड़े में प्रतिदिन जल लाया करती थीं। ऋषि सदैव भगवान के ध्यान में रहते और श्री रेणुका जी उनकी एक पतिव्रता के रूप में सेवा किया करती थीं। लोग यह भी मानते हैं कि इस क्षेत्र में बहने वाली गिरी ही ये नदी है जिसे गंगा जैसा पवित्र माना जाता है। एक दिन गंगाजल लाते हुए श्री रेणुका जी ने नदी तट पर एक प्रेमी जोड़े को नग्नावस्था में देखा। उनका मन स्नेह से भर गया। आश्रम आईं तो ऋषि से यह बात कह दी। ऋषि को श्री रेणुका जी पर शक हो गया और उन्होंने तत्काल श्री परशुराम को श्री रेणुका का वध करने का आदेश दे दिया। एक पल के लिए परशुराम स्तब्ध रह गए लेकिन पितृभक्त होने के कारण उन्होंने ऐसा ही किया और अपनी मां का सर काट दिया। उनके पिता बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्र से वर मांगने को कहा। इस पर श्री परशुराम ने पुन: अपनी माता को जीवित होने का वर मांग लिया। ऋषि के लिए ऐसा करना कठिन हो गया लेकिन उन्होंने पुत्र को वचन दे दिया था इसलिए वे अपनी पत्नी को जीवित तो न कर पाए लेकिन उन्होंने झील के रूप में श्री रेणुका जी को सदा के लिए अमर कर दिया। तभी से इस झील का नाम रेणुका झील पड़ा है।

एक अन्य किवदन्ती के अनुसार श्री परशुराम के आग्रह पर ऋषि जमदग्नि ने पुन: श्री रेणुका जी को जीवित कर दिया था। इसके बाद वे आश्रम में रहने लग गए। लेकिन श्री परशुराम जी माता-पिता की आज्ञा लेकर श्री बद्रिका आश्रम तपस्या के लिए चले गए और अपने माता-पिता को यह कहा कि जब भी वे याद करेंगे वह उनकी सेवा में उपस्थित हो जाएंगे। इसी बीच सहस्त्रबाहु का अत्याचार बढ़ता गया और उसने अपना राज्य वर्तमान रेणुका तक फैला दिया और अपनी सेना के साथ वहां अस्थाई तौर पर रहने लग गया। श्री रेणुका जी पहले की तरह गंगा से पानी लाने जाया करती थी। एक दिन उसकी अचानक सहस्त्रबाहु से भेंट हो गई और वह उस

पर मुग्ध हो गया। लेकिन परिचय जानने के बाद उसे पता चला कि वह रिश्ते में उसकी साली लगती है क्योंकि राजा प्रसेनजित की दूसरी पुत्री का विवाह सहस्त्रबाहु से हुआ था। अब सहस्त्रबाहु रेणुका जी को रोज मिलता और उसे कहता कि उसे अपनी बहिन सहित कभी अपने आश्रम खाने पर बुलाए। एक दिन जब रेणुका जी ने यह बात ऋषि से कही तो वे उसकी चाल को भांप गया। लेकिन ऋषि ने रेणुका जी को उन्हें खाने पर अपनी सेना सहित बुलाने के लिए कह दिया और उसी अनुसार रेणुका जी ने सहस्त्रबाहु को निमन्त्रण दे दिया।

जिस दिन उन्होंने भोजन पर आना था ऋषि ने इन्द्रदेव से आग्रह किया कि वे कामधेनु गाय और कुबेर को उनकी सहायतार्थ दे दें। भगवान इन्द्र ने उन्हें यह सहायता प्रदान कर दी। राजा सेना सहित जब आश्रम आया तो वहां का प्रबन्ध देखकर चकित रह गया। उसने तो यह निमन्त्रण देने का आग्रह रेणुका से ऋषि के अपमान हेतु किया था लेकिन यहां उसके सोचने के विपरीत हो गया। जब सहस्त्रावाहु को कामधेनु का पता चला तो उसने धोखे से दान में ऋषि से उस गाय को मांग लिया लेकिन ऋषि ने ऐसा करने से साफ मना कर दिया। सहस्त्रबाहु के लिए तो यह मौका उपयुक्त था क्योंकि वह ऋषि का वध करके श्री रेणुका जी का अपहरण करना चाहता था। उसने जैसे ही बलपूर्वक कामधेनु को पकड़ना चाहा तो वह आकाश में उड़ गई। इस पर ऋषि जमदग्नि और सहस्त्रबाहु का आपस में घोर युद्ध हो गया और ऋषि जमदग्नि को राजा ने मार दिया। अब श्री रेणुका को ले जाना उसके लिए आसान हो गया। लेकिन वह तो पतिव्रता थी जैसे ही उसने रेणुका को पकड़ना चाहा वह राम कुण्ड में कूद पड़ी। इस अवसर पर ही उन्होंने अपने पुत्र को याद किया। स्मरण करते ही श्री परशुराम की तपस्या टूट पड़ी और वह तत्काल वहां पहुंच गए। सहस्त्रबाहु द्वारा यह अत्याचार देखकर श्री परशुराम बौखला गए और उन्होंने सेना सहित सहस्त्रबाहु का वध कर दिया। उसके बाद अपनी माता को जीबित ही राम कुण्ड से बाहर निकाल दिया। लोग यह भी मानते हैं कि यही रामकुण्ड श्री रेणुका झील है।

श्री परशुराम जी जब वापिस अपने आश्रम जाने लगे तो श्री रेणुका ने उनसे अनुरोध किया कि वे अपनी मां से और यहां की जनता से कभी मिलने अवश्य आया करें। इस पर उन्होंने वचन दिया कि वे वर्ष में एक बार कार्तिक मास में शुक्ल प.. की एकादशी को यहां अवश्य आया करेंगे और द्वादशी की सायं वापिस जाया करेंगे। इसीलिए ही इस दिन परशुराम जी के यहां आने पर श्री रेणुका जी पर्व आयोजित किया जाता है।

इसी तरह की सहस्त्रबाहु और ऋषि जमदग्नि के युद्ध से सम्बन्धित घटना ततापानी तीर्थ से भी जोड़ी जाती है।

सहस्त्रबाहु जैसे शक्तिशाली राजा के वध पर अनेक राजाओं तथा ऋषि-मुनियों ने झील के किनारे महा यज्ञ का आयोजन किया था। इस यज्ञ का जहां आयोजन हुआ वह स्थान आज श्री परशुराम ताल के रूप में दर्शनीय है। यहीं पर श्री रेणुका जी

मन्दिर, पुरानी देवठी मन्दिर, भगवान शिव मन्दिर अवलोकनीय हैं। शिव का यह मन्दिर पूर्ण भारतवर्ष में केवल एक ही ऐसा है जिसे शिवलिंगाकार रूप में निर्मित किया गया है। यहां से लगभग 6 किलोमीटर दूर श्री भृगु आश्रम स्थित है।

यह स्थान आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो चुका है। एक धार्मिक स्थान के साथ-साथ यह प्रसिद्ध पर्यटक स्थल भी है जहां भ्रमण और तीर्थ स्थल दोनों एक साथ हैं। इस झील में नौका विहार की सुविधा भी मौजूद है। झील की सुन्दरता देखते ही बनती है। चारों तरफ की हरियाली जैसे झील के अमूल्य आभूषण हों। लोग श्री रेणुका जी की एक शक्तिशाली देवी के रूप में पूजा करते हैं और इसी दृष्टि से यहां भ्रमण और स्नान करने का बहुत बड़ा महत्व माना गया है।

बाला सुन्दरी मन्दिर

त्रिलोकपुर गांव नाहन से 24 किलोमीटर की दूरी पर ऐतिहासिक मां बाला सुन्दरी मन्दिर के लिए प्रख्यात है। इस देवी के तीन रूप माने गए हैं। पहला ललिता देवी, दूसरा बाला सुन्दरी और तीसरा त्रिभवानी। ललिता देवी का प्राचीन मन्दिर इस गांव से लगभग चार किलोमीटर पूर्व की ओर एक पहाड़ी पर स्थित है। मां त्रिभवानी का मन्दिर यहां से पश्चिम-उत्तर दिशा की ओर स्थित है। और इन दोनों मन्दिरों के बीच है मां बाला सुन्दरी का भव्य प्राचीन मन्दिर। इन तीन देवियों का त्रिमूर्ति रूप ही त्रिलोकपुर गांव के नामकरण की आधारशिला मानी जाती है।

लोक मान्यता है कि यह देवी यहां लगभग 450 वर्ष पूर्व आई थी। त्रिलोकपुर गांव में एक व्यापारी (बनिया) रामदास रहा करता था, जिसने यहां अपनी दूकान चला रखी थी। यह बनिया अपना सारा माल सहारपुर से लाया करता था। एक दिन उसने सहारपुर से नमक की एक बोरी लाई जिसमें एक पिंडी अपने आप चली गई। इस तरह यह पिंडी सहारपुर से त्रिलोकपुर बनिए की बोरी में पहुच गई। दूकान के समीप एक पीपल का वृक्ष था जिस पर बनिया नियमित जल चढ़ाया करता था। बनिए ने कुछ दिनों के बाद यह आभास किया कि जो नमक वह लाया था वह बिकने से बाद भी कम नहीं हो रहा है। इस पर वह आश्चर्य चकित हो गया।

कहा जाता है कि एक दिन बनिए को देवी ने स्वप्न में दर्शन दे दिए कि जिस जगह वह जल चढ़ाता है उससे नियमित मेरे स्नान होते हैं। माता ने उसे कहा कि वह वहां एक मन्दिर बनाए। लेकिन बनिया इतना धनी नहीं था जिससे वह मन्दिर का निर्माण कर पाता। उसके कई दिनों बाद वह पीपल एक तूफान से उखड़ कर गिर गया जिसको जड़ों से वह पिंडी प्रकट हो गई। उस बनिए ने उसे श्रद्धापूर्वक उठाया और साफ जगह पर रखकर नियमित अराधना करने लग गया। कई दिनों बाद उस देवी ने उसको मन्दिर की बात स्मरण करवा दी लेकिन बनिए ने मां के आगे हाथ जोड़ कर फिर धनाभाव की बात दोहराई। इसके बाद वह देवी तत्कालीन राजा दीप प्रकाश के स्वप्न में प्रकट हुई और राजा को मन्दिर बनाने को कहा। राजा ने उसके बाद

मन्दिर का निर्माण शुरू कर दिया। यह मन्दिर 1753 ई० में बनाया गया और माता की पिंडी को मन्दिर में स्थापित किया गया। राजा ने इस मन्दिर में 84 घण्टियां भी लगवाई जिसे लोग इसे चौरासी घण्टियों वाली मां भी कहते हैं। माता की पिंडी के साथ संगमरमर की मूर्ति स्थापित की गई है जो अष्टभुज है। मन्दिर में कई अन्य मूर्तियां भी शोभायमान हैं। मन्दिर के पूर्व की ओर मां मनसादेवी की प्रतिमा स्थापित है। साथ ही दो पहरेदारों की मूर्तियां हैं। मन्दिर के दरवाजे के सामने जो दक्षिण की ओर है हवन कुण्ड, सन्तोषी माता, हनुमान जी, शिव भगवान तथा भैरव के मन्दिर एवं उनमें लघु मूर्तियां स्थापित हैं। माता की सवारी के लिए शेर भी मन्दिर के बाहर बनाया गया है। मन्दिर का प्रांगण संगमरमर से सुसज्जित है। इस परिसर के इर्द-गिर्द पीपल के वृक्ष हैं। इन पीपल की टहनियों ने मन्दिर को सुन्दर ढंग से ढांप रखा है। मन्दिर के ऊपर गुम्बद पर कलश लगा है।

सिरमौर रियासत पर जिन राजाओं ने भी शासन किया उनकी इस मन्दिर के प्रति गहन आस्था रही है। वे सदैव बाहर मां का आशीर्वाद लेकर ही जाते थे। नवरात्रों में यहां विशाल मेलों का आयोजन होता है।

श्रीगुलदेव और चूड़ेश्वर मन्दिर

श्रीगुल का निवास-स्थल चूड़धार माना जाता है। सिरमौर जनपद में श्रीगुल को अत्यन्त शक्तिशाली देव के रूप में पूजा जाता है। जिले में स्थान-स्थान पर इस देवता के मन्दिर और देहरियां निर्मित हैं। इनमें कई मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इससे पूर्व की यहां के कुछ प्रसिद्ध एवं प्राचीन मन्दिरों पर प्रकाश डाला जाए सबसे पहले श्रीगुल देव के जन्म सम्बन्धी आस्था का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है।

सिरमौर क्षेत्र में श्रीगुल देवता के सन्दर्भ में कथा कही जाती है वह अति रोचक है। कहा जाता है कि बहुत समय पूर्व 'शाया' रियासत में भकड़ू नामक राणा का शासन था। 'शाया' को उस समय एक छोटी रियासत के रूप में जाना जाता था जो अब सिरमौर जिले की तहसील राजगढ़ में एक छोटा-सा ग्राम है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि भकड़ू केवल एक साधारण परिवार का राजपूत था। इस राजपूत के कोई भी सन्तान नहीं थी। यह राजपूत विद्वान और तन्त्रविद्या में भी निपुण बताया गया है। किसी ने भकड़ू को बताया कि सन्तान न होने के कारणों का पता लगाने हेतु उसे काश्मीर में जाना चाहिए जहां एक पण्डित पूर्व जन्म से लेकर वर्तमान तक की बातें बता देता है। वह राजपूत सन्तान की इच्छा मन में संजोए काश्मीर चला गया। वहां पहुंचते-पहुंचते उसे कई महीने बीत गए। जब उसने उस पण्डित का निवास-स्थान ढूंढा तो पण्डित के परिवार ने बताया कि वह अभी सोए हैं। वह राजपूत अधिक इन्तजार न कर सका और उसने अपना शरीर बदलकर बिल्ली का रूप धारण कर लिया और पण्डित के कक्ष में प्रवेश हो गया। बहुत प्रयास करने पर उसने उस पण्डित को जगा

लिया और आने का कारण बताया। पण्डित ने उसका परिचय जानकर उसे बताया कि पूर्व जन्म में उसने किसी ब्राह्मण की हत्या की है जिसके कारण उसके सन्तान नहीं हो सकती। यदि वह किसी ब्राह्मण की कन्या से पुनः विवाह करे तो उसके सन्तान हो सकती है।

भकड़ू इस स्थिति को जानकर वापिस लौट आया और तत्काल एक कन्या से विवाह कर लिया। कुछ दिनों के बाद उस राजपूत की पहली पत्नी स्वर्ग सिधार गई। लेकिन परिवार में दुख का साया अधिक दिनों तक न रहा और भकड़ू के दो पुत्र रत्न पैदा हो गए। उनमें एक का नाम श्रीगुल तथा दूसरे का दुधेश्वर रखा गया। बड़ा पुत्र श्रीगुल था जो बचपन से ही हर विद्या में निपुण था। पिता ने उसे धीरे-धीरे स्वयं भी हर बात में अग्रणी कर दिया था। लेकिन माता-पिता का साया उन दोनों बालकों पर अधिक देर न रह सका और कुछ दिनों के पश्चात् उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। अब दोनों भाई अकेले रह गए थे। उन दोनों को उनके मामा आकर ननिहाल ले गए। उनकी मामी काफी ईर्ष्यालू औरत थी। कुछ दिनों तक तो वह उन बच्चों को ठीक तरह पालती रही लेकिन धीरे-धीरे उनके प्रति उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। और उसने दोनों को सताना शुरू कर दिया।

लेकिन यहां कुछ विद्वानों और लोगों के दो मत रहे हैं। कुछ उपरोक्त बात को स्वीकारते हैं तथा कुछेक का यह मानना है कि भकड़ू की पहली पत्नी के वे दोनों बालक थे। उसके देहान्त के उपरान्त उसने दूसरी स्त्री से विवाह किया था लेकिन विवाह के कुछ महीनों बाद वह स्वयं मर गया जिससे दोनों बालकों का पालन-पोषण उनकी सौतेली मां करने लगी। अपनी संतान न होने पर उसनि वास्तव में उन बच्चों से सौतेली मां का व्यवहार किया। यह बात काफी हद तक उचित भी लगती है और इसे बहुत लोग स्वीकारते भी हैं। इसलिए इसी तथ्य पर इस कथा को मैं आगे बढ़ाना चाहूंगा।

सौतेली मां ने उन दोनों बालकों से घर का सारा काम कराना आरम्भ करवा दिया और खुद वह कुछ भी नहीं करती थी। श्रीगुल बचपन से काफी चमत्कारी था। उन्हें अक्सर खेतों में काफी मेहनत करनी पड़ती। श्रीगुल यदि एक बार किसी खेत में बीज डाल देता तो वह बिना हल चलाए ही उग जाया करते थे। इसके कार्य में बराबर चमत्कार भरा रहता जिससे जहां गांव वाले हतप्रद थे वहां उनकी सौतेली मां ईर्ष्या से भीतर ही-भीतर जल रही थी।

एक दिन खेतों में काम करते हुए श्रीगुल और उसके छोटे भाई को बहुत भूख लग गई। वे काम समाप्त किए बिना घर भी वापिस नहीं लौट सकते थे। इसलिए श्रीगुल ने अपनी मां के लिए रोटी खेत में लाने हेतु सन्देशा भेजा। काफी समय बाद उनकी मां खेत में आई तो उसके पास मात्र एक कटोरा सत्तू था। श्रीगुल ने जब देखा कि मां उनके लिए पानी तो लाई ही नहीं, उसने विनम्र भाव से माता को पानी के लिए पूछा। वह तमतमा गई और बोली कि यदि वह इतना चमत्कारी है तो खुद पानी क्यों नहीं पैदा कर लेता। श्रीगुल के हृदय पर सौतेली मां का यह ताना वज्र की तरह पड़ा

और क्रोध में उसने जमीन पर एड़ी इतने जोर से मारी कि उसी समय वहां से पानी की धार फूट पड़ी। दोनों भाइयों ने इस पानी से हाथ-मुंह धोए और खूब पानी भी पीया। जब एक वृक्ष की छांव में दोनों ने सत्तू का कटोरा देखा तो उसमें मां ने मक्खियां और दूसरे जानवर मिला दिए थे। श्रीगुल ने वह कटोरा दूर फेंक दिया जिससे वह मरे कीड़े मधु-मक्खियों में परिवर्तित हो गए और उन्होंने सौतेली मां को काट-काटकर मार दिया। यहां एक मान्यता यह भी रही है कि जब श्रीगुल ने जमीन से पानी निकाला तो गांव में बाढ़ आ गई जिससे उनकी सौतेली मां और आधा गांव डूब गया।

इसके बाद श्रीगुल अपने भाई को लेकर वहां से चला गया। उसने चूड़धार जाकर वर्षों भगवान शिव की तपस्या की और बाद में वहीं अपना निवास-स्थल बना लिया। धीरे-धीरे वह सिरमौर का शासक बन गया। उसके पास काफी सेना भी जमा हो गई।

यहां रहते हुए एक दिन उसके मन में दिल्ली जाने की इच्छा हुई। उसने अपने पीछे अपने छोटे भाई दूधेश्वर को चूड़धार क्षेत्र का कार्यभार सौंप दिया और खुद दिल्ली को रवाना हो गया। यहां भी कुछ लोग यह कहते हैं कि चूड़धार से जब श्रीगुल दिल्ली आया तो उसने चूड़ नामक एक राजपूत को चूड़धार की रक्षा का भार सौंपा लेकिन यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर उसका छोटा भाई कहां चला गया— वास्तव में यह कार्यभार श्रीगुल ने अपने छोटे भाई को सौंपा जान पड़ता है। श्रीगुल जब दिल्ली गया तो वह एक जगह रात्रि में विश्राम करने के लिए रुक गया। तभी उसने देखा कि कुछ लोग एक गाय को पकड़कर उसे हलाल करने ले जा रहे हैं। श्रीगुल ने उन बूचड़ों को ऐसा करने से रोक दिया। जब उन्होंने श्रीगुल पर आक्रमण किया तो श्रीगुल ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया। वे लोग मुगल बादशाह के लोग थे। राजा को जब पता चला तो उसने अपनी सेना के सिपाही भेजकर श्रीगुल को कैद कर दिया। इस तरह श्रीगुल कई दिनों तक बिना अपना परिचय दिए कैद रहा। एक दिन वहां कार्यरत एक भंगिन के साथ परिचय करके श्रीगुल ने सिरमौर की एक रियासत के राजा महाराज गुग्गा को रक्षा के लिए सन्देशा भिजवाया। उस औरत ने बहुत प्रयास करके यह सन्देश गुग्गा को पहुंचा दिया और गुग्गा अपने साथियों के साथ दिल्ली पहुंच गया। उसने जेल में चूहे का रूप धारण करके प्रवेश किया और सारी बेड़ियां काट डालीं। श्रीगुल उस महिला को अपने साथ लेकर गुग्गा के साथ वापिस सिरमौर पहुंच गया। जिस महिला भंगिन ने गुग्गा की सहायता से श्रीगुल को मुक्त करवाया था उसे श्रीगुल ने अपनी धर्म बहिन बना लिया।

सिरमौर पहुंचने पर गुग्गापीर अपने घर चला गया और श्रीगुल अपनी बहिन सहित चूड़धार वापिस लौट आया। जैसे ही उसने अपनी सीमा में प्रवेश किया तो उसे पता चल गया कि एक दैत्य ने उसकी राजधानी चूड़ पर अपना कब्जा कर लिया। रक्षार्थ वहां रखे अपने भाई तथा अन्य साथियों के साथ उस दैत्य ने घोर युद्ध किया जिनमें बहुत से साथी श्रीगुल के मारे गए। अब वह दैत्य उसके भाई का पीछा कर रहा

था। श्रीगुल ने जब देखा कि उसका भाई अब नहीं बच सकता उसने उसे शाप देकर वहीं पत्थर की शिला में परिवर्तित कर दिया। यह विशाल शिला चूड़धार की सीमा पर आज भी दर्शनीय है। श्रीगुल ने उसके बाद उस दैत्य को पकड़ कर मार दिया और उस महिला के साथ कई दिनों तक वहां प्रसन्नता से रहा।

अपने चमत्कार और देव प्रवृति से श्रीगुल ने लोगों से हरिपुर धार परिसर में उस महिला का मन्दिर बनवा दिया जिसे आज भंगायणी माता के नाम से समस्त हिन्दू जाति पूजती है। लोगों ने श्रीगुल का मन्दिर चूड़धार पर बनवा दिया जो आज भी वहां कालान्तर की इस घटना को समेटे हुए मूक साक्षी की तरह विद्यमान है।

दिल्ली जाने की एक और कथा भी प्रचलित है। कहा जाता है कि श्रीगुल व्यापार के लिए दिल्ली गया था। उसके पास कुछ सोने और चांदी के जेवरात थे। दिल्ली जब वह एक व्यापारी के पास पहुंचा तो वह मन्त्रशक्ति में काफी निपुण था। श्रीगुल के गहने जितने थे वह तोल में उससे कई गुना घट गए। लेकिन जब श्रीगुल ने कुछ रेशमी धागे व्यापारी को तोल के लिए दिए तो उनका तोल इतना बढ़ गया कि उतना माल उसकी दूकान में भी नहीं था। इस पर वह व्यापारी भाग कर राजा के पास शिकायत करने चला गया। इसी दौरान श्रीगुल एक जगह रोटी बनाने के लिए जगह खोदने लगा लेकिन वहां हड्डियां निकलीं। अपवित्र भूमि देखकर श्रीगुल ने अपने दोनों पांव के मध्य आग जलाकर रोटियां बनानी शुरू कर दीं। इसी दौरान राजा के सिपाही उसे कैद करने आ पहुंचे। उसकी करामात देखकर वह हैरान रह गए और वापिस राजा के पास चले गए। राजा ने खुद जब उस चमत्कार को देखा तो उसे कैद करने का आदेश दे दिया लेकिन श्रीगुल को बेड़ियां लगाना असम्भव हो गया। इस पर उसे राजा ने गाय की खाल में बंधवा दिया और कैद कर दिया। राजा ने बहुत ही परिश्रम से ऐसा किया था। लेकिन इसके बाद भी श्रीगुल ने अपना परिचय नहीं दिया और इसके बाद ही उस भंगिन की सहायता से श्रीगुल महाराज गुग्गापीर की सहायता पाकर जेल से भाग निकला था।

चूड़धार में मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध में भी ऐसी धारणा है कि जब कई दिनों तक श्रीगुल वहां रहा तो वह बराबर शिव भगवान की तपस्या करता रहा। एक बार पास के गांव में महामारी फैल गई। लोग बहुत परेशान हो गए। इस पर श्रीगुल ने लोगों को एक साधु बनकर यह कहना शुरू कर दिया कि यदि वे चूड़धार पर श्रीगुल का मन्दिर बना दें तो यह रोग समाप्त हो सकता है। लोगों ने उस साधु की बात मानी और चूड़धार पर मन्दिर का निर्माण कर दिया। मन्दिर जब बनकर पूर्ण हो गया तो स्वतः ही उस रोग की समाप्ति हो गई। लोगों की श्रीगुल के प्रति आस्था बढ़ती चली गई। इसके बाद कई गांवों में श्रीगुल एक चमत्कारी घटना से प्रकट हुआ और लोगों ने उसे अपना इष्ट देव मानकर पूजना शुरू कर दिया। चूड़धार तथा अन्य मन्दिरों के बारे में यहां वर्णन किया जा रहा है।

चूड़धार और श्रीगुल के जन्म सम्बन्धी एक अन्य धार्मिक कथा प्रचलित है।

एक बार पारवती जी ने चूड़धार के शिखर पर तपस्या आरम्भ कर दी। इस क्षेत्र में शंखाचूड़ और आज्ञासूर दो राक्षसों ने उत्पात मचा रखा था। मां पारवती की तपस्या को भंग करने के लिए वे निरन्तर उपद्रव करते रहते। एक दिन जब उनके इन उपद्रवों की अधिकता हो गई तो भगवान शिव को बहुत क्रोध आ गया और उन्होंने दोनों राक्षसों पर त्रिशूल से हमला कर दिया। शंखाचूड़ तो मारा गया लेकिन आज्ञासूर उस क्षेत्र को छोड़कर कहीं भाग निकला।

इसी काल में बबरूभान नामक एक वीर पुरुष इन्हीं पहाड़ियों पर शिव भगवान की तपस्या में लगा था। भगवान शिव उसकी तपस्या देखकर अति प्रसन्न हुए और उसे दर्शन दे दिए। फिर वरदान मांगने को कहा। उस भक्त ने शिव के दर्शन ही काफी समझे लेकिन अपनी ओर से शिवजी ने एक धनुष और तीन तीर उसे दे दिए और कहा कि ये तीर अति शक्तिशाली हैं। वह वीर इस पर प्रसन्न हो गया। इसी दौरान महाभारत का युद्ध होने वाला था। बबरूभान ने यह निश्चय किया कि इस युद्ध में जो हारेगा वह उसकी विजयश्री के लिए लड़ेगा। जैसे ही वह कुरुक्षेत्र की ओर जा रहा था अचानक अर्जुन और श्रीकृष्ण उसे रास्ते में मिल गए। श्रीकृष्ण ने जब परिचय जानना चाहा तो बबरूभान ने कहा कि वह महाभारत युद्ध में हारने वाले के पक्ष में लड़ेगा। दोनों इस पर आश्चर्यचकित हुए और उसकी शक्ति की थाह जाननी चाही। यह भी कहा जाता है कि तीर देते हुए शिव भगवान ने ही उसे यह प्रेरणा दी थी कि वह इन तीरों का प्रयोग हारने वाले पक्ष में करेगा।

ऐसी धारणा भी है कि श्रीकृष्ण भगवान ने अपनी शक्ति से इस बात का पता लगा लिया था कि बबरूभान नामक एक योद्धा कौरव के पक्ष में लड़कर उन्हें जीत दिलवा सकता है। इसलिए ही वह उसकी तलाश में निकले थे। श्रीकृष्ण ने बबरूभान को उसकी शक्ति देखने हेतु राजी करवा लिया। योद्धा ने बताया कि वह एक तीर से पीपल के वृक्ष के सभी पत्तों को बींध सकता है। श्रीकृष्ण ने एक पत्ता तोड़कर अपने पांव के नीचे रख लिया। बबरूभान ने जब तीर चलाया तो सभी पत्ते बींध गए। उन्होंने जब अपने पांव के नीचे का पत्ता उठाया तो वह भी बींध गया था। उन्हें उसकी शक्ति पर सन्देह न रहा। वे दोनों ब्राह्मण रूप में तो थे ही। बबरूभान की उन्होंने बहुत प्रशंसा की। मन में यह सोचने लगे कि यह युद्ध में लड़ा तो कौरवों की हार जीत में बदल सकती है। इसलिए उन्होंने एक चाल चली और वरदान रूप में उसका सिर मांग लिया। क्योंकि बबरूभान उन्हें वचन दे चुका था इसलिए उससे श्रीकृष्ण ने उसका सर मांग लिया। उसने कुछ सोचकर कहा कि हे ब्राह्मण मैं महाभारत का युद्ध देखना चाहता था क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण भी भाग ले रहे हैं। यह इच्छा उसकी कैसे पूरी होगी। श्रीकृष्ण ने उसे कहा कि ये दोनों इच्छाएं उसकी पूरी हो जाएंगी। इस पर बबरूभान ने भगवान श्रीकृष्ण को अपना सर दे दिया और उन्होंने उसे एक लम्बी शहतीर में चूड़धार पर रख दिया।

महाभारत में विजय के पश्चात् अर्जुन को घमण्ड हो गया कि यह युद्ध उसने

जीता है। श्रीकृष्ण ने उसकी बात को भांप लिया। इस पर अर्जुन को साथ लेकर वह चूड़धार आए और बबरूभान के पास आकर उससे युद्ध के बारे में पूछा। बबरूभान ने कहा कि इस युद्ध में किसी की जीत नहीं हुई क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण की माया ही सारे कुरुक्षेत्र में फैली थी और वही युद्ध कर रहे थे। इस पर अर्जुन का घमण्ड स्वतः ही टूट गया और उसने श्रीकृष्ण से अपने विचार के लिए क्षमा मांगी। भगवान श्रीकृष्ण ने बबरूभान को मुक्ति दिलाई और कहा कि—"तुम अगले जन्म में देवता के रूप में पूजे जाओगे और यही स्थान तुम्हारे नाम से विख्यात होगा।" यह विश्वास किया जाता है कि श्रीगुल के रूप में बबरूभान ने ही जन्म लिया जिनका मन्दिर इस धार पर निर्मित किया गया। आज्ञमुर राक्षस जो भगवान शिव से बच गया था उसे भी श्रीगुल ने ही मारा था।

चूड़ेश्वर मन्दिर

देवता श्रीगुल का प्राचीन मन्दिर इसी धार पर निर्मित है जो अति प्राचीन माना जाता है। यह धार चूड़-चांदनी के नाम से विख्यात है और वर्ष भर इसकी चोटियां वर्फ से ढकी रहती हैं। समुद्रतल से 3647 मीटर की ऊंचाई पर स्थित यह स्थान अति रमणीक है। यह धार पूर्व में जिला शिमला व सिरमौर की सीमाओं के साथ लगती है। इसकी चोटि का ऊपरी भाग जिला शिमला में तथा निचला भाग जिला सिरमौर में आता है। यहां से चारों ओर के विहंगम दृश्य मन को आश्चर्य में डाल देते हैं। यहां से उत्तर प्रदेश में गंगा और बद्रीनाथ के दृश्य भी नजर आते हैं। इसका निचला भाग घने जंगलों से ढका है। ऊपरी भाग नंगा रहता है। इस पर विशाल चट्टानें है। शिखर पर भगवान की प्रतिमा स्थापित है। यह प्राचीन नहीं है। नोहरा के ग्राम पंचायत प्रधान श्री तुलसीराम चौहान द्वारा इस प्रतिमा को यहां स्थापित करवाया गया था। इस चोटी की गोदी में एक किलोमीटर नीचे प्राचीन चूड़ेश्वर मन्दिर स्थित है। यह श्रीगुल देवता का मन्दिर है जिसे धार के नाम पर चूड़ेश्वर कहा जाता है। साथ सराय है जिसके चार कमरे और एक रसोई है। यहां जो यात्री भ्रमण हेतु आते हैं इस सराय में ठहरकर भोजन बनाते हैं। यहीं पर एक आश्रम भी है जिसमें एक महात्मा-गण रहते हैं।

मूल मन्दिर वर्गाकार है जो एक मंजिला है। दरवाजा पूर्वोत्तर है। बाहर बरामदा है और छत तीन भाग में ढलवां है। यानि त्रिकोणी। शिखर पर पीतल का कलश सुशोभित है। लकड़ी से बने इस मन्दिर के बाहर-भीतर सुन्दर नक्काशी से निर्मित चित्र हैं। गर्भगृह लकड़ी का है जिसके मध्य शिवलिंग स्थापित है। इस धार को शिव स्थली भी माना जाता है क्योंकि श्रीगुल को बबरूभान के रूप में पिछले जन्म जो वरदान भगवान ने दिया यह मन्दिर उसी का प्रमाण हो सकता है। मन्दिर निर्माण के बारे में जोकथा प्रचलित है उसके अनुसार एक बार श्रीगुल एक गांव में चला गया। वहां दो भाई ब्राह्मण परिवार के थे। उसने उन दोनों को चूड़धार चलने के लिए कहा और

श्रीगुल के साथ वे दोनों चूड़धार चले आए। उसने मन्दिर की नींव हेतु एक लम्बी चारों तरफ लकीर खींची और तत्काल उस लकीर से असंख्य चोटियां चलने लग पड़ीं। दोनों भाइयों को श्रीगुल ने मन्दिर निर्माण हेतु कहा और इस तरह उन दोनों ने वहां इस मन्दिर का निर्माण किया। इन भाइयों के वंश से ही आज भी यहां पुजारी मौजूद हैं जो मन्दिर की देख-रेख करते रहते हैं। इस मन्दिर में वर्तमान में कुछ बढ़ोत्तरी की गई है।

बताया जाता है कि मन्दिर के पास पानी उपलब्ध नहीं था। श्रीगुल महाराज ने कालान्तर में अपने बल और शक्ति से यहां पानी पहुंचाया जो एक शीतल जल के रूप में एक बावड़ी में आज भी उपलब्ध है। इस जल को गंगा के समान पवित्र माना जाता है। यह चश्मा कभी भी नहीं सूखता। ऊपरी शिमला अर्थात् चौपाल क्षेत्र में यह परम्परा आज भी विद्यमान है कि लोग स्थानीय देवी-देवताओं के पास अपनी इच्छा पूरी होने पर उन्हें इस जल में स्नान करवाने का वचन देते हैं और विशेष अवसरों पर यहां देवताओं की प्रतिमाओं को पवित्र जल में स्नान हेतु लाया जाता है। आषाढ़ के महीने में यहां एक पर्व का आयोजन भी किया जाता है। ददाहू से इस धार का रास्ता 48 किलोमीटर का है। चौपाल से भी यहां का भ्रमण किया जा सकता है। यहां से पश्चिम की ओर हरिपुर धार और पूर्व की ओर चांदपुर धार के मनोरम परिदृश्य मन को मोह लेते हैं। भगवान शिव की तपोभूमि और देव श्रीगुल की स्थली चूड़धार में भ्रमण करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने आपको धन्य समझता है।

जगन्नाथ मन्दिर नाहन

जगन्नाथ मन्दिर उतना ही प्राचीन माना जाता है जितना नाहन शहर। नाहन वर्तमान में सिरमौर जिले का मुख्यालय है। यह शहर शिवालिक की सुन्दर पहाड़ियों की गोद में बसा अति रमणीक है। जगन्नाथ मन्दिर शहर के मध्य भाग में निर्मित किया गया है। इस मन्दिर के सन्दर्भ में कुछ कहने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि "नाहन" शहर के जन्म के बारे में यहां क्या कथा प्रचलित है, उसका उल्लेख किया जाए। कहा जाता है कि जहां आज नाहन शहर बसा है वहां पहले एक घना जगल हुआ करता था। सन् 1916 ई० पूर्व राजा उदय प्रकाश के निधन के बाद राजा कर्म प्रकाश ने सत्ता सम्भाली। एक दिन राजा अपने साथियों सहित कलसी जहाँ रियासत की राजधानी हुआ करती थी, शिकार के अभियान पर निकल पड़ा। वह इस पहाड़ी पर पहुंच गया जहाँ नाहन शहर बसा है। वहां उसने देखा कि एक महात्मा दो शेरों सहित धुना लगाए बैठा है। राजा ने जब महात्मा को देखा तो श्रद्धापूर्वक उसने महात्मा को प्रणाम किया। अपना परिचय देकर राजा महात्मा के पास बैठ गया। महात्मा ने राजा को सलाह दी कि यदि वह कलसी से इस पहाड़ी पर अपनी राजधानी बदल दे तो यह उसकी और उसकी प्रजा के हित में होगा। राजा ने महात्मा की बात मान ली और कलसी से अपनी राजधानी यहां परिवर्तित कर ली। राजा ने उस महात्मा जिनका नाम

बाबा बनवारी दास था के आशीर्वाद से उसी स्थान पर जहां वह धुनी लगाए बैठा था अपना महल बना लिया। इसके बाद महात्मा को भी राजा ने महल में रहने के लिए अनुरोध किया लेकिन उन्होंने मना कर दिया। महल के साथ ही उस महात्मा ने अपना निवास-स्थान बना लिया। यहां एक गुफा है जो आज भी विद्यमान है। कहा जाता है कि वह महात्मा भी गुफा में दोनों शेरों के साथ रहा करता था। आज इस गुफा में उस जमाने के स्मृति चिन्ह भी मौजूद हैं। "नाहन" शब्द "नाहर" से बिगड़ा लगता है। "नाहर" शेरों को कहा जाता है और महात्मा के साथ रह रहे दोनों शेरों के नाम पर ही इस शहर का नाम नाहर से नाहन हुआ बताया जाता है।

इसी दौरान राजा कर्म प्रकाश ने जगन्नाथ मन्दिर महात्मा के लिए बनवाया था और उस महात्मा को अपनी रियासत का पहला महन्त नियुक्त किया था।

एक अन्य धारणा के अनुसार यह भी कहा जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण राजा किरत प्रकाश ने 1767 ई० पूर्व उस समय किया था जब उसने काश्मीर के राजा पर विजय प्राप्त की। उसी विजय का प्रतीक यह मन्दिर माना जाता है। यह सम्भव है कि नाहन के लिए जब राजा कर्म प्रकाश ने अपनी राजधानी बदली तो यहां महात्मा का अस्थायी निवास रहा हो और बाद में इसी जगह पर राजा किरत प्रकाश ने भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया हो क्योंकि यह तो स्वभाविक ही था कि जिस राजधानी की नींव बाबा बनवारी दास जैसे सिद्ध पुरुष के आशीर्वाद से हुई हो, भला उसे हिन्दु राजा कैसे भुला सकते हैं।

यह मन्दिर एक हवेली की तरह निर्मित है। मन्दिर के भीतर भगवान जगन्नाथ की प्रतिमा स्थापित है। मन्दिर की दीवारों में उत्कृष्ट कला को लिए भित्ति चित्र दर्शनीय है। वास्तव में इस मन्दिर का कला पक्ष बहुत ऊंचा है। इसे नाहन का आदि मन्दिर भी कहते हैं। यह इसलिए भी है कि यहां के सभी सांस्कृतिक एवं धार्मिक आयोजन इसी मन्दिर से प्रारम्भ होते हैं। नाहन का यह धार्मिक स्थान ही नहीं एक सांस्कृतिक केन्द्र भी हैं।

कालीस्थान मन्दिर

कालीस्थान मन्दिर मां दुर्गा को समर्पित है। मन्दिर नाहन फाउण्ड्री के बिल्कुल साथ बना है। राजा भूप प्रकाश का निधन 1713 ई० पूर्व जब हुआ तो इस रियासत का शासन उनके बेटे राजा विजय प्रकाश के पास आ गया। यह राजा भी अपने पिता की तरह बहादुर और पराक्रमी था। इस राजा ने कुमाऊं रियासत के राजा कल्याण चन्द की पुत्री से विवाह किया। यह रानी धार्मिक प्रवृति की थी। बताया जाता है कि जब रानी अपने मायके से ससुराल आई तो वह अपने साथ काली मां की प्रतिमा भी लेती आई जिसे वह मायके में पूजा करती थी। राजा ने भी इस प्रतिमा को सम्मान दिया और नाहन में विशाल मन्दिर का निर्माण करके विधिपूर्वक इस प्रतिमा को मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया। काली की इस प्रतिमा के कारण ही मन्दिर का नामकरण "काली

स्थान" अर्थात् "मां काली के रहने का स्थल" कर लिया गया जो आज भी अपनी प्राचीनता की गाथा कहता हुआ उसी तरह नाहन शहर के मध्य अवस्थित है। इस राजा ने यहां 36 वर्षों तक राज्य किया और 1749 में उसका निधन हो गया। इसलिए कालीस्थान मन्दिर का निर्माण 1713 और 1749 के मध्य हुआ है।

मन्दिर अपनी भव्यता एवं कलापक्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। बड़े मन्दिर के साथ कई छोटे-छोटे मन्दिर भी स्थित हैं। इनमें चौबीस बहजी, शिव मन्दिर, देवी दुर्गा तथा हनुमान मन्दिर प्रमुख हैं। दशहरा उत्सव के दौरान यहां राजा सिरमौर का खड्ग सम्मानपूर्वक पूजा हेतु लाया जाता रहा है। नाहन का यह मन्दिर भी धार्मिक भावना के साथ-साथ सांस्कृतिक भावना से ओत-प्रोत है। यहां एक सांस्कृतिक महाविद्यालय भी है जहां से प्रतिवर्ष युवा लड़के एवं लड़कियां संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करके जाते हैं। नवरात्रों के दौरान यहां विशेष पूजा होती हैं। देवी के प्रति लोगों की अपार आस्था है। यह आस्था कालान्तर से चली आ रही है। इसी आस्था का प्रतीक यह मन्दिर आज लोक जीवन का अभिन्न अंग है जहां अति सुन्दर ढंग से धर्म और संस्कृति का सामन्जस्य सामाजिक सरोकार को उजागर किए हुए हैं।

महासू देव मन्दिर, सिओ

सिओ रेणुका तहसील का प्रमुख गांव हैं जहां महासू देवता का मन्दिर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित है। इस मन्दिर के नीचे गिरी नदी बहती है। मन्दिर दो मंजिला है जिसकी निचली मंजिल का दरवाजा उत्तर की ओर है और ऊपरी मंजिल में कोई दरवाजा नहीं है। यहां सीढ़ियों से प्रवेश किया जाता है। महासु देवता की मूर्ति मन्दिर के गर्भ गृह में हैं। इसके साथ कुछ अन्य प्रतिमाएं भी हैं। इसी मन्दिर में सिरमौर देवता की प्रतिमा भी रखी है। शिमलासन देवी की प्रतिमा सिरमौरी देवता के साथ ही है। मन्दिर वर्ष में तीन दिन ही खुलता हैं। ये दिन हैं रविवार, बुधवार और सक्रान्ति का दिन। प्रतिमाओं पर दूध चढ़ाने की प्रथा है। देबता के पुजारी पर कड़े नियम लागू रहते हैं। यदि उसके घर कोई मृत्यु या जन्म हो जाय तो मन्दिर बीस दिनों तक पूजा रहित रहता है।

महासु देवता के प्रकट होने की कथा के अनुसार यह कहा जाता है कि एक दिन एक ब्राह्मण को देवता ने दर्शन दिए और आदेश दिया कि वह सिओ गांव में महासु देवता का मन्दिर निर्मित करें। दूसरे दिन यह ब्राह्मण जब गिरी नदी के छोर पर गया तो वहां एक प्रतिमा को देखकर हतप्रद हो गया। उसने उस प्रतिमा को उठाया और मन्दिर बनाकर उसमें विधिवत स्थापना कर दी। महासू देवता की यही प्रतिमा मन्दिर के मध्य भाग में स्थापित हैं।

मन्दिर में महासुदेव का जागरा प्रमुख उत्सव माना जाता है। इस अवसर पर देवता को सजधज कर मन्दिर से बाहर निकाला जाता है और लोग श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं।

बिजट महाराज मन्दिर, बराईला

बराईला गांव तहसील राजगढ़ में राजगढ़ कस्बे से लगभग 24 कि० मी० की दूरी पर स्थित है। इसी गांव की पहाड़ी पर स्थित है प्राचीन बिजट महाराज का मन्दिर। मन्दिर के दो छः मंजिले भवन हैं जिन्हें "शाठी" और 'पाशी' के नाम से पुकारते हैं। ये दोनों मन्दिर भवन एक ही शैली में निर्मित हैं। महाराज बिजट एक ही मन्दिर में रहते हैं जहां उनकी प्रतिमाएं विद्यमान हैं। इस मन्दिर को "पाशी" कहते हैं। इसकी पहली तीन मंजिलों में कोई भी श्रद्धालु नहीं जाता। मुख्य मन्दिर का प्रवेश द्वार तीसरी मंजिल पर है। यहां सीढ़ियां लगाकर जाना पड़ता है। श्रद्धालुओं ने दरवाजे पर कई प्रकार के चांदी, पीतल, तांबे और साधारण धातु के सिक्के मेखों में लगाए हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है यह सिक्के लगाने की परम्परा मन्दिर निर्माण के समय से चली आ रही है।

इसी मंजिल से भीतर प्रवेश करके बिजट महाराज और अन्य प्राचीन प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। इसमें लगभग 25 से अधिक मूर्तियां रखी गई हैं जो अष्टधातु और पीतल की है। बिजट महाराज की प्रतिमा इन मूर्तियों के मध्य भाग में रहती है।

मुख्य मन्दिर के साथ दूसरे छः मंजिले भवन जिसे शाठी कहते हैं, को भण्डार के लिए प्रयुक्त किया जाता है। लोग नई फसल पर देवता को विभिन्न प्रकार का अनाज अर्पित करते हैं। विशेषतौर पर गेहूं और मक्की। इस अन्न को इस मन्दिर में बनाई गई एक खिड़की से भीतर डाला जाता है। केवल यही स्थान मन्दिर में ऐसा है जहां से भीतर अनाज डाला जाता है और आवश्यकता के समय बाहर निकाला जाता है। लोग यह अनुमान नहीं लगा सकते कि इसमें कितना अनाज संचित है और कब से हैं। यह कहा जाता है कि इस भण्डार कक्ष में कालान्तर से अनाज जमा है जो आज तक भी खराब नहीं हुआ है। इसका प्रयोग तभी किया जाता है जब गांव या परगने में कभी अकाल पड़ जाए या कोई अन्य घटना घट जाए। फसलें नष्ट होने पर भी अनाज को लोगों में बांटा जाता है। श्रद्धालु देवता को अखरोट, बथ्थू और अन्य अनाज प्रसाद के रूप में अर्पित करते हैं। सोने, चांदी के गहने भी चढ़ाए जाते हैं। मनौतियां पूर्ण होने पर बकरों की बलियां दी जाती हैं।

पूजा यहां लोक वाद्य-यन्त्रों को वजाकर की जाती है। देवता के लिए ज्योति में केवल शुद्ध घी का ही प्रयोग होता है। गांव के लोग देवता को शुद्ध घी दान करते रहते हैं।

बिजट महाराज की यात्रा तीन दिनों तक प्रत्येक वर्ष आयोजित की जाती है जिसमें बहुत से लोग भाग लेते हैं। इस यात्रा में जाने का बहुत पुण्य समझा जाता है। यह यात्रा इस गांव से चूड़धार जाती है। यात्रा में बिजट महाराज की प्रतिमा को अत्यंत सुन्दर ढंग से सजाया जाता है। रास्ते में तीन स्थानों पर बलियां दी जाती हैं। चूड़धार पहुंचने पर देवता की प्रतिमा को वहां के निर्मल जल के चश्में में स्नान करवाए जाते हैं। यह यात्रा शीत ऋतु से पूर्व आयोजित होती है। यात्रा में देव गाथा भी सुनाई

जाती है जो अति रोचक है । इसमें जन्म से लेकर वर्तमान तक की कथा है । प्रत्येक तीसरे वर्ष भी एक पर्व यहां आयोजित किया जाता है जिसे अत्यन्त पारम्पारिक ढंग से मनाते हैं । इसमें लोक खेलों का आयोजन होता है । इसके अतिरिक्त कई अन्य मेले भी यहां मनाए जाते हैं । यहां के पूरे क्षेत्र में बिजट महाराज का आधिपत्य है । लोगों की देवता पर गहन आस्था है ।

बिजाई देवी बड़ौल

तहसील रेणुका के बड़ौल गांव में प्राचीन बिजाई देवी मन्दिर स्थित है । यह गांव हरिपुर धार से लगभग 7 किलोमीटर की दूरी पर बसा है । अर्थात् सोलन से लगभग 109 किलोमीटर । इस देवी को प्रसिद्ध देवता बिजट महाराज की बहिन बताया जाता है और सिरमौर के अधिकतर गांव में इसकी मान्यता कुल देवी के रूप में हैं ।

मन्दिर लकड़ी और पत्थर का बना है और तीन मंजिला है । देवी की प्रतिमा तीसरी मंजिल में हैं जहां तक सीढ़ियां लगी है । किसी समय इस मन्दिर के चारों तरफ विशाल दीवार हुआ करती थी जिसके कुछ चिन्ह अब भी देखे जा सकते हैं ।

देवी के प्रकट होने सम्बन्धी एक रोचक कथा बजुर्ग लोग अभी भी सुनाया करते हैं । बताया जाता है कि जब पहाड़ों पर राजाओं के राज हुआ करते थे तो इस क्षेत्र में ठाकुरों का बहुत बोलबाला था । इस गांव के साथ दो अन्य गांव बियोग तथा कोग बसे हैं । कोरग गांव में अधिकतर ठाकुर रहा करते हैं । इसी कोरग गांव के तत्कालीन ठाकुर शासकों ने एक दिन यह कार्यक्रम बनाया कि वे मिलकर एक अन्य गांव में जाएंगे और वहां लगी अदरक की फसल नष्ट कर आएंगे । यह इसलिए था क्योंकि इन ठाकुरों के साथ किसी समय उस गांव के लोगों ने धोखा धड़ी की थी और इसी कारण आपस में इन लोगों की लगती थी । एक रात इस गांव के लगभग 18 ठाकुर फसल नष्ट करने चल पड़े । वे सभी अपनी योजना में सफल हो गए और जब वापस आ रहे थे तो गांव के साथ बह रहे एक नाले में उन्हें तीन औरतें सुन्दर लिबास पहने मिली । उनके पास पानी के घड़े थे । वे सभी उन्हें देखकर हैरान रह गए कि इस वक्त इस शमशान में ये औरतें कहां से आ गई हैं । ईश्वर कृपा समझ कर जैसे ही वे आगे बढ़ने लगे उन तीनों ने उन्हें रोक लिया और कहा कि आगे चलकर यम, देवताओं की पूजा कर रहे हैं जहां तीन प्रतिमाएं रखी हैं । वे सभी वहां बिना भय के चले जाएं और उन तीनों प्रतिमाओं को उठाकर भागें । लेकिन यदि किसी ने भी मुड़कर पीछे देखा तो वह राख का ढेर हो जायेगा । यह कहकर वे तीनों लुप्त हो गई ।

ठाकुर हमेशा से अपनी बहादुरी के लिए प्रसिद्ध रहे हैं । इसलिए उन्होंने वैसा ही किया । जब वहां पहुंचे तो भयंकर शोर सुनाई दिया । देखा तो कुछ व्यक्ति पूजा कर रहे थे और सामने तीन मूर्तियां थी । उन्होंने झपटकर वे मूर्तियां उठाई और चले आए । उनके पीछे यम भाग गए लेकिन उन्हें दिखाई नहीं दिए । भयंकर शोर चारों तरफ था । पीछे से आवाजें आ रही थी । इन अठारह में से एक ने पीछे देख लिया और

वह वहीं राख का ढेर हो गया। इसी तरह 17 व्यक्ति अपनी गलती से राख का ढेर हो गए लेकिन जिसके पास मूर्तियां थी वह अपने गांव पहुंच गया और उसने गांव का बड़ा गेट बन्द कर दिया। गेट के बाहर ऐसा लगा कि हजारों लोग एकत्र हो गए हैं लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। धीरे-धीरे शोर थम गया।

दूसरे दिन यह बात चारों तरफ फैल गई। गांव के लोगों ने इस घटना को किसी देवता का चमत्कार माना। इसलिय यह तय हुआ कि इन मूर्तियों की पूजा ब्राह्मण परिवार का सदस्य करें और इस तरह बड़ौल गांव के एक परिवार को इसका कार्य सौंपा गया। वह परिवार तीनों प्रतिमाओं की नियमित पूजा करने लगा।

उसी दौरान चौपाल क्षेत्र से एक ब्राह्मण एक दिन उस गांव में भीक्षा मांगने पहुंचा। वह घूमते-फिरते इस पूजारी के घर पहुंच लिया जहां ये तीनों मूर्तियां रखी थी। पूजारी ने जब ब्राह्मण से यह पूछा की उसको कैसा दान चाहिए तो उस ब्राह्मण ने तीनों में से एक प्रतिमा को मांग लिया। पूजारी इनकार न कर सका और एक छोटी प्रतिमा उसे दे दी। ब्राह्मण ने उस प्रतिमा को अपने गांव लाया, उसकी प्रतिष्ठा की और धीरे-धीरे वहां विशाल मन्दिर बन गया। चौपाल के सराहन गांव का बिजट देवता इसी को माना जाता है और जो अन्य दो प्रतिमाएं बड़ौल गांव के मन्दिर में हैं उन्हें इस देवता की बहिनें माना जाता है। इसलिए बिजाई देवी से ही बिजट महाराज कहा गया है। लेकिन लोग इस देवी के नामकरण के बारे में कुछ सही तर्क देने में असमर्थ हैं।

देवी की पालकी है। यात्राओं में पालकी ही जाती है। बड़ा भण्डार है। वाद्य यंत्र हैं। जहां से ये मूर्तियां लाई थी, उस शमशान घाट की भी बहुत मान्यता हैं। लोग यह भी बताते हैं कि जिस व्यक्ति ने ये मूर्तियां लाई थी उसने यह शर्त रखी थी कि यदि वह कभी मर जाए तो उसे उस शमशान घाट में न जलाया जाए उसे इसके साथ कहीं भी जलाने के बजाए दफनाया जाए और जब वह व्यक्ति कभी मरा उसे जलाया नहीं गया।

यमुना मन्दिर, पांवटा

यमुना नदी के तट पर और गुरुद्वारा पांवटा साहिब के पीछे निर्मित यमुना मन्दिर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मन्दिर के पीछे ही एक पीपल का वृक्ष है जिसके नीचे दो पत्थर की प्रतिमाएं हैं। इनमें एक शंख की है और दूसरी की आकृति स्पष्ट नहीं है। पुरातात्विक दृष्टि से ये प्रतिमाएं महत्वपूर्ण हो सकती है। मन्दिर में निर्मित विभिन्न छोटे छोटे कक्षों में मां दुर्गा, भगवान शिव, गणेश और पार्वती, राधा कृष्ण, बजरंग बली की संगमरमरी प्रतिमाएं सुशोभित हैं। दीवार पर जटाधारी शकर तथा हनुमान की प्रतिमाएं लकड़ी तथा सीमेंट से बनी हैं। इसी मन्दिर में प्रतिवर्ष यमुना शरद महोत्सव का भी आयोजित होता है।

पांवटा साहिब का गुरुद्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। यह नाहन

से 45 कि०मी० दूर यमुना के तट पर स्थित है। दायीं छोर पर यह स्थल दर्शनीय है। कस्बे के भीतर ऐतिहासिक गुरुद्वारा सिक्खों की श्रद्धा का केन्द्र है। कहा जाता है कि सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी यहां रहे हैं और उसी कारण यह स्थान आज धार्मिक स्थल के रूप में पूजा जाता है। पांवट साहिब का नामकरण भी गुरु गोविन्दसिंह जी के कारण ही पड़ा माना जाता है। गुरु गोविन्द सिंह के इस भूमि पर पांव पड़ने से इस स्थान का पूर्व नाम पांवटिका था जो बाद में पांवटा से जाना जाने लगा। गुरु गोविन्द सिंह यमुना में निरन्तर स्नान किया करते थे और उन्होंने कई धार्मिक ग्रन्थ भी यमुना के तट पर बैठ कर लिखे हैं। यह भी कहा जाता है कि गुरु जी के पांव का गहना "पोंटा" एक दिन यमुना नदी में गिर गया और उसके बाद नहीं मिल पाया, तभी से इस स्थान का नाम पांवटा रखा गया।

इसके अतिरिक्त कस्बे में दो प्राचीन मन्दिर भगवान राम और भगवान कृष्ण जी के स्थित हैं। ये दोनों मन्दिर भी यमुना के तट पर स्थित हैं। भगवान राम के मन्दिर को "देई का मन्दिर" भी कहा जाता है। कहा जाता है कि इस मन्दिर को राजा रघुवीर प्रकाश की सपुत्री ने बनाया था। इस देई अर्थात रानी की स्मृति मूर्ति के रूप में मन्दिर में विद्यमान है। होली और बैशाखी मेले इस पवित्र स्थान के प्रसिद्ध मेले माने गए हैं। होला फागुन में और बैशाखी बैशाख में मनाए जाते हैं। बावनद्वादशी का मेला भी पांवटा का आकर्षण है।

भंगायणी मन्दिर

जिला सिरमौर में हरिपुर धार पर माता भंगायणी का प्राचीन मन्दिर स्थित है। शायद यह पहला मन्दिर है जहां निम्न वर्ग (जाति) की एक नारी की समस्त हिन्दू समाज पूजा करता है। हरिपुर धार समुद्रतल से 2138 मीटर की ऊंचाई पर है। इस मन्दिर निर्माण से रोचक कथा जुड़ी है। कहा जाता है कि श्रीगुल महाराज अक्सर दिल्ली जाया करते थे। एक बार श्रीगुल को किसी कारण दिल्ली कैद कर लिया गया। राजस्थान के महात्मा गुग्गा महाराज ने श्रीगुल को कैद से मुक्त करवाने के लिए प्रयास किए। यह प्रयास जेल में कार्यरत एक भंगिनी के द्वारा पूर्ण हुआ। इस महिला ने श्रीगुल को कैद से मुक्त करवाने के लिए भरपूर सहायता की। क्योंकि जेल में वह महिला कार्यरत थी इसलिए इसके बाद उसका यहां रहना खतरे से खाली नहीं था। श्रीगुल इस महिला को अपने साथ लाया और इसके स्नेहभाव को देखते हुए हरिपुर धार में इसे बसा दिया जहां आज माता भगायणी के नाम से हजारों लोग नतमस्तक होते हैं और मन्दिर में भ्रमण करते हैं।

सिक्खों के लिए यह स्थान ऐतिहासिक महत्व रखता है। भगायणी नाम से यहां एक गांव भी स्थित है जो पांवटा से 13 किलोमीटर दूर है। गुरु गोविन्द सिंह ने यहां कई पहाड़ी रियासतों के राजाओं से युद्ध किया था और उन पर विजय प्राप्त की थी।

कटासन देवी मन्दिर

कटासन नाहन से लगभग 19 किलोमीटर दूर है। इस स्थान को "उत्तम वाला बड़ा वन" भी कहते हैं। यहीं पर कटासन देवी का प्राचीन मन्दिर स्थित है। यह स्थान धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। जिस वक्त पटियाला और सिरमौर के राजाओं के मध्य मैत्री हुई थी तो पटियाला का राजा सिरमौर रियासत को सुचारू रूप से चलाने के लिए जगत प्रकाश की सहायता हेतु सिरमौर आया। इसी मध्य गुलाम कादिर रोहिला ने अपनी सेना के साथ क्यारदा दून होते हुए प्रवेश करके सिरमौर रियासत के राजा पर आक्रमण कर दिया। ये फौजें कटासन में मिलीं जहां घोर युद्ध हुआ और गुलाम कादिर रोहिला की पराजय हुई और वह मारा गया। अपनी विजय के उपलक्ष्य में राजा ने कटासन में भगवती का मन्दिर निर्मित करवाया। मन्दिर के भीतर भगवान परशुराम और देवी की प्रतिमाएं हैं।

मन्दिर को 18वीं-19वीं शताब्दी का माना जाता है।

नागनौणा मन्दिर

नाग नौणा का प्राचीन मन्दिर पांवटा तहसील के पुरुवाला गांव में स्थित है। यह गांव पांवटा से लगभग 10 मील दूर बसा है। नागनौणा मन्दिर के सन्दर्भ में एक रोचक किवदंती प्रचलित है। कहा जाता है कि जब सिरमौर रियासत पानी में बह गई तो उसके साथ ही राजा का राजवंश भी नष्ट हो गया। परन्तु राज पुरोहित जो इस विनाश के बाद बच गया था राजस्थान गया और वहां से राजपरिवार के एक जोड़े को सिरमौर रियासत की शासन व्यवस्था को चलाने के लिए ले आया। रानी जो गर्भवती थी उसने जब पुत्र को जन्म दिया तो उसके साथ एक सांप ने भी जन्म ले लिया। यह जन्म नागनौणा स्थान में एक पेड़ के नीचे हुआ था। लेकिन सांप तत्काल मर गया। उसे वहीं जला दिया गया और उस जगह एक मन्दिर बनाया गया। रानी का वह पुत्र बाद में सिरमौर रियासत का राजा बन गया। नाहन उस समय सिरमौर की राजधानी बनी और वह वहां रहने लगा। उस राजवंश ने सिरमौर पर तब तक राज्य किया जब तक हिमाचल प्रदेश में सभी रियासतों का विलय न हो गया। इस राजवंश का यह नाग देवता "रक्षक" कहा जाता है। राजपरिवार इस नाग देवता को अपना कुल इष्ट मानते हैं। नाग देवता की मूर्ति लकड़ी की बनी है। रियासती काल में महाराजा सिरमौर नियमित इस मन्दिर में पूजा के लिए आया करता था। इस देवता की स्मृति में तभी से विजयदशमी के दिन मेला भी लगता है जिसे अब स्थानीय लोग आयोजित करते आ रहे हैं।

देवठी मंझगांव श्रीगुल मन्दिर

देवठी मंझगांव राजगढ़ की तहसील का एक प्रमुख गांव है। राजगढ़ से यह गांव लगभग 25 मील के करीब दूरी पर बसा है। यहां श्रीगुल का प्राचीन मन्दिर स्थित

है। यहां देवता की मुख्य प्रतिमा सोने की है जिसे चांदी के एक सिंहासन पर सम्मान-पूर्वक रखा गया है। देवता के लिए पालकी का प्रयोग किया जाता है। जब किसी गांव में किसी उत्सव या मनौती के लिए देवता मन्दिर से बाहर जाता है तो ये प्रतिमा पालकी में सजाकर ले जाई जाती है। बैशाखी के पावन अवसर पर इस गांव में मेला भी लगता है। प्रतिमा पर सोने का छतर सजा रहता है।

राजगढ़ तहसील में शाया, इन्डाघाट, लेऊनाला, चाखेल डुग्गीसेर, पालू, टिक्कर, बेड़ जमोली, दाहान, शमलोह, इत्यादि गांव में देव श्रीगुल के प्राचीन मन्दिर हैं। इनमें कुछ बड़े आकार के हैं तथा कुछेक की देहरियां ही गांव में निर्मित हैं।

मानल श्रीगुल मन्दिर

मानल गांव तहसील रेणुका में बसा है। यहां देव श्रीगुल का अति प्राचीन मन्दिर स्थित है। इस मन्दिर के निर्माण के बारे में लोगों में एक कथा प्रचलित है। बताया जाता है कि अपने चमत्कार से श्रीगुल ने एक बार एक पुतला बनाया और उसे एक चौड़े पात्र में रख कर साथ कुछ दीप जला दिए और उसे इस गांव के साथ बहने वाली खड्ड में प्रवाहित कर दिया। जब पात्र गांव की सीमा पर पहुंचा तो वहां एक राजपूत ने उसे देख लिया। उसने इसे भूत-प्रेत समझा और चुनौती दे दी। उस पात्र से उसके बाद यह आवाज आई कि वह देव श्रीगुल है और उस राजपूत का भला होगा यदि वह उसका मन्दिर अपने गांव में बना दे। इसके बाद वह राजपूत उसे सम्मान से अपने गांव ले आया और उसका मन्दिर बना कर उसे पूजने लग गया। धीरे-धीरे देवता का सम्मान बढ़ा और लोगों की श्रद्धा से मन्दिर का विस्तार हो गया। यह मन्दिर वर्गाकार है। तीन मंजिले इस मन्दिर के लिए सीढ़ियां लगाकर प्रवेश किया जाता है। देवता की बीच की मंजिल में सम्पत्ति भी विद्यमान है। मुख्य दरवाजे के बाहर बरामदा है। इसमें कुछ चित्र भी बनाए गए हैं। सबसे ऊपर की मंजिल में देव श्रीगुल की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह प्रतिमा सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से जड़ित रहती है। काष्ठ फलकों पर रखे श्रीगुल के 12 विग्रह दर्शनीय हैं। मन्दिर में देवता की कांस्य प्रतिमा है तथा इसे 17वीं-18वीं शताब्दी में निर्मित बताया जाता है।

इसके अतिरिक्त सिरमौर की प्रत्येक तहसील के ग्राम में देव श्रीगुल की पूजा की जाती है और देवता के मन्दिर निर्मित हैं।

10

किन्नौर

वह देश जो कालान्तर में बाणासुर के आधिपत्य में राजपूर्ण के नाम से रहा, जिसे कनौर, कनावर, कुनावर, कनोरिंग इत्यादि नामों से अलंकृत किया जाता रहा, चीनी के नाम से जो 1960 तक महासु जिले की एक तहसील रही, लामा लोग जिसे खुनु प्रदेश के नाम से भी पुकारते रहे, कुरपा और माऊन नाम से भी जाना जाता रहा, पौराणिक नदी शोणित/शताद्रू—वर्तमान सतलुज—जिसकी धरा को सदैव अपनी पवित्र लहरों से सींचा करती है बास्पा और स्पिति जिसमें अपना वर्चस्व समाप्त कर देती है, जिसकी चोटियां 750 मीटर से 7000 मीटर तक आसमान को स्पशर्ती चली जा रही है, जिस भूमि पर अनेक पापों से छुटकारा पाने की दृष्टि से आज भी लोग किन्नर-कैलाश के चारों ओर आठ दिनों की पैदल यात्रा अर्थात परिक्रमा करते हैं— जिसकी सम्पूर्ण भूमि और लोगों की रक्षा का भार भगवान शिव ने किन्नर कैलाश पर्वत पर खुद विराजमान होकर सम्भाला है, एवं जिस नैसर्गिक छटा से परिपूर्ण वसुन्धरा को महान पण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने किन्नर देश से अलंकृत किया है—वही क्षेत्र और पावन धरा आज हिमाचल प्रदेश का अति सुन्दर और सीमान्त जिला "किन्नौर" कहलाता है। और यह पूर्ण जिले के रूप में 1 मई, 1960 को हिमाचल का अंग बन गया।

यह जिला पूर्व में तिब्बत, दक्षिण में उत्तर प्रदेश का उत्तराकाशी क्षेत्र, और शिमला तथा रोहड़ू तहसील, दक्षिण-पश्चिम में शिमला, पश्चिम में कुल्लू तथा लाहौल-स्पिति तक फैला हुआ है। इसके अधिकतर गांव सतलुज, बास्पा और स्पिति नदियों के आर-पार बसे हैं। हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग अपना अधिकतर रास्ता इसी जिले में से होकर तय करता है। कल्पा किन्नौर का जिला मुख्यालय है। इसके आगे दुर्गम, विकट और बर्फ के ऊंचे पहाड़ हैं जिनके मध्य भारत की सुरक्षा सेनाएं अनेक कठिनाईयों से झूझती हुई हिमालय की तरह उत्तरी सीमाओं की रक्षा कर रही हैं।

इस जिले की यात्रा के लिए "इन्नर लाईन" परमिट की आवश्यकता होती है अन्यथा इस जिले में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसके बाद किन्नौर के लिए आप अपनी यात्रा प्रारम्भ कर सकते हैं। शिमला जिले की अन्तिम सीमा ज्यूरी से आगे चौरा

नामक गांव में समाप्त हो जाती है जहां से किन्नौर की सीमा शुरू हो जाती है। ज्यूरी सराहन के बिल्कुल नीचे स्थित है और सीमा तक आपका रास्ता लगभग 190 किलो-मीटर का है।

किन्नौर की सुन्दरता का वर्णन करना शब्दों में सम्भव नहीं है। इस जिले की संस्कृति अद्वितीय है। हर घर मन्दिर जैसा लगता है। यहां के प्रत्येक मकान की सजावट और उसमें लगे पत्थरों और लकड़ी पर की गई नक्काशी मन को मोह लेती है। यह कालान्तर से वर्तमान तक जिन्दा है। आज भी यदि कोई मकान किन्नौर के किसी गांव में बनता है तो अपनी परम्पराओं की सीमाओं में रहकर ही बनाया जाता है। उसी तरह की नक्काशी लकड़ी पर की जाती है। यहां की कुछ परम्पराएं प्राचीन हैं जो अन्य क्षेत्रों से मेल नहीं खाती। यह एक समझने और खोजने की बात हो सकती है लेकिन उपहास उड़ाने की नहीं। लोग देवताओं के लिए समर्पित हैं। कोई भी बात अपने देवता से पूछे बिना सम्भव नहीं हो पाती। संयुक्त रूप से यहां भी हिन्दू और बौद्ध धर्म का प्रभाव है। हिन्दू और बौद्ध मन्दिर साथ-साथ हैं। बाहर से इन मन्दिरों की बनावट से यह अनुमान लगाना कठिन है कि कौन सा मन्दिर हिन्दू देवता का है और कौन सा बौद्ध मठ। केवल भीतर प्रवेश करके ही यह अनुमान लगाया जा सकता है।

यहां के मेलों और त्यौहारों में एक अलग आकर्षण रहता है। अलग परम्परा और अलग पहचान। नृत्य ही लोगों का जीवन है। गर्मियों का मौसम जहां कड़े परि-श्रम के मध्य गुजरता है वहां सर्दियों के दिन नाचते-गाते खुशी-खुशी। लोग अति मृदु भाषी हैं जो किसी भी पथिक का मन मोह लेते हैं। कई बार तो यह मृदुलता ही इन भोले-भाले लोगों के जीवन में एक कड़वाहट घोल देती है जिससे यहां हर तरफ एक सहमा हुआ सा डर घुसा लगता है।

इस जिले के गांवों में कई प्राचीन मन्दिर हैं। विशाल रथ जिनके प्रतीक हैं। देवी-देवताओं के इन रथों में सोने और चांदी के कई मोहरें प्रतिष्ठित रहते हैं। कोई भी देवता बिना पशु बलि के इधर-उधर नहीं जाता। प्रत्येक कारदार और लोगों को एक विशेष देव नियम की परिधि में बन्धे रहना होता है।

चिलगोजे के पेड़ किन्नौर की अधिकतर भूमि को ढांपे हुए हैं। यही प्रकृति की ओर से उनके लिए नकदी फसल भी है। इसके अतिरिक्त ओगला, फफरा, बथ्थू और गेहूं की यहां मुख्य फसलें हैं। सेब, चूली, खुमानी, बग्गूगोशे यहां के फल हैं। सात महीनों की अवधि तो बर्फ पिघलने के इन्तजार में व्यतीत हो जाया करती है और बाकि बचे महीनों में ही किसान लोग काम-काज में व्यस्त होते हैं। अंगूर की शराब यहां का विशेष आकर्षण माना जा सकता है। वास्तव में जब यह अंगूरी स्त्री और पुरुषों के शरीर में मस्ती-उन्माद पैदा करती है तो स्वतः ही उनके पांव थिरकने लग जाते हैं जिसमें अपनी तरह का एक आनन्द है। यह नशा एक परिधि में बन्धा है जो उत्पात नहीं मचाता बल्कि एक तरह से यहां की संस्कृति को फलने-फूलने का अवसर प्रदान करता है।

अधिकतर मन्दिरों में इसी अंगूरी की "चर्नामृत" या प्रसाद आगन्तुकों को बांटा जाता है।

कालान्तर में यह पूर्ण "देश" बाणासुर के अधीन रहा। उसने हिरमा से राक्षसी विवाह किया और उनके अटारह पुत्र-पुत्रियां हुए। जिन्होंने बाद में किन्नर प्रदेश को आपस में बांट लिया और आज भी उन देवी-देवताओं के मन्दिर जगह-जगह स्थापित हैं। भले ही बाद में यहां बौद्ध प्रभाव पड़ा हो लेकिन मूलत: यही देवी-देवता यहां के प्रधान रूप से करता-धरता हैं। एक तरह से इन्हीं का यहां शासन है, अधिकार है-- जिन पर किसी बाहरी हस्तक्षेप का सवाल ही उत्पन्न नहीं होता।

ऐसे ही कुछ प्रमुख मन्दिरों का जिक्र यहां किया जा रहा है। वास्तव में किन्नौर के मन्दिरों को कुछ पन्नों में बांधना सम्भव नहीं हो सकता फिर भी एक प्रयास अवश्य हो सकता है।

बाणासुर

बाणासुर असुर देवता है। हिमाचल प्रदेश में किन्नौर और कुल्लू में ही इस देवता का उल्लेख मिलता है। किसी समय सम्पूर्ण किन्नौर क्षेत्र इस देवता के अधीन रहा और यह एक शक्तिशाली राजा के रूप में इस क्षेत्र में राज्य करता रहा। इसका प्रमाण समस्त किन्नौर जिले में स्थित देवी-देवताओं के मन्दिर हैं जिनमें बाणासुर के पुत्र-पुत्रियां ही आज देवी-देवता के रूप में पूजे जाते हैं। बाणासुर का कहीं अपना मन्दिर नहीं है लेकिन लोगों का विश्वास है कि वर्ष में एक बार बाणासुर की आत्मा हवा के रूप में इन मन्दिरों में प्रवेश करती है। ऐसा माना जाता है कि यह आत्मा अपने पुत्र-पुत्रियों को मिलने आती है। कई गाँवों में उस समय आंधी आ जाती है जिससे लोगों को पता चल जाता है कि बाणासुर की आत्मा आ रही है। इस आत्मा को वापिस भेजने के लिए परम्परागत ढंग से अनुष्ठान किए जाते हैं। कहीं-कहीं पर नमकीन हलुआ बनाकर बांटा जाता है और जब तूफान शान्त हो जाए तो ऐसा विश्वास किया जाता है कि आत्मा वापिस चली गई है।

बाणासुर ने हिरमा नामक राक्षसी से जबरदस्ती विवाह कर लिया था। सुंगरा गांव के पास एक गुफा है। विवाहोपरान्त बाणासुर कई सालों तक हिरमा के साथ वहीं रहा और उनके अटारह पुत्र पुत्रियां हुए। इनमें चण्डिका, चित्ररेखा, मेशुर, गूंगी देवी, ऊषा देवी, कम्बा, पिरागान, पोर परका, बड़ा कम्बा देवी, पुजाहरली, मेबर और पांच गूंगे भाई-बहिन मुख्य हैं जिनके जगह-जगह किन्नौर जनपद में मन्दिर स्थित हैं। चण्डिका को सबसे बड़ी और शक्तिशाली देवी माना गया है। जब ये भाई-बहिन बड़े हुए तो सम्पूर्ण किन्नर देश को इन्होंने आपस में बांट लिया था।

एक कथा के अनुसार कहा जाता है कि कालान्तर में किन्नर दो राज्यों में बंटा हुआ था। एक की राजधानी शोणितपुर थी – यही शोणितपुर आज सराहन नाम से प्रसिद्ध है—और दूसरी कामरू। इन दोनों राज्यों में आपसी बैर था जिससे सम्बन्धित

राजा आपस में युद्ध करते रहते। बताया जाता है कि एक बार बाणासुर ने किन्नर देश का राज्य सम्भाला और उसने अपनी राजधानी शोणितपुर से इस राज्य की देखरेख आरम्भ कर दी। वह काफी शक्तिशाली था। दूसरी तरफ इस दौरान कामरू का शासन तीन भाई चला रहे थे। ये भाई थे राजपूर्ण, देवपूर्ण और तपपूर्ण। जब बाणासुर की शक्ति के आगे उनका कोई प्रभाव न चला तो उन्होंने एक दिन किन्नर से बहने वाली एक नदी में हजारों मन जहर एकत्रित करके डाल दिया ताकि बाणासुर का समस्त राज्य समाप्त हो जाए। उन्होंने बदला तो ले लिया लेकिन यह नहीं सोचा कि इस जहर से न केवल बाणासुर का क्षेत्र बल्कि जहां से यह नदी बहती है वहाँ रह रहे लोग और पशु-पक्षी भी समाप्त हो जाएंगे। ऐसा ही हुआ। हजारों लोग मर गए। पशु और पक्षी खत्म हो गए। भयंकर अकाल पड़ गया। देवी-देवताओं ने इस पाप और कुकर्म के लिए उन तीनों भाइयों को शाप दिए जिससे उनमें कुष्ठ लग गई और उनका जीना भी दूभर हो गया।

बाणासुर को इसका बहुत दुख हुआ। वास्तव में वह शिवभक्त भी था। लोगों के साथ हुए इस अन्याय की पीड़ा ने उसका मन विचलित कर दिया। उसके राज्य में जल की कमी हो गई क्योंकि वह नदी सूख गई थी। उसने शिव की आराधना शुरू कर दी। इस पर भगवान शिव ने बाणासुर को आदेश दिए कि वह उत्तर की ओर चल पड़े। वह तप के बल से भूखा-प्यासा उसी तरफ चल पड़ा। कई दिनों की कठिन यात्रा के बाद वह एक झील के किनारे पहुँचा। यह मानसरोवर झील थी। वहाँ उसने समुद्र की तरह नजारा देखा। इस झील में पूर्व दिशा की तरफ से एक झरना गिर रहा था जिसका रंग पीला था। वास्तव में यह सांगपो नदी थी। वह यहाँ के विचित्र दृश्य को देखकर हैरान रह गया। लेकिन साथ-साथ उसके मन को शांति भी मिली। इस झील में उत्तर की ओर से जो झरना गिर रहा था उसका पानी नीला था। इन रंग-बिरंगे झरनों के कारण वह सरोवर एक अद्भुत दृश्य प्रस्तुत कर रहा था। कुछ देर बाद उसमें उथल-पुथल हुई। उस सरोवर का पानी आकाश की ओर बढ़ने लगा। बाणासुर यह देख कर कुछ प्रसन्न हुआ कि भगवान शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। पृथ्वी पर जो पाप फैला था उससे शिव भगवान भी दुःखी थे, बाणासुर को ऐसा प्रतीत हुआ। तभी उन्होंने पांव की ठोकर मारी और कैलाश पर्वत पृथ्वी पर जा गिरा। वह पर्वत तत्काल मान-सरोवर के एक किनारे प्रकट हो गया। उसे स्मरण आया कि वह यहाँ शिव के आदेश से आया है। इसलिए उसने स्थिति का गहराई से अध्ययन करना शुरू कर दिया। उसने देखा कि सरोवर में फिर भूचाल सा आ रहा है। सांगपो नदी का बहाव पूर्व-पश्चिम से बदल गया और पश्चिम-पूर्व की तरफ बहने के कारण मानसरोवर उसका स्रोत बन गया। इस तरह ब्रह्मपुत्र नदी का इसने रूप धारण कर लिया। लाल रंग के जल का बहाव दूसरी तरफ हुआ जो राकस ताल में जा गिरा और उसने सिन्धु नदी का रूप ले लिया। अब यहां केवल नीले रंग का जल बाकी रह गया था। बाणासुर जिस रास्ते से आया था इस जल ने वह दिशा ली। वह प्रसन्न हो गया कि भगवान ने उसे यह नदी दे

दी है। वह वापिस उसी मार्ग से अपने राज्य की ओर मुड़ गया। आगे वह था और पीछे नीले जल युक्त एक नदी जो निर्मल और शीतल थी। वहां से उसने शिपकी की तरफ रास्ता लिया जो उत्तर की तरफ था। इस तरह कड़छम होता हुआ वह अपनी राजधानी शोणितपुर पहुंच गया जहां उसने श्रद्धा से नदी को प्रणाम किया और कहा कि अब वह अपना रास्ता खुद खोज ले। वह अपनी राजधानी लौट आया तथा नदी ने आगे का रास्ता ले लिया। आज वही नदी सतलुज के नाम से विख्यात है।

यही नदी पौराणिक शतद्रु थी जो बाद में सतलुज नाम से जानी गई। किन्नर देश में इस नदी के प्रवेश से सुख-शान्ति फैल गई और लोग बाणासुर से प्रसन्न हो गए। परन्तु इस सफलता से बाणासुर को कुछ घमण्ड हो गया। उसने धीरे-धीरे अपना राज्य फैलाना आरम्भ कर दिया। इस तरह वह कुल्लू की तरफ राज्य करता हुआ मलाणा पहुंच गया। यहां उसके अत्याचारों से जब लोग दुखी हुए तो महर्षि जमदग्नि ने उसकी शक्ति को खत्म करके उसे वहां से भगा दिया था। इस तरह बाणासुर के राजत्व का पतन हो गया।

एक दूसरी घटना में शोणितपुर को राजपूर्ण से भी पुकारा जाता है। जिन तीन भाईयों का ऊपर कामरू राज्य में उल्लेख किया गया है, इस कथा में उन्हें शोणित पुर से जोड़ा जाता है। यहां वे तीन ब्राह्मण हैं। राजपूर्ण को बड़ा भाई बनाया गया है और बाणासुर को उसका मन्त्री। राज्य में बाणासुर से राजा के लोग घृणा करते थे इसलिए मन पर इस दुख को लेकर ही उसने राजा का विरोध किया था और उन्हें मार कर वह मानसरोवर की ओर चल दिया था। लेकिन पहली कथा इससे कहीं सशक्त लगती है। वैसे वर्तमान सराहन को ही शोणितपुर माना गया है। यहाँ भगवान कृष्ण का बाणासुर से युद्ध की कथा भी कही जाती है। यह उस समय की घटना है जब चित्ररेखा ने अपनी बहिन उषा की इच्छा पर भगवान कृष्ण जी के सुपुत्र अनिरुद्ध को पलंग समेत शोणितपुर उषा के महल में पहुँचा दिया था। हालांकि उनका बाद में विवाह हो गया था लेकिन श्री कृष्ण ने बाणासुर को राज्य छोड़ने पर विवश कर दिया और यहां से वह मानसरोवर की ओर चला गया।

सराहन में आज प्राचीन श्री भीमाकाली मन्दिर ही विद्यमान है। बाणासुर का न तो वहां कोई मन्दिर है न उसकी स्मृति में कोई चिह्न। केवल किन्नौर में ही बाणासुर का उल्लेख मिलता है। कुल्लू के मलाणा गाँव में बाणासुर की प्रतिमा इस बात को स्पष्ट करती है कि उसका शासन वहां रहा है। इसलिए पहली कथा ही उपयुक्त लगती है और उसी शासनकाल में ये छोटी घटनाएं भी उसके साथ घटी होंगी।

कुछ भी हो लेकिन बाणासुर का प्रभाव समस्त किन्नौर में है जहां उसके पुत्र-पुत्रियाँ राज्य कर रहे हैं।

चण्डिका देवी कोठी (कल्पा)

जिला किन्नौर के मुख्यालय कल्पा में श्री चण्डिका देवी का प्राचीन मन्दिर

स्थित है। वास्तव में मन्दिर किन्नौर के प्राचीन गाँव कोठी में निर्मित है जहाँ मुख्य बस योग्य मार्ग से एक किलोमीटर के करीब पैदल चलकर दर्शन किए जा सकते हैं। कोठी गाँव रिकांग पिओ तथा कल्पा के मध्य बसा है। शिमला से कल्पा की दूरी लगभग 260 किलोमीटर है तथा रिकांग पिओ 247 कि०मी०। अर्थात रिकांगपिओ से कल्पा 13 किलोमीटर आगे, समुद्रतल से 2900 मीटर की ऊंचाई पर और पिओ लगभग 2290 मीटर पर स्थित है। मन्दिर के लिए नजदीक मार्ग पिओ के बाजार से ही है। यह रास्ता गांव तक चढ़ाई वाला है जबकि कल्पा से पैदल काफी उतराई उतरनी पड़ती है।

हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर पवारी नामक स्थान सतलुज नदी के किनारे स्थित है। सतलुज नदी के बहाव के दाहिने छोर से किन्नर-कैलाश श्रृंखलाएं प्रारम्भ हो जाती हैं और बांई तरफ से लगभग सात किलोमीटर ऊपर ऊंचाई पर कल्पा और पिओ आते हैं। ये स्थान लिंक मार्ग पर हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग को छोड़ कर हैं।

तहसील कल्पा का कोठी गाँव कभी कोशथंपी नाम से भी जाना जाता रहा है। खेतों और बागीचों से घिरा यह गाँव अति सुन्दर है। गाँव की सीमा पर प्रवेश करते ही मन्दिर का विशाल गुम्बद जिसे हम बड़ा कलश भी कह सकते हैं दिखाई देता है। गाँव के मध्य भाग में यह मन्दिर चारों तरफ से पत्थर की दीवार और आवासीय घरों से घिरा है। मन्दिर परिसर के लिए दीवार के मध्य से गेट निर्मित किया गया है जिससे प्रवेश होकर मन्दिर के समक्ष पहुंचा जा सकता है। मन्दिर लकड़ी और पत्थर के मिश्रण से बना है जिस पर रंग-बिरंगी सुन्दर चित्रकारी मन को मोह लेती है। यह काफी विशाल और ऊंचा है।

देवी का विशाल रथ मन्दिर का मुख्य आकर्षण है। यह रथ मन्दिर के भीतर रखा रहता है जिस पर माता की सोने की प्रतिमाएं सुसज्जित रहती हैं। साथ और भी कई प्रतिमाएं हैं। स्थापित रूप में कोई भी मूर्ति नहीं है। क्योंकि इस क्षेत्र को शुआंग परगने से भी पुकारते हैं. इसलिए देवी का दूसरा नाम शुवांग चण्डिका भी है।

इस देवी को किन्नौर की सर्वाधिक शक्तिशाली और धनी देवी माना जाता है। इसे चालाक देवी से भी अलंकृत किया जाता है। मन्दिर में नियमित पूजा होती है तथा देवी की प्रतिमा को चार व्यक्ति पारम्परिक रिवाज से नचाते भी हैं।

लोक मान्यता के अनुसार यह देवी बाणासुर के अठारह पुत्र-पुत्रियों में से एक है। जैसा कि बाणासुर की कथा में बताया जा चुका है, हिरमा से उसने राक्षसी विवाह किया था जिससे ये पुत्र-पुत्रियां उत्पन्न हुए और बाद में इन्होने पूर्ण किन्नर प्रदेश को आपस में बांट लिया था। इनमें चण्डिका बड़ी थी जिससे उसे यह अधिकार दिया गया कि वही अपने भाई-बहिनों के मध्य क्षेत्र बाँट करे। बताया जाता है कि क्षेत्र बांट के समय चण्डिका ने किन्नौर का सर्वाधिक विशाल और उपजाऊ भाग अपनी वेणी के नीचे छुपा कर रख लिया था और बाकी सभी में बांट दिया। कोठी गाँव ही ऐसा क्षेत्र था। चण्डिका जब यहाँ रहने आई तो यहाँ एक ठाकुर का आधिपत्य था जिसे चण्डिका ने मार

दिया और स्थाई वास करने लगी। इसकी शक्ति से ओतप्रोत होकर इस क्षेत्र के लोगों ने इसे अपनी कुल देवी मान लिया और धीरे-धीरे देवी की प्रतिमाएं और रथ बना लिए गए। मन्दिर निर्माण हुआ और देवी को विधिवत रूप से स्वीकार कर उसे वहां स्थापित कर दिया गया। धीरे-धीरे देवी का भण्डार धन से भरने लगा जिससे यह देवी किन्नौर की सबसे धनी देवी बन गई। चण्डिका आज सोने और चांदी से लदी रहती है।

यह भी कथा कही जाती है कि जब चण्डिका यहाँ आई तो एक राक्षस वहां अपनी पत्नी सहित रहा करता था। चण्डिका का इससे घोर युद्ध हुआ और वह मारा गया। उसकी पत्नी विधवा हो गई। चण्डिका ने उसे अपने साथ ही रहने के लिए कहा और तमाम उम्र उसे अपना संरक्षण देने का वचन दे दिया। इसका प्रतीक उस राक्षसी पत्नी का वह मुहरा (प्रतिमा) है जो सदैव चण्डिका के रथ में लगा रहता है।

एक अन्य घटना में उस राक्षस का नाम होनू बताया जाता है। शक्तिशाली होने के कारण देवी चण्डिका को उसे मारने के लिए अपने पिता बाणासुर का सहयोग लेना पड़ा था। इस पर बाणासुर ने अपना त्रिशूल उसे मारा था जिससे उसकी मृत्यु हो गई थी। यह त्रिशूल आज भी रोपा गाँव में देवी रोपा के मन्दिर में "खण्डोमा" नाम से विद्यमान है जिसे किसी विशेष दिन बाहर निकाला जाता है। रोपा गाँव भी देवी चण्डिका का ही क्षेत्र है। यहाँ के लोग देवी को रोपा देवी से पूजते हैं। यहाँ भी देवी का रथ है। इस रथ को तीसरे वर्ष पूर्णतया शृंगारने की परम्परा रही है।

इन तीनों कथाओं से "त्रिशूल" और राक्षस की पत्नी का "मुहरा" ही ऐसे प्रामाणिक चिह्न हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि देवी चण्डिका से पूर्व अवश्य ही यहां किसी शक्तिशाली राक्षस या ठाकुर का राज्य रहा होगा। देवी को पशु बलि देने की परम्परा प्राचीन है।

मन्दिर के बाहर ऊपर की ओर एक अन्य मन्दिर चार दीवारी के भीतर निर्मित है। ऐसा लगता है कि इस मन्दिर को किसी विशेष अवसर पर ही खोला जाता है। इसे पांडव मन्दिर के नाम से जाना जाता है। मन्दिर जिस दीवार के भीतर निर्मित है उसके प्रवेश द्वार के साथ एक तालाब है जो आगे जाकर मन्दिर के द्वार को स्पर्श कर रहा है। इस तालाब में विचित्र मछलियां टहलती देखी जा सकती हैं। आगन्तुकों से ये सदैव किसी न किसी खाने की वस्तु की आशा लिए टहलती रहती हैं। लोगों का कहना है कि ये मछलियाँ पांडवों ने कालान्तर में यहाँ पाली थीं और उन्होंने ही इस मन्दिर को भी बनाया था। मन्दिर के दोनों तरफ लकड़ी के दो नालू बने हैं जिनमें से लगातार पानी प्रवाहित होता रहता है। इनके नीचे दो छोटे आकार के मन्दिर से हैं जिनमें प्रतिमाएं स्थापित हैं। किन्नर-कैलाश बिल्कुल समक्ष हैं इसलिए सूर्य देव जब सुबह उदय होते हैं तो उनकी पहली किरण सर्व-प्रथम दाहिनी तरफ की सूर्य प्रतिमा को स्पर्शती है। इस मन्दिर का इतिहास मानों उस जल के भीतर छिपा है और जब वहाँ आए दर्शनार्थियों को देख मछलियां मुंह खोले

उनकी तरफ भागती हैं तो ऐसा लगता है कि वह अतीत के सन्दर्भ में कुछ कहना चाहती हों। देखरेख उचित प्रकार न होने के कारण मन्दिर का अस्तित्व सुरक्षित नहीं है।

उषा देवी मन्दिर, निचार

तराण्डा और वांगतू के मध्य तहसील निचार में 'निचार' गांव स्थित है। पुराने हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर शिमला से यह गांव 208 किलोमीटर की दूरी पर समुद्रतल से 2111 मीटर की ऊंचाई पर है। इस गांव की प्रधान देवी उषा मानी जाती है। यह देवी भी हिरमा और बाणासुर की पुत्री है। क्षेत्र बांट में निचार का क्षेत्र इस देवी के हिस्से में आया बताया जाता है। इस मन्दिर के कुल मिलाकर चार मुख्य ढांचे हैं। मन्दिर क्षेत्र के लिए एक मुख्य गेट बना है। इस गेट में लकड़ी का दरवाजा लगा है जिस पर पीतल की एक बड़ी प्लेट लगी है। इस पर देवी-देवताओं की सुन्दर आकृतियां हैं। इस पर जो आकृतियां और शब्द अंकित हैं उन्हें एक स्थानीय कलाकार ने अंकित किया है। ये शब्द टांकरी, उर्दू और हिन्दी में हैं। गेट से भीतर प्रवेश करने पर दांई ओर एक दूसरा सुन्दर लकड़ी का भवन है जिसे खजाना कहते हैं। इसकी छत स्लेटों से बहुत ही सुन्दर ढंग से छवाई गई है। भवन में लकड़ी पर कुछ नक्काशी भी की गई है। यह भवन देवी के बहुमूल्य गहनों, वस्तुओं और मुखौटों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसके साथ ही एक मंजिला भवन है जिसमें सामने की ओर बरामदा है और पीछे एक और छोटी कोठरी है। इसकी भी स्लेट की छत है। इस कोठरी को 'दियोरिंग' कहते हैं। देवी के मुखौटे एक मेहराब में यहां रखे गए हैं। इन मुखौटों पर रंग-बिरंगे कपड़े सजावट के लिए रखे रहते हैं। 'देवोरिंग' के बिल्कुल नीचे के ढांचे को 'शू कोठि' कहा जाता है। इसकी पांच मंजिलें हैं जिनमें चार की एक-एक छत है तथा पांचवीं मंजिल में दो कमरे हैं। इसकी पहली मंजिल को जलाने की लकड़ी के लिए प्रयोग किया जाता है। दूसरी को रसोईघर के तौर पर। तीसरी मंजिल यहां हवन इत्यादि करने आए ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रहती है। चौथी मंजिल देवी का निवास स्थान माना जाता है जिसमे देवी की प्रतिमा है।

उषा देवी के सन्दर्भ में कई पौराणिक कथाएं कही जाती हैं। विष्णु-पुराण में उषा-अनिरुद्ध के विवाह का वर्णन मिलता है। उषा का अनिरुद्ध से विवाह भगवान श्री कृष्ण ने करवाया था। देवी चित्ररेखा उषा की सबसे प्यारी सहेली बताई जाती है। एक दिन उषा को स्वप्न में एक सुशील और सुन्दर युवक दिखाई दिया। उषा रात भर उस युवक के साथ वार्तालाप करती रही लेकिन सुबह जब उठी तो वहां कुछ भी नहीं था लेकिन स्वप्न में जो कुछ हुआ था वह उसे न भुला पाई और वह युवक उसे बार-बार याद आता रहा। उषा की सहेली चित्ररेखा ने जब उससे उदासी का कारण पूछा तो उसने सारा वृतान्त बता दिया। इस पर उषा को चित्ररेखा ने कुछ नहीं कहा और उसी दिन से वह उस युवक की तलाश में निकल पड़ी। वह मथुरा गई और वहां उसने उस युवक की तलाश की। एक दिन उसी तरह का सुन्दर युवक उसे मथुरा में सोया मिल

गया। उसने पहले ही अपनी सहेली से उस युवक के बारे में पूछ लिया था कि वह किस शक्ल का है। मथुरा में श्री कृष्ण का उस समय शासन था और वह युवक भी चित्रलेखा ने वहीं देखा। हालांकि वह जानती थी कि यदि उसने उस युवक का अपहरण कर लिया तो अवश्य श्री कृष्ण उसे तलाश करेंगे लेकिन उधर वह अपनी सहेली का दुःख भी नहीं देख सकती थी। इसलिए चित्ररेखा ने चारपाई सहित उस युवक को उठा लिया और ले आई।

तरण्डा देवी मन्दिर

निचार से 25 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है तरण्डा गांव, जहां श्री तरण्डा देवी का प्राचीन मन्दिर अवस्थित है। वास्तव में तरण्डा देवी नामकरण गांव के नाम से किया गया है जबकि यही देवी चित्ररेखा है। अर्थात बाणासुर की छोटी पुत्री और शायद यह क्षेत्र बांट में इस देवी को आया होगा। पुराणों में चित्ररेखा को जहां उषा की घनिष्ट सहेली माना गया है वहां किन्नर में इसे बाणासुर और हिरमा की सपुत्री से जाना जाता है। यह देवी कितनी प्रसिद्ध है और केवल कल्पनाओं से किसी भी जगह, स्थान व व्यक्ति का चित्र बनाने में देवी की निपुणता का पता अनिरुद्ध के काल्पनिक चित्र से लगाया जा सकता है जो बाद में सही रूप में पाया गया था और उषा से अनिरुद्ध विवाह भी चित्ररेखा के प्रयत्नों से ही सम्पन्न हुआ माना जाता है।

लोग इस गांव में देवी के जन्म की रोचक कथा सुनाते हैं। लोगों का मानना है कि लगभग छः सौ वर्ष पूर्व यह देवी यहां आई थी। एक ग्रामीण महिला जब पशुओं के साथ एक पहाड़ी पर निकल रही थी तो उसे एक ताम्बे की प्रतिमा दिखाई पड़ी। उसने वह प्रतिमा उठाई और साथ घर ले आई। उसने उसको देवी रूप समझकर पूजना आरम्भ कर दिया। बताया जाता है कि उस महिला का परिवार अनेक कष्टों से पीड़ित था जो बाद में देवी के पूजन से दुखों से मुक्त हो गया। साथ ही अन्य लोगों को भी देवी शक्ति से लाभ होने लगा जिससे दूर-दूर तक इस बात की चर्चा होने लगी और प्रतिमा के प्रति लोगों की श्रद्धा गहन होती गई।

इस परिवार ने इस प्रतिमा को अपने अन्न के भण्डार में रखा था और रात्रि को स्वतः ही वह कमरा प्रकाशमान हो जाया करता था। एक दिन गांव के किसी वृद्ध व्यक्ति ने सलाह दी कि घर में इतनी शक्तिपूर्ण प्रतिमा रखना उचित नहीं क्योंकि परिवार के भीतर स्वच्छता नहीं रह पाती इसलिए इस प्रतिमा को किसी स्वच्छ जगह रखना उचित होगा। यह बात सभी ने मान ली और उस परिवार के साथ अन्य लोगों ने एक मन्दिर निर्माण का निर्णय ले लिया। मन्दिर बनना शुरू हुआ और लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि जितना कार्य वह पहले दिन करके जाते उससे कई गुना स्वतः ही दूसरे दिन किया मिल जाता। इस तरह शीघ्र मन्दिर बन गया और उस प्रतिमा को विधिवत् मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया गया। धीरे-धीरे देवी का रथांग भी बनवाया गया। जिससे देवी दूसरे गांव में भी ले जाई जा सके। तभी से इस

देवी का दूर-दूर तक प्रभाव है।

हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर, जो तरण्डा ढांक को काटकर बनाया गया है, देवी का एक मन्दिर निर्मित है। यह मन्दिर किन्नौर जिले की सीमा पर है। सराहन के नीचे इसी मार्ग पर ज्यूरी नामक स्थान आता है जहां से 5 किलोमीटर आगे चोरा गांव का क्षेत्र लग जाता है। चोरा से आगे है निगुलसरी और एक किलोमीटर बाद आता है तरण्डा ढांक। इसी ढांक के ऊपर तरण्डा गांव बसा है। तरण्डा ढांक की कटाई आश्चर्यपूर्ण है। बिल्कुल साथ नीचे की ओर सतलुज तीव्र वेग से बह रही है। किन्नौर की ओर जाते हुए यहां बाईं ओर तरण्डा रज्जूमार्ग का दृश्य जितना भयंकर है उतना ही आकर्षक भी है। यह रज्जू मार्ग सतलुज के आर-पार सामान लाने-ले जाने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसी के साथ मन्दिर निर्मित किया गया है। बताया जाता है कि जब यहां से हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग निकाला जा रहा था तो मजदूरों को काफी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। इस जगह रोज वे जितना मलवा साफ कर जाते उससे कई गुना अधिक मलवा सुबह काम पर आने के वक्त उन्हें वहां पड़ा मिलता जिससे वह कई दिनों तक उसे उठाते जाते लेकिन सड़क का काम वहीं का वहीं रुका रहता। एक दिन स्थानीय किसी व्यक्ति ने यह किसी देवी शक्ति के कारण हुआ बताया। इससे मजदूरों ने तरण्डा मन्दिर में देवी के कारदारों को पूछा। देवी के पुजारी ने बताया कि जहां से यह मार्ग निकल रहा है वह क्षेत्र देवी का है। यह कार्य तभी ठीक हो सकता है यदि मार्ग के किनारे देवी का मन्दिर निर्मित हो और वहां देवी की प्रतिमा स्थापित की जाए। वैसा ही किया गया। जब मन्दिर निर्माण के साथ प्रतिमा स्थापित हुई तो उसके बाद कार्य बिल्कुल ठीक हुआ और मार्ग आगे निकल गया। वैसे इस ढांक के कटाव को देखकर आश्चर्य होता है और मन में एक विचार आता है कि इतना कठिन कार्य ईश्वर के आशीर्वाद से ही पूर्ण होना सम्भव है। वैसे भी इस हिन्दुस्तान तिब्बत मार्ग पर जगह-जगह उन स्थानों पर जो कठिन और भयंकर हैं वहां किसी-न-किसी शक्ति का मन्दिर बनाया गया है। इससे सेना के जवानों की देवी-देवताओं के प्रति आस्था का पता चलता है।

कामाख्या देवी और कामरू किला

श्री कामाख्या देवी कामरू गांव की निवासी मानी जाती है। कामरू सांगला का सर्वाधिक सुन्दर और प्रसिद्ध ऐतिहासिक गांव है जो विशालकाय पर्वतों की गोद में चट्टानों के ऊपर बसा है। समुद्रतल से इस गांव की ऊंचाई लगभग 3000 मीटर है। सांगला के मध्य से जो मार्ग छितकुल और रकछम के लिए जाता है, वहां से यह गांव पैदल लगभग डेढ़ किलोमीटर है। दूर से इस गांव के बिल्कुल ऊपर ताज जैसा स्थित कामरू किला मन को अपनी ओर खींच लेता है। सच पूछा जाए तो इसी किले के कारण इस गांव का महत्व और शोभा है।

इस किले को कामरू किले के नाम से जाना जाता है जो पांच मंजिला है। पत्थर और लकड़ी के कलात्मक सामंजस्य से निर्मित यह कला का भी उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। बताया जाता है कि रियासती काल में बुशहर रियासत के राजाओं की ताजपोशी इसी किले में हुआ करती थी। इस तरह पहले यह किला केवल राजाओं के काम-काज के लिए प्रयुक्त होता रहा है जिसमें श्री कामाख्या देवी वास करती हैं। कामाख्या देवी की प्रतिमा दूसरी मंजिल में स्थापित है और बाकी मंजिलें खाली रहती हैं। किले के बाहर एक खुला प्रांगण है जिसमें चारों तरफ दीवार निर्मित की गई है। इस प्रांगण में प्रवेश के लिए लकड़ी के विशाल दो गेट हैं। प्रवेश के उपरान्त मन्दिर के कारदार परम्परानुसार सर पर टोपी और कमर में ऊन या सूत का धागा बांधने पर ही भीतर जाने देते हैं। लेकिन किले के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति देवी के दर्शन नहीं कर सकता। कोई भी व्यक्ति दर्शन तभी कर सकता है यदि वह बलि के लिए एक बकरा भेंट कर दे। भ्रमण पर आए सैलानियों और अन्य लोगों के लिए यह बात सम्भव नहीं हो पाती, इसलिए उन्हें बाहर से ही इस किले के दर्शन करके लौटना पड़ता है। लेकिन कुछ प्रभावशाली लोग या ऐसे लोग जिन्हें स्थानीय कारदार जानते हों उन पर यह पाबन्दी नहीं है, ऐसा बताया जाता है।

प्रांगण में अलग-अलग स्थानों पर दो कोठियां बनी हैं। ये चारों तरफ से खुली हैं। बाहर बरामदा है। इस बरामदे में कोई भी व्यक्ति पांव नहीं रख सकता और न ही बैठ सकता है। ऐसा करने पर लोगों का कहना है कि तत्काल एक बकरा देना पड़ता है या फिर उस व्यक्ति को देवी का दोष लग जाता है। जब कभी श्री कामाख्या देवी किले से बाहर आती हैं और कामरू के बद्रीनाथ अपने मन्दिर से निकलते हैं तो वे इन कोठियों में ठहरते हैं। श्री कामाख्या देवी की मूर्ति को स्थायी रूप से श्रद्धालुओं के दर्शनार्थ एक कोठी में स्थापित भी किया गया है।

यह देवी आसाम से यहां लाई गई है। वहां कामरूप का विशाल मन्दिर बताया जाता है, वहीं से देवी की प्रतिमा यहां के वासियों ने लाई थी। लोगों को विशेष इस बारे कुछ भी मालूम नहीं है।

इसी गांव में श्री भीमाकाली का प्राचीन मन्दिर भी विद्यमान है। इस संदर्भ में एक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि रियासती काल में तिब्बत की सेना ने बास्पा घाटी पर कब्जा करने की दृष्टि से आक्रमण कर दिया था तथा कामरू व अन्य राजाओं को कामरू किला खाली करने की धमकी भी दी गई। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। कामरू पर जिस राजा का शासन था उसने अन्य रियासतों जिनमें चीनी मुख्य थी के राजाओं को भी आदेश दिए थे कि वे शत्रुओं की सहायता न करे लेकिन कुछेक ने शत्रुपक्ष ले लिया जिससे तिब्बती सेना ने चारों तरफ से कामरू का घेराव कर दिया। बताया जाता है कि उस वक्त श्री भीमाकाली ने उस आक्रमण को निष्फल बना दिया था और सेनाओं को मुंह की खाकर लौटना पड़ा। चीनी रियासत के राजा ने जो विद्रोह अपने ही खिलाफ किया उसे बाद में कामरू आकर भीमाकाली से

क्षमा याचना मांगनी पड़ी। तभी से यह परम्परा है कि जिन रियासतों ने शत्रुपक्ष लिया था उन्हें प्रति वर्ष यहां मेले में भाग लेने आना पड़ता है।

इस किले के बिल्कुल साथ नीचे की ओर दो अन्य प्राचीन मन्दिर दर्शनीय हैं। इन मन्दिरों का कलात्मक पक्ष उत्कृष्ट है। एक खुले प्रांगण के दोनों ओर निर्मित यह मन्दिर श्री बद्रीनाथ और बौद्ध भगवान को समर्पित हैं। मध्य में शू कोठी है यानि देव स्थान। श्री बद्रीनाथ जी कामरू के राजाधिपति हैं। वे कामरू के अतिरिक्त अन्य छः गांव पर भी शासन करते हैं। इनमें सांगला, चांसू, रकछम, छितकुल, शोंक इत्यादि मुख्य हैं। इन्हें 'तिशखुनंग' कहा जाता है। कालान्तर से परम्परा है कि जब भी कोई निर्णय किसी कार्य के प्रति कामरू में लिया जाता है तो उसकी सूचना इन गांवों को पहुंचा दी जाती है और सूचना पहुंचते ही इन गांवों के लोग कामरू में एकत्रित हो जाते हैं।

इन गांवों में जिन-जिन देवी-देवताओं के मन्दिर हैं उनके रथांग और प्रतिमाएं सर्दियों में फरवरी के महीने में कामरू लाए जाते हैं। यह पर्व देव मिलन के रूप में मनाया जाता है। दूर-दूर से अन्य लोग भी देवी-देवताओं के दर्शन करने उमड़ पड़ते हैं।

कामरू के श्री बद्रीनाथ जी वर्ष में या तीसरे वर्ष उत्तर प्रदेश अवश्य जाते हैं। इनके साथ बास्पा घाटी के अन्य सनातन धर्म के देवता भी जाते हैं। इस सन्दर्भ में कारदार और पण्डित लामा बद्रीनाथ मन्दिर में मुहूर्त निकालते हैं जिसकी सूचना पहले सभी देवी-देवताओं को दी जाती है और बाद में वहां से हिमाचल प्रदेश के मुख्य सचिव को सूचना पहुंचा दी जाती है। जैसे ही हि० प्र० के मुख्य सचिव इस सूचना को प्राप्त करते हैं वे उसी समय उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव से बात करते हैं और इस सन्दर्भ में उन्हें अवगत करवाते हैं। उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव भी उसी समय इस सूचना को वहां के बद्रीनाथ मन्दिर के कर्मचारियों को पहुंचा देते हैं। इस तरह जैसे ही सनातन धर्म के इन देवी-देवताओं का जलूस सीमा पर पहुंचता है तो पारम्परिक ढंग से वहां के देवतागण और कर्मचारी उन्हें सम्मानपूर्वक रहने के स्थान पर ले जाते हैं। यह परम्परा कालान्तर से चली आ रही है। इस यात्रा में केवल देवताओं के निशान ही ले जाए जाते हैं।

वास्तव में यहां की परम्पराएं बहुत प्राचीन और कठिन हैं जिन्हें समझने के लिए विस्तृत खोज की आवश्यकता है। देवी-देवता ही यहां लोगों के लिए सभी कुछ हैं। वे कदापि उनकी बातों और आदेशों को अनदेखा और अनसुना नहीं कर सकते। वे पूर्णतया उनके प्रति समर्पित हैं।

बेरिंग नाग मन्दिर, सांगला

बास्पा घाटी में बास्पा के छोर पर बसा प्राचीन सांगला गांव अति सुन्दर और प्रसिद्ध है। यह गांव सड़क से नीचे की ओर बसा है। सांगला बाजार से पैदल मार्ग इस

गांव के लिए चला गया है। समुद्रतल से 2621 मीटर की ऊंचाई पर यह गांव शिमला से लगभग 226 कि०मी० की दूरी पर बसा है। सांगला किन्नौर जिले का सर्वाधिक रमणीक स्थान माना जाता है। इस घाटी को छोटा काश्मीर भी कहा गया है। बास्पा नदी के दोनों छोर पर देवदारू, चूली, बेमी, अखरोट इत्यादि के वृक्ष, सेबों के बागीचे और समतल सुन्दर खेतों के परिदृश्य देखते ही बनते हैं। गर्मियों में जब फफरा, ओगला और बथ्थू की रंग-बिरंगी फसलें यौवन में होती हैं तो ये घाटी फलों से लदी दुल्हन-सी दीखती हैं।

शिमला से हिन्दुस्तान तिब्बत मार्ग के रास्ते करछम तक पहुंचकर दाईं ओर सांगला के लिए लिंक मार्ग है। यह मार्ग 18 कि०मी० लम्बा है, यानि सांगला तक। धीरे-धीरे बास्पा के छोर से सड़क पहाड़ों की गोद में घूमती हुई ऊपर चढ़ती जाती है। यह रास्ता अत्यन्त कठिन और भयावह है।

सांगला गांव के मध्य बेरिंग नाग का प्राचीन मन्दिर किन्नौर के अन्य मन्दिरों जैसा कलात्मक दृष्टि से सुन्दर है। मन्दिर के चारों तरफ रिहायशी घर हैं। बीच में खुला प्रांगण तथा एक चकोर पत्थर से छवाई गई कोठी है। इसमें कुछ देवता के निशान और नगाड़े इत्यादि रखे रहते हैं। बेरिंग नाग जब बाहर निकलता है तो उसका रथांग इस शकोठी में दर्शनार्थ रखा रहता है। रथांग पर बेरिंग नाग की प्रतिमा सजी रहती है। साथ अन्य मूर्तियां यानि मोहरे भी। आमतौर पर यह रथांग मन्दिर के भीतर रहता है। स्थायी प्रतिमा कोई भी नहीं है। रथ पर ही ये प्रतिमाएं सजी रहती हैं। इनमें कुछेक सोने की हैं और कुछ पीतल की। प्राचीन मन्दिर को लगभग 60 वर्ष पूर्व नया रूप दिया गया है। पुजारी के अनुसार नाग देवता के कुल 17 मोहरे हैं।

यह नाग बास्पा घाटी के बिल्कुल ऊपर बरार नामक स्थान से आया बताया जाता है। यहां एक पानी का तालाब है। इस मूल स्थान में बेरिंग नाग 5-6 सालों के बाद यात्रा पर जाता है। मन्दिर के बाहर एक छोटा बरामदा होता है जिस पर पांव रखना और बैठना मना है। इस परम्परा को तोड़ने वाले को एक बकरा वली हेतु देना पड़ता है।

बेरिंग नाग मन्दिर के दाहिनी तरफ कुनगा छोलिंग बौद्ध मठ है। इन सभी मन्दिरों में हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों का प्रभाव है। बेरिंग नाग मन्दिर के बाहर लकड़ी पर आकर्षक नक्काशी की गई है और सुन्दर स्लेटों से छवाया गया है। फुलैच देवताओं का प्रमुख त्योहार माना जाता है। यहां देव कार्य में मदिरा को बुरा नहीं मानते। ये भी परम्परा में शामिल रहती है। कुल मिलाकर इन मन्दिरों की परम्पराएं अति समृद्ध हैं।

छितकुल माठी मन्दिर

समुद्रतल से 3450 मीटर की ऊंचाई पर बसा छितकुल गांव सांगला से 26 कि०मी० दूर है। यह गांव सांगला तहसील के अन्तिम छोर पर है। सांगला से यहां

तक बास्पा नदी के साथ-साथ बस योग्य सड़क चली गई है।

इस गांव में देवी माठी के तीन मन्दिर निर्मित किए गए हैं। मुख्य मन्दिर अति प्राचीन माना जाता है जिसे लगभग 600 वर्ष पूर्व बनाया गया था। कहा जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण एक गढ़वाली ने किया था। मन्दिर बहुत सुन्दर है। देवी का चकोर रथांग अखरोट की लकड़ी का बना है। चारों तरफ से इसे सुन्दर कीमती वस्त्रों से ढका जाता है और ऊपर से याक की पूंछ के काले बाल लटके रहते हैं।

देवी के यहां आने सम्बन्धी कथा में बताया जाता है कि इस देवी ने कालान्तर में वृन्दावन से अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी। पहले यह देवी मथुरा और बद्रीनाथ होती हुई तिब्बत पहुंची। उसके बाद गढ़वाल चली आई। वहां से सिरमौर होती हुई सराहन आई तथा उसके बाद बरूआ खड्ड के किनारे कुछ दिन रुकी रही। यहां देवी ने एक राज्य देखा जो सात भागों में बंटा था। शाऊंग गांव में उस समय नारायण देव रहा करता था जिसे देवी का भतीजा कहा गया है। उसने उसे इस राज्य की सुरक्षा का भार सौंप दिया। उसके बाद वह चांसू गांव पहुंची। वहां भी उसने नारायण देवता को चांसू गांव का उत्तरदायित्व सौंप दिया। कामरू में देवी के पति श्री बद्रीनाथ पहले से ही कामरू किले में वास कर रहे थे। वहां रुककर देवी सांगला गांव आई जहां उसने वहां के वासी बेरिंग नाग को रूपिन घाटी का राज्य सौंप दिया। बटसेरी पहुंचने के बाद देवी छितकुल चली आई तथा वहां उसने अपना स्थायी निवास एक राजधानी के रूप में बना लिया और वहीं से सात राज्यों की निगरानी करने लगी। बताया जाता है कि देवी के यहां पहुंचने से पूर्व यह गांव वीरान-सा लगता था। लोगों के पास कुछ भी नहीं था लेकिन जब यह देवी यहां आई तो पशुओं को पर्याप्त घास पैदा होने लगी। खेतों में सालाना फसलें भरपूर उगने लगीं। दूध-घी की कमी नहीं रही और प्रत्येक परिवार सुखी रहने लगा। उस समय यह देवी वहां एक ग्रामीण में प्रवेश हुई और उस व्यक्ति ने अपने मुख से देवी के यहां आने की कथा कही। तभी से आज तक जहां वह कथा जिन्दा है देवी के प्रति लोगों की गहन आस्था है। लोग इसे अपने इष्ट देव के रूप में पूजते हैं।

मन्दिर लकड़ी से बना है। बीच-बीच में पत्थर का प्रयोग भी है। लकड़ी पर नक्काशी का उत्कृष्ट कार्य अवलोकनीय है।

मेशुर मन्दिर सुंगरा और थानंग

सुंगरा में मेशुर देवता का प्राचीन मन्दिर है। इसे सुंगरा महेश्वर के नाम से भी पुकारा जाता है। मेशुर शब्द 'महासुर' का ही बिगड़ा हुआ रूप है। तहसील निचार के भावा नगर से एक कि०मी० की दूरी पर यह मन्दिर स्थित है। 15 कि०मी० का रास्ता कल्पा-निचार सड़क से बस द्वारा व तीन कि०मी० का रास्ता पैदल तय करने के पश्चात् सुंगरा गांव में पहुंचा जा सकता है।

इस देवता को बाणासुर और हिरमा का पुत्र माना जाता है। किन्नौर क्षेत्र में

जब इन असुर देवताओं के मध्य क्षेत्र बांट हुई थी तो भाबा, चंगाव, मेबर क्षेत्र इन भाइयों के हिस्से आए थे। किन्नौर में तीन स्थानों पर मेशुर देवता के प्राचीन मन्दिर हैं। सुंगरा के अतिरिक्त ये गांव है थानंग और जोलोदा। सुंगरा का मन्दिर इनमें प्रसिद्ध माना जाता है। 'थानंग' का मन्दिर वास्तुशिल्प की दृष्टि से अभूतपूर्व माना जाता है और पेगोडा शैली में निर्मित यह भव्य मन्दिर सतलुज घाटी के वास्तुशिल्प के गुणों का प्रतिपादन करता है। इस शैली के मन्दिर पूर्णतया लकड़ी के बने होते हैं और यह मन्दिर भी लकड़ी का बना है। लकड़ी पर नक्काशी का उत्कृष्ट कार्य देखा जा सकता है। प्रांगण में एक टूटे हुए मन्दिर के अवशेष भी पड़े हैं। इसके पत्थर पर सुन्दर और उच्चकोटि का शिल्प है। एक शिवलिंग भी इसमें स्थापित है। इस मन्दिर का महत्व देवता के चमत्कारी होने के साथ भी अत्यधिक बढ़ जाता है।

सुंगरा महेश्वर को बहुत शक्तिशाली और चमत्कारी देवता के रूप में पूजा जाता है। पाण्डवों ने एक बार अपने भ्रमण के दौरान इस देवता को मारने के लिए एक विशाल पत्थर फेंका था लेकिन मान्यता है कि इस देवता ने उस पत्थर को फूंक ही मारकर तोड़ डाला था। इस चट्टान का एक विशाल टुकड़ा आज भी यहां देखा जा सकता है।

क्षेत्र बांट के समय जब यह देवता सुंगरा रहने के लिए आया तो यहां उस समय एक ठाकुर रहा करता था। वह भी बड़ा पराक्रमी था। यहां आने पर उस ठाकुर से मेशुर का युद्ध हुआ और आखिर उस ठाकुर को वह गांव छोड़ना पड़ा। भागते हुए जब ठाकुर गरशू नामक धार पर पहुंचा तो मुड़कर अपने गांव को देखने लगा। उसे अपनी जन्मभूमि की बहुत याद आयी और उसकी आंखों से अनवरत आंसुओं की धारा बहने लगी। गांव में ठाकुर की विशाल कोठी स्थित थी। इसलिए उसने मन में संकल्प किया कि यदि उसका प्रेम अपने गांव से सच्चा है तो उसकी पगड़ी उस कोठी के शिखर पर लिपट जाएगी। इस पर ठाकुर ने उस धार से अपनी पगड़ी फेंकी जो उसकी कोठी पर जा चिपकी। सुंगरा मेशुर सभी देख रहा था। उसके मन में इस ठाकुर का स्नेह देखकर दया आ गई और उसने उस ठाकुर को अपने ही साथ इसी गांव में रहने के लिए स्वीकृति दे दी। गांव वाले लोग इस ठाकुर को भी देवता के रूप में पूजा करते हैं। किन्नौर जनपद का यह सबसे शक्तिशाली देवता माना गया है।

पीरी नाग सापनी

तहसील सांगला का सापनी अति सुन्दर गांव है। सतलुज और बास्पा नदियों के संगम पर करछम के बिल्कुल ऊपर पहाड़ी पर बसा यह गांव किल्बा से 11 कि० मी० की दूरी पर हैं। यहां से आगे चले जाने वाले हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग से यह मन्दिर 10 कि०मी० दूर है। मन्दिर तक लगभग 2-3 कि०मी० का रास्ता पैदल चढ़ना पड़ता है।

सापनी में नाग का मन्दिर एक मंजिला है। इस मन्दिर में पत्थर और लकड़ी

का प्रयोग हुआ है। गांव में इस नाग देवता के चार भवन विद्यमान हैं। जिनमें तीन एक जगह एक स्थान पर है और चौथा इन भवनों के कुछ दूर ऊपर है। देवता के लगभग 34 मोहरे 'मुखौटे' यहां मौजूद हैं जिनमें से कुछेक सोने के हैं, कुछ चांदी और अष्टधातु के बने हैं।

सापनी के नाग के बारे में कई रोचक कथाएं हैं। कालान्तर में तहसील निचार में स्थित गांव पोण्डा की एक लड़की बुआ गांव में ब्याही गई थी। इस गांव में पानी की बहुत कमी थी। एक दिन वह लड़की अपने मायके आई। पिता ने जब उसका उदास चेहरा देखा तो उसको दुख बताने के लिए कहा। इस पर उस लड़की ने अपने पिता से गांव में पानी की कमी का जिक्र किया। पिता ने उसे पानी के प्रबन्ध का आश्वासन दिया। जिस दिन वह लड़की ससुराल आने लगी तो उसके पिता ने उसे एक पिटारी दी और कहा कि वह अपने भण्डार में जाकर इस पिटारी को खोले और धूप जलाए। पिता ने उसमें सांप के बच्चे डाल दिए थे। ससुराल आते-आते उसने कई जगह जिज्ञासा से उस पिटारी को खोला और उससे जगह-जगह सांप के बच्चे निकलते रहे। आखिर में चार बच्चे उसमें बच गए। वह लड़की जब ससुराल पहुंची तो पिटारी को उसने भण्डार में रख दिया और धूप जला दिया। उसी समय उसका भण्डार पानी से भर गया। अब वह उसी से पानी भर लिया करती थी।

जब वह कई दिन गांव की औरतों के साथ पानी लेने नहीं आई तो एक ने एक दिन उससे इस बात का रहस्य पूछ लिया। उस लड़की ने सारा किस्सा उसे सुना डाला। वह ईर्ष्या से जलने लगी। इस पर उस औरत ने उस लड़की को बताया कि उस पानी से उसका घर ढह जाएगा इसलिए वह उन्हें वहां से भगा दे। ऐसा तभी सम्भव होगा यदि वह उन्हें कुत्ते की टट्टी की धूनी देगी। जब सांप बाहर निकलने लगे तो उन्हें वह दराट से काट दे। वह लड़की भोली थी उसने ऐसा ही किया। जब धूनी दी तो सांप भीतर से बाहर भागे और उसने वे दरवाजे पर दराट से काट दिए। उन सांपों का ढेर लग गया और उसने उस ढेर को किल्टे में उठाया और एक ढांक से नीचे गिरा दिया। वह हालांकि घर आ गई लेकिन वे सांपों के टुकड़े आपस में जुड़ते गए और एक बड़ा अजगर बन गया। वह सांप अब सापनी गांव से ऊपर चलने लगा और एक शिखर को काट दिया। दूसरी तरह एक जलाशय में वह रहने लगा जिसे 'दूलिंग' कहा जाता है।

यहां एक गडरिया भेड़ें चुगाने आता था। उसकी एक बकरी प्रतिदिन गुम हो जाया करती थी और तलाश करने पर वह उस जलाशय के किनारे मिलती थी। एक दिन उस गडरिए को क्रोध आ गया और उसने उसे उसी तालाब के पास काट दिया। कुछ तालाब में फेंकने के बाद कुछ मांस अपने पट्टू में बांधकर वह घर ले आया। जब खोला तो उसमें सोना था। इस पर वह वापिस जलाशय के पास पहुंचा वहां भी मांस का सोना बना था। उस सोने को भी उसने एकत्रित किया और इसे दैव्य शक्ति मानकर देवता का एक मोहरा बनाने के लिए वह उस सोने को सुनार के पास ले गया। लेकिन जब वह मूर्ति बनाता तो उसके तीन मुख बन जाते थे।

इस तरह एक मुहरे से सोने के तीन मोहरे बन गए जो वहां से उड़कर सापनी के किनारे आ गए। वहां उन्होंने अपने लिए तीन क्षेत्र बांटे। पहले ने ब्रुआ गांव लिया, दूसरे ने रोहड़ू तहसील का पेखा और छोटे ने सापनी गांव। यह धारणा है कि सांपों के कारण ही इस गांव का नामकरण सापनी हुआ है।

सापनी के पीछे एक विशाल झील है। इसे दूलिग नाग की झील कहते हैं। लोग इसे नाग देवताओं का गुप्त तीर्थ स्वीकारते हैं। यह झील प्रायः बर्फ से ढकी रहती है। सापनी का नाग देवता वहां जाया करता है। कहते हैं कि जब लोग नाग देवता को वहां ले जाते हैं तो बर्फ अपने आप हट जाती है। इस तरह लोग इस झील के दर्शन कर लेते हैं। यह स्थान यहां से बहुत दूर है।

सापनी मन्दिर के निकट एक किला भी है। यह किला लगभग 20 मीटर से ज्यादा ऊंचा है। इसे भीमाकाली किला और रानी गुगा कहकर पुकारा जाता है। पहले इसकी सात मंजिलें थीं जिनमें से दो टूट गई हैं। इस किले का वास्तुशिल्प अति उत्तम है। भीतर लकड़ी पर बारीकी से कलात्मक खुदाई हुई है। किला हालांकि जीर्ण अवस्था में है लेकिन पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

एक अन्य मान्यता के अनुसार सापनी गांव में बहुत पहले एक शक्तिशाली राजा या ठाकुर का अधिकार था। जिसने इस किले को बनाया था। उस शासक का नाम पीरी बताया जाता है। इसलिए ही इस किले को लोग पीरी का किला भी कहते थे। जिस नाग को यह गांव बांट में मिला उसने उस शासक पर विजय प्राप्त की और यही नाग पीरी का नाग कहलाया।

इस नाग देवता की यहां बहुत मान्यता है। मन्दिर में नाग का पुजारी नियमित पूजा करता है, दूर-दूर के क्षेत्र से लोग यहां श्रद्धासुमन अर्पित करने आते रहते हैं।

किन्नौर के अन्य कई गांव में नाग देवताओं के मन्दिर हैं। लेकिन उनमें अधिक मान्यता सापनी के नाग मन्दिर की ही मानी गई है।

•

ओरमिग देवता, मोरंग

रामपुर से 125 कि०मी० और शिमला से 262 कि०मी० की दूरी पर सतलुज नदी के बाएं किनारे के ऊपर मोरंग तहसील का ऐतिहासिक गांव 'मोरंग' समुद्रतल से 2591 मीटर की ऊंचाई पर बसा है। यह गांव प्राचीन कला और संस्कृति को संजोए हुए देव मन्दिर, बौद्ध मठ और पाण्डवों द्वारा निर्मित किले के लिए विख्यात है। लोगों का यह मत है कि पाण्डव इस गांव में बहुत अधिक समय तक रहे और उन्होंने अपने रहने के लिए ही एक रात में इस किले का निर्माण किया था। वैसे इस किले को देखकर ऐसा आभास होता है कि यह किसी राजा ने अपनी सुरक्षा हेतु बनाया था। अब यह किला स्थानीय देवता के आवास हेतु प्रयोग होता है। इस किले में देवता के मेहराब को ही रखा जाता है। वास्तव में देव ओरमिग मन्दिर के तीन आकार हैं जिन्हें थर्वारिग, ग्रामंग और शिलिग नाम से पुकारते हैं। जब कोई विशेष धार्मिक आयोजन होता है

तभी इस मेहराब को किले से इन स्थानों में लाया जाता है। देव ओरमिग के मेहराब के चांदी के 18 मुख हैं, जिनमें कुछेक सोने और पीतल के भी हैं। यह विश्वास किया जाता है कि देवता के ये 18 मुख महाभारत युद्ध के 18 दिनों के प्रतीक माने जाते हैं। देवता की नियमित पूजा की जाती है।

इस देवता के सन्दर्भ में यह मान्यता है कि एक बार मोरंग के लोगों और तिब्बतियों के बीच सीमा विवाद छिड़ गया। उस समय मोरंग में ठाकुर धर्मचन्द का शासन था। ओरमिग ठाकुर का सहयोगी हुआ करता था। सीमा विवाद को निपटाने ठाकुर, ओरमिग और गांव के लोग विवादाग्रस्त सीमा पर तिब्बतियों के साथ समझौता करने गए। लम्बी बातचीत के उपरान्त सीमा विवाद समाप्त हो गया। लेकिन कुछ दिनों के बाद ही ठाकुर धर्मचन्द और ओरमिग के मध्य झगड़ा हो गया जिससे ठाकुर मारा गया। लोगों ने ओरमिग को अपना शासक नियुक्त किया और एक विशाल मेले का आयोजन हुआ। लोगों का यह कहना भी है कि यह देवता पहले रोपा गांव में रहा करता था जहां से वह यहां आया है। कालान्तर में एक त्योहार के अवसर पर 12 सालों के बाद देवता रोपा जाया करता था और इस अवसर पर 108 बकरों की बली दी जाती थी।

मोरंग किले के निकट एक पुल है जिसके साथ भगवान शंकर की पिण्डी (लिंग) है जिसकी गहराई अनन्त मानी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व लोगों ने इस पिण्डी की गहराई मापने के लिए खुदाई भी की थी लेकिन खुदाई जितनी गहरी की गई इसका आकार उतना ही मोटा होता रहा। किले के गेट के समक्ष एक चबूतरा है तथा सामने आंगन— जिसे सत्संग का आंगन कहते हैं। यहां सर्दियों में मेला भी लगता है। किले के दरवाजे के सामने द्रोपदी की प्रतिमा है।

11

लाहौल-स्पिति

चन्द्रभागा की मिलन स्थली, और सर्वाधिक ऊंचे हिमशिखरों से आच्छादित लाहौल और स्पिति के मनहर प्रांतर को यदि प्रकृति का स्वर्गद्वार कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। दक्षिण में इस जिले का क्षेत्र कुल्लू और कांगड़ा से, पूर्व में किन्नौर तथा उत्तर लद्दाख से पश्चिम में यह चम्बा की सीमाओं से जुड़ा हुआ है। यह पूर्ण जिला विशालकाय पहाड़ी चोटियों और घाटियों से आबाद है। जैसे कि नाम से ही स्पष्ट है लाहौल और स्पिति दो अलग-अलग स्थान हैं अर्थात् क्षेत्र, जिनकी भौगोलिक स्थिति भी एक-दूसरे से अलग है। लाहौल जहां हरा-भरा क्षेत्र है वहां स्पिति घाटी रेतीले पठारों से सुसज्जित है। हरियाली का इस घाटी में अभाव है, जिससे लोगों का जनजीवन अति कठिन और संघर्षमय है। लेकिन इसके अतिरिक्त इस नंगे क्षेत्र को प्रकृति ने अनेक वरदान दिए हैं जो दुर्लभ हैं।

स्पिति, चन्द्रा और भागा इस जिले की प्रमुख नदियां हैं जो इस क्षेत्र के अस्तित्व को दो विपरीत दिशा में निर्धारित करती है। स्पिति का उद्गम स्थान कुन्जम दर्रा है, जो 4590 फुट की ऊंचाई पर स्थित है। स्पिति नदी यहीं से अपनी यात्रा पूर्व की ओर प्रारम्भ करके किन्नौर जिले में खाब के स्थान पर सतलुज में समाप्त कर देती है। कुन्जम से लगभग 7 किलोमीटर की दूरी पर हिमशिखरों के मध्य स्थित है सुन्दर चन्द्रताल झील-जहां से चन्द्रा नदी का भ्रमण शुरू होता है और तान्दी नामक स्थान में दूसरी नदी भागा एक मीलों लम्बा सफर करके इसमें मिल जाती है वहां इन दोनों नदियों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और एक नए नाम "चन्द्रभागा" के साथ त्रिलोकपुर और उदयपुर के बीचोबीच चम्बा में प्रवेश कर जाती है। यही नदी यहां पर चनाव है।

लाहुल क्षेत्र का उत्तरी भाग सर्वाधिक ऊंचे शिखरों वाला है। इनमें कुछ तो 7000 से 8000 मीटर तक ऊंचे हैं। यह भाग भी विशालकाय चट्टानों से भरा पड़ा है जिससे हरियाली लुप्त है लेकिन इसका दक्षिणी भाग नदियों और झरनों के कारण हराभरा है। लाहुल घाटी को "आलुओं की घाटी" कहा जाता है। यहां आलू की फसल अधिक होती है। इसके अतिरिक्त कूठ और कालाजीरा यहां की मुख्य नकदी फसलें हैं।

इन फसलों का मौसम वर्ष में चार महीनों का ही होता है, यानि अगस्त से नवम्बर तक। बाकी महीने यह क्षेत्र बर्फ से ढका रहता है। यही हाल स्पिति का है। लाहुल की अपेक्षा यहां का जनजीवन भिन्न लगता है। जौ और गेहूं यहां की मुख्य फसलें हैं। नकदी फसलों में मटर आते हैं। भूमि मरूस्थली है। यहां के कुछ गांव विश्व में सर्वाधिक ऊंचाई वाले गांवों में प्रमुख हैं। किब्बर ऐसा ही एक गांव है। यह लगभग 4825 मीटर की ऊंचाई पर बसा है।

गर्मियों के दिन इस क्षेत्र के लिए वरदान साबित होते हैं। क्योंकि पर्यटकों के साथ व्यापारी लोगों की भीड़ यहां लग जाती है। लाहुल विदेशी पर्यटकों के लिए खुला इसलिए इस क्षेत्र में विदेशी ट्रेकरों की भीड़ लगी रहती है जो लाहुल घाटी से होते हुए लद्दाख चले जाते हैं। स्पिति अभी विदेशी पर्यटकों के लिए बन्द है जिसे खोलने के प्रयास किए जा रहे हैं।

लाहुल और स्पिति के नामकरण के सन्दर्भ में स्पष्ट कहना कठिन है। लाहुल के नामकरण के बारे में कई भ्रान्तियां हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह नाम राहुल, जो भगवान बुद्ध का पुत्र था, उसके नाम पर पड़ा है। बौद्ध धर्म के कुछ ग्रंथों में "लाहुलवाद" का प्रयोग हुआ है। स्थानीय लोग इस नाम को एक अलग दृष्टि से स्पष्ट करते हैं। स्थानीय बोली में 'लायुल,' शब्द का अर्थ होता है—"देवताओं का स्थान"। यह माना जा सकता है कि यहां लोग लायुल शब्द इस पूरे क्षेत्र के लिए प्रयोग करते रहे हों जो बाद में "लाहुल" बन गया। वास्तव में कालान्तर में भगवान बुद्ध ने यहां बौद्ध धर्म का व्यापक स्तर पर प्रचार किया था और इसलिए ही लाहुल बौद्ध धर्म का केन्द्र भी रहा। यहां की प्राचीन बौद्ध गोम्पाएं जिनमें कारदंग, तायुल शशूर इत्यादि अति प्राचीन मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस घाटी में स्थित "त्रिलोकीनाथ मन्दिर" और "मां मृकुला देवी" के मन्दिर जहां अति प्राचीन है वहां इनका ऐतिहासिक दृष्टि से भी कम महत्व नहीं है। इनकी प्राचीनता से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये हिन्दुओं और बौद्धों के भक्ति केन्द्र रहे हैं। इस घाटी में आज भी बौद्ध धर्म के प्रति जो आस्था है वह अभूतपूर्व है और यहां स्थित संयुक्त धर्म के प्रतीक दो शक्तिपीठ "भगवान त्रिलोकीनाथ जी" और "मां श्री मृकुला देवी" प्राचीनकाल से धार्मिक केन्द्र रहे हैं।

यही बात "स्पिति" के नामकरण को लेकर भी कही जा सकती है। विद्वान चाहे कुछ भी तर्क क्यों न देते रहे हों लेकिन जो नामकरण का सपष्टीकरण यहां के निवासी देते हैं वह उचित जान पड़ता है। यहां की बोली में "सी" के मायने होते हैं "मणि" और "पीति" के मायने हैं "स्थान या घाटी"। यदि इन दोनों अक्षरों को मिला दें तो शब्द बन गया—"सीपीति"। यानि जिसका अर्थ हुआ "मणियों की घाटी"। "सीपीति" से "स्पिति" नाम कोई भ्रान्ति नहीं फैलाता और जहां तक प्रश्न है "मणियों की घाटी का" तो वह सत्य है। यहां के शिखरों और पठारों पर यहां के किसान और भेड़ बकरियों के पालने वाले जाते रहते हैं। सही अर्थों में उनका जीवन कटता ही इन पहाड़ों के बीच हैं। आज भी कई ऐसे किसान या बकरी पालने वाले मिलेंगे जिनके पास कई तरह के

हीरे—और कीमती पत्थर हैं। इन हिमशिखरों में हीरों और मणियों का होना आश्चर्य नहीं है—लेकिन यह दूसरी बात है कि ये कीमती वस्तुएँ आम लोगों की पकड़ से परे हैं।

वैसे भी यह घाटी कीमती जड़ी-बूटियों से भरी है। संस्कृति से सम्पन्न है और अपने धर्म के प्रति समर्पित हैं। दुर्गम होने के कारण यहां सभी आधुनिक सुविधाएं तो हैं लेकिन इस क्षेत्र ने अपनी प्राचीन धरोहर को सुरक्षित रखा है। स्पिति के प्रमुख बौद्ध केन्द्र तावो, की ओर डंकार आज भी हिमालय की "इलोरा और अजन्ता" से कम नहीं है।

लाहुल-स्पिति क्षेत्र में स्थित प्राचीन बौद्ध मठ अति प्राचीन हैं जिन पर कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। लेकिन मैं इन मठों को मन्दिरों की परिधि में नहीं बांधना चाहता। यहां कुछ ऐसे मन्दिर लिए गए हैं जो मूलतः हिन्दु मन्दिर हैं लेकिन बौद्ध धर्म के प्रभाव से भी अछूते नहीं है। इनमें हिन्दु और बौद्ध दोनों तरह के लोग बिना किसी अलग-थलग विचारधारा के श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

इस सीमान्त जिले के भ्रमण के लिए दो अलग-अलग मार्ग हैं। पहला मार्ग काफी लम्बा है जिसके लिए यात्रा शिमला से प्रारम्भ करनी होती है। शिमला जिले के पश्चात् किन्नौर में प्रवेश करके समदू नामक स्थान से स्पिति घाटी प्रारम्भ होती है। यह तभी सम्भव है यदि शिमला से चल कर यह यात्रा मनाली खत्म करनी हों। रास्ते में किन्नौर जिले का पूर्ण क्षेत्र भी आ जाता है। लेकिन इसके लिए इन्नर लाईन परमिट आवश्यक है।

दूसरा समीपस्थ मार्ग कुल्लू घाटी से है। मनाली से 51 किलोमीटर ऊंची चढ़ाई आपको 4050 मीटर ऊंचे रोहतांग पास ले जाती है। यहीं कुल्लू जिला आपका साथ छोड़ कर आपको लाहुल-स्पिति जिले की सीमा में छोड़ देता है। रोहतांग से अब उतराई है जो इस ऊंचाई से आपको 3140 मीटर नीचे ले जाती है। इस केन्द्र बिन्दु से दो क्षेत्र एक ही जिले के अलग-थलग पड़ जाते हैं यानि दाहिनी ओर स्पिति और बाईं ओर लाहुल। इस केन्द्र बिन्दु से जहां दो रास्ते अलग होते हैं लाहुल का पहला गांव कोकसर बसा है। इस गांव से लाहुल घाटी के लिए चन्द्र नदी आपको तांदी तक छोड़ती है। इसके बाद यह सड़क केलांग होती लेह-लद्दाख चली जाती है और स्पिति की ओर ग्राम्फू नामक स्थान से चन्द्रा के साथ आप कुन्जमपास तक जाते हैं और वहां से स्पिति नदी के साथ-साथ लोसर-काजा और तावो होते हुए समदू में इस जिले की सीमा समाप्त हो जाती है।

पंजाब के पुनर्गठन के समय 1 नवम्बर, 1966 को लाहुल-स्पिति को एक जिले का दर्जा मिला और यह हिमाचल प्रदेश का दूसरा सीमान्त जिला बन गया। वास्तव में यदि प्रकृति को बहुत करीब से देखना हो तो इस जिले का भ्रमण अवश्य जिन्दगी में अविस्मरणीय याद बन कर रह जायेगा। जहां कण-कण में भगवान का वास है, नदियों, झरनों और हिमशिखरों के अतिरिक्त यहां जैसे कोई नहीं बसता—हर तरफ प्रकृति

ही प्रकृति है—यानि जीवन का एक अलग ढंग, परम्पराएं और संस्कृति। स्पिति का मुख्यालय काज़ा और लाहौल का केलांग है।

त्रिलोकीनाथ मन्दिर

लाहौल घाटी में स्थित चन्द्राभागा के बाएं छोर पर पहाड़ों की गोद में त्रिलोकपुर गांव बसा है। तांदी से यह गांव 37 किमी० दूर है। केलांग उदयपुर मार्ग पर आड़त गांव से चन्द्राभागा पर निर्मित पुल को पार करके लिंक मार्ग से जुड़ा है जो इसी गांव के भीतर समाप्त होता है। आड़त से जहां मन्दिर 9 किमी० की दूरी पर है वहां उदयपुर 11 किलोमीटर।

कालान्तर में यह स्थान हिन्दुओं का प्रधान भक्ति केन्द्र रहा है और इसे प्रधान शैव पीठ का दर्जा प्राप्त था। वहां यही एक ऐसा मन्दिर है जो शिखर शैली में निर्मित है। इसके निर्माण में पूर्णतया पत्थर का प्रयोग हुआ है। मन्दिर गांव के भीतर चार दीवारी से घिरा सुरक्षित है। प्रांगण में संगमरमर की प्लेटें लगी हैं। मुख्य गेट से सीढ़ियां उतरने पर बांई तरफ बौद्ध मन्दिर है जिसमें विशाल धर्म चक्र स्थापित हैं। मुख्य मन्दिर के लिए दूसरा गेट बना है जिस पर दो पाप और पुण्य नाम से दोनों तरफ स्तम्भ लगे हैं। आम धारणा है कि जो इन स्तम्भों में से निकल जायेगा वह धार्मिक प्रवृत्ति का श्रेष्ठ व्यक्ति होता है। इनमें से भारी भरकम व्यक्ति भी निकल जाते हैं और पतले भी फंस जाते हैं। गर्भ गृह के बाहर विशाल हाल है जहां कई प्रतिमाएं और दीपक प्रज्जवलित हैं। जिस कक्ष में मूर्ति स्थापित है उसके चारों तरफ परिक्रमा पथ निर्मित हैं जिसमें बौद्ध धर्म के प्रतीक 208 माने अर्थात् धर्म चक्र तांबे के हैं।

श्री त्रिलोकीनाथ जी की मूर्ति छः भुजाओं वाली है। सर पर बौद्ध की आकृति हैं। वह मूर्ति सुन्दर आसन पर विद्यमान हैं जिसके सर पर सोने का छतर लगा है। इस छतर को ऊपर से एक-दूसरे बड़े छतर ने ढक रखा है। मूर्ति के ऊपर श्री गंगा जी की प्रतिमा हैं। दाहिनी ओर एक मण्डप निर्मित है जिस पर एक विशाल छतर लटका है जिसे लोहे के संगल से बांध रखा है। समक्ष भगवान गणेश जी की प्रतिमा हैं। सम्पूर्ण मन्दिर प्राचीन होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कला का नमूना है। त्रिलोकीनाथ यानि तीन लोकों के स्वामी को यहां अवलोकितेश्वर से भी पूजा जाता है। अब यह हिन्दुओं और बौद्धों का संयुक्त धर्म केन्द्र हैं। यानि बौद्ध इस प्रतिमा को अवलोकितेश्वर के रूप में पूजते हैं तथा हिन्दू भगवान शिव रूप में। विद्वानों का मानना है कि यह मन्दिर सातवीं शताब्दी के आसपास का बना है जिसका प्रारम्भिक रूप भगवान शिव ही हो सकता है। बाद में जैसे-जैसे यह क्षेत्र बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ। इस मन्दिर पर भी बौद्ध धर्म का प्रस्ताव पड़ा और यह दोनों धर्मों का संयुक्त शक्तिपीठ बन गया।

मन्दिर से जुड़ी एक धार्मिक कथा में कहा जाता है कि भगवान शिव ने यहां घोर तपस्या की है। वह यहां अज्ञात रूप से रहते थे। मां पारवती जी जब उनके न मिलने से चिन्तित हुई तो एक दिन नारदमुनि से यह बात कह दी और वे दोनों उन्हें ढूंढने निकलते हुए यहां पहुंच गए। यहीं पर भगवान शिव ने उन्हें अपने तीन विराट

रूप दिखाए थे जिससे इस धर्म केन्द्र का नाम श्री त्रिलोकीनाथ पड़ा।

इस मन्दिर के साथ एक लोक कथा जुड़ी है जो अत्यन्त रोचक है। बताया जाता है कि पहले इस गांव का नाम तुन्दा गांव था। यहां से एक किलोमीटर दूर हिन्सा गांव स्थित है। इस गांव में टिण्डणू नामक एक गरीब गडरिया रहा करता था जो आस-पास के गांव की भेड़ बकरियों को दिन भर दो-चार किलोमीटर दूर पहाड़ी पर चुगाने ले जाया करता और शाम को वापिस आ जाता। एक दिन गांव वालों ने उसे डांटा और कहा कि वह उनकी बकरियों का दूध चोरी से निकाल लेता है। वह आश्चर्य चकित रह गया। उसने लोगों से विनम्र भाव में कहा कि उसने ऐसा कभी नहीं किया है। लेकिन बकरियों को दुहने का क्रम चलता रहा जिससे एक दिन ग्राम निवासियों ने उसे खरी-खोटी सुना दी और साथ उसे चेतावनी भी दे दी कि यदि फिर ऐसा हुआ तो उसे गांव से बाहर निकाल दिया जाएगा। उसे कुछ पता न था कि आखिर यह बात क्या है। वह बहुत दुखी हो गया।

दुखी मन से वह फिर पूर्वरत बकरियों को चुगाने चला गया और गांव से दूर एक समतल पहाड़ी पर उसने उन्हें चुगने छोड़ दिया। यहां एक पानी का जलाशय भी था। खुद वह एक पत्थर के पीछे चोर को पकड़ने की आशा लिए छुप गया। कुछ देर बाद उसने देखा कि पानी के भीतर से सात मानव आकृतियां उभरीं और उन्होंने दुधारू भेड़ बकरियों का दूध पीना आरम्भ कर दिया। टिण्डणू पहले तो चकित रह गया लेकिन गांव वालों के अपमान का विष उसके हृदय को छननी कर रहा था। वह उठा और उन आकृतियों के पीछे भाग गया। उनमें से छः तो लुप्त हो गई लेकिन एक को उसने पकड़ लिया। वह मनुष्य रूप श्वेत वस्त्रों से सजा हुआ था। उसने टिण्डणू से बहुत आग्रह किया कि वह उसे छोड़ दे लेकिन वह एक न माना और पकड़ कर चिल्लाता हुआ गाव पहुंच गया। गांव में उसने सभी को बताया कि यही वह चोर है जो रोज बकरियों का दूध पिया करता था। गांव के लोगों ने जब उस आकृति को देखा तो वह समझ गए कि यह मानव न होकर कोई देव रूप है। उन्होंने अपने-अपने घरों से दूध-घी लाकर उसकी पूजा की ओर विनम्रता से पूछा कि आखिर आप हैं कौन। इस पर उस आकृति ने बताया कि वे तीन लोकों के स्वामी त्रिलोकनाथ हैं और अब वह इन्हीं पहाड़ियों की गोद में रहेंगे। इस तरह टिण्डणू को उन्होंने हिन्सा गांव से आगे चलने को कहा और उन्हें तुन्दा गांव पसन्द आ गया। लोगों ने उनका यहां भी स्वागत किया और उनकी हृदय से पूजा-अराधना की।

श्री त्रिलोकनाथ जी ने टिण्डणू को फिर वापिस उसी जगह जाने को कहा जहां वे छः आकृतियां लुप्त हो गई थीं कि वह उनकी पूजा करके वापिस आए लेकिन पीछे मुड़ कर न देखे। वह पूजा सामग्री लेकर वहां चला गया। उसने देखा की जहां-जहां से वह आकृतियां निकली थीं वहां सात शीतल जल के झरने प्रवाहित हो रहे हैं। इन्हें आज सप्तधारा के नाम से पूजा जाता है। टिण्डणू ने वहां उनकी पूजा की और वापिस चला आया। रास्ते में उसे लगा कि पीछे से हजारों लोग उसके साथ चल रहे हैं। लेकिन

उसने पीछे नहीं देखा। जब वह हिन्सा गांव पहुंचा तो उसने सोचा कि अब तो वह अपने गांव आ गया है, अब उसे पीछे देखने में कोई डर नहीं। उसने ज्यों ही पीछे देखा वह पत्थर बन गया और स्वयं श्री त्रिलोकनाथ जी भी जो पहले मनुष्य रूप में बातचीत करते थे। गांव वालों ने तदोपरान्त उनके लिए छोटा सा मन्दिर बनवा दिया। और नियमित उनकी पूजा होने लगी।

बताया जाता है कि बनवास काल में पाण्डवों ने इस मन्दिर को पुनः बनाने का बीड़ा उठाया लेकिन एक दिन कौरवों के गुप्तचर के इस क्षेत्र में होने की सम्भवना से वे यहां से मन्दिर का निर्माण कार्य अधूरा छोड़ कर चले गए। फिर समय-समय पर इस मन्दिर का जिर्णोद्धार होता रहा। पहले केवल बहुत कम लोग ही यहां दर्शन हेतु आ सकते थे क्योंकि मार्ग पैदल होता था लेकिन मनाली-केलांग-उदयपुर मार्ग बनने से यहां जैसे ही सड़क पहुंची तो यह शक्ति पीठ हजारों लोगों का श्रद्धा केन्द्र बन गया और तभी से गर्मियों में यहां हजारों लोग दर्शन हेतु आते रहते हैं।

यहां मेलों और यात्राओं का समय-समय पर आयोजन होता रहता है। लोहड़ी, फागली, कुह और बैसाखी के दिन भगवान श्री त्रिलोकीनाथ जी को दूध दही आदि से पवित्र स्नान कराया जाता है। हर तीसरे वर्ष जुलाई मास में भगवान श्री त्रिलोकनाथ जी की शोभा यात्रा त्रिलोकनाथ मन्दिर से सप्तधारा नामक स्थान तक निकाली जाती है। लोगों की धारणा है कि इस दिन भगवान अपने अन्य छः साथियों से मिलने यहां जाते हैं। वापसी में रास्ते के सभी गांव उनका भव्य स्वागत करते हैं। अगस्त मास में इन्हीं के नाम से यहां पोरी का मेला आयोजित किया जाता है।

मन्दिर के साथ कुछ भी घटना जुड़ी हो लेकिन जिस तरह आज यह भक्ति केन्द्र स्थानीय लोगों के साथ बाहर से भ्रमण करने वाले लोगों के आकर्षण का केन्द्र है उससे सहज ही इस मन्दिर की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में सही मानों में यह बताना कठिन है कि इस मन्दिर के साथ यहां स्थापित मूर्ति का निर्माण काल कौन सा है और समय-समय पर किस-किस ने इस मन्दिर का जिर्णोद्धार किया है।

शास्त्र में एक श्लोक में श्री त्रिलोकीनाथ जी का वर्णन मिलता है :

श्री जगत्पित्रे प्रजासन्तापहारिणे,
दिव्यरूपायश्रीत्रिलोकनाथाय नमः

महाकवि कालीदास जी ने भी अपनी पुस्तक "कुमारसम्भव" में यह वर्णन किया है कि हिमच्छादित गगन चुम्बी उतुंग शिखरों से आवृत एक छोटी सी लाहौल घाटी में भगवान श्री त्रिलोकनाथ जी कालान्तर से वास करते हैं।

मृकुला देवी मन्दिर

लाहौल घाटी से बह रही चन्द्रभागा के दाहिनी छोर पर एक गांव बसा है—उदयपुर, जिसे मयारनाला दो भागों में बांट देता है। यह नाला ऊंची पर्वत शृंखला से

बर्फ का जल लेकर उछल-कूद करता यहां चन्द्रभागा में मिल जाता है। इस गांव का पुरातन नाम मारगुल बताया गया है जो बाद में "मारगुल" से "मृकुला" पड़ा। लेकिन इस गांव के इतिहास में कई उतार-चढ़ाव आए। राजा उदय सिंह ने 1690 से 1720 तक यहां शासन किया और उन्हीं के नाम से यह गांव "उदयपुर" हो गया। लेकिन यहां स्थित देवी मन्दिर के नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और यह देवी कालान्तर से "श्री मृकुला देवी" के नाम से ही पूजी जाती रही।

यहां पहुंचने के लिए बस योग्य मार्ग निर्मित है। यह मार्ग कच्चा है। चन्द्रभागा की मिलन स्थली तांदी से यह स्थान 46 कि०मी० है। यहां से चन्द्रभागा के दाहिने छोर से चढ़ाई आरम्भ हो जाती है और एक किलोमीटर बाद पट्टन घाटी प्रारम्भ हो जाती है। इस 46 कि०मी० के रास्ते में कई सुन्दर गांव अवस्थिति है जिनमें ढोलग, किरतिंग, शनशा, मूरिंग, कांबरिंग, थिरोट, आड़त, जाहलमा और कुकुमसर प्रमुख हैं। इस रास्ते में अनेक छोटे-छोटे सर्पाकार श्वेत झरने मन को भावविभोर कर देते हैं।

उदयपुर बाजार से दांई तरफ एक पेड़ है जहां से श्री मृकुला देवी मन्दिर के लिए रास्ता चला गया है। यह पैदल रास्ता कुछ ही क्षणों का है। यह गांव के बिल्कुल ऊपर पहाड़ की गोद में स्थित है। मन्दिर के पहले गेट तक सीढ़ियां हैं। भीतर पहुंचने के बाद बांई तरफ के गेट से मन्दिर के हाल में पहुंचा जा सकता है। बिल्कुल समक्ष माता की विशाल प्रतिमा एक छोटी कोठरी में स्थापित है। इसे गर्भगृह भी कह सकते हैं। एक बार में दो-तीन लोग ही भीतर जा सकते हैं। इसका दरवाजा संकरा और छोटा सा है। चारों तरफ परिक्रमा पथ है। भीतर हाल में प्रवेश करने के बाद आदमी दीवारों पर निर्मित उत्कृष्ट और सूक्ष्म नक्काशी देख कर आश्चर्य-चकित रह जाएगा। यह चित्रकला अति दुलर्भ मानी जाती है। छत भी पूरी तरह से चित्रकला से भरपूर है। लकड़ी पर की गई इस चित्रकला के द्वारा कई धार्मिक कथाएं कही गई हैं जिनमें रामायण, महाभारत, कृष्ण लीला, भगवान शिव द्वारा तांडव नृत्य, नव ग्रह कथा, राजा बलि और राजा विराट की जीवनी प्रमुख हैं।

माता की अष्टधातु की प्राचीन प्रतिमा अवलोकनीय है। मूर्ति सुन्दर कपड़ों से ढकी रहती है। प्रतिमा के दाहिनी ओर कई त्रिशूलें भूमि में गड़ी हैं। मन्दिर में लामा पुजारी श्रद्धालुओं की बाहों में माता की ओर से आशीर्वाद स्वरूप पीले और लाल सिल्की कपड़े की डोरियां बांधता रहता है। इसे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मन्दिर पर हिन्दु तथा बौद्ध धर्म का मिश्रित प्रभाव है। मन्दिर हाल में एक विशाल दीपक सदैव प्रज्जवलित रहता है जिसमें कई किलो घी रोज जलता है। गर्भगृह टेढ़ा है यह भी धारणा है कि इस मन्दिर को एक रात्रि में बनाया गया था। वास्तव में सही निर्माणकाल का कोई प्रामाणिक दस्तावेज नहीं मिलता। विद्वानों का मत है कि यह मन्दिर आठवीं शताब्दी का हो सकता है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि इस मन्दिर को काश्मीर के राजा अनन्तदेव की महारानी सूर्यामती ने ग्याहरवीं शताब्दी में पुनः निर्मित करवाया क्योंकि मन्दिर कई जगह से जीर्ण-शीर्ण हो चुका था। इसके बाद लाहौल का

राजा लहाचोन उत्पाल इस मन्दिर की ओर आकृष्ट हुआ और उसने इसे मरीची बज्र-वराही के लामा मन्दिर में बदल दिया। और एक नया कक्ष बनवाकर भगवान बुद्ध के जीवन के अनेक वृतान्त लकड़ी पर चित्रित करवा दिए गए। लेकिन यह भाग अब यहां देखने को नहीं मिलता है। यहां के निवासियों का कहना है कि मन्दिर का यह कक्ष बर्फीले तूफान के कारण कई वर्ष पूर्व नष्ट हो गया था। कुछेक इसे देवी प्रकोप भी मानते हैं क्योंकि राजा ने इस मन्दिर के अस्तित्व को केवल बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्व देने का प्रयास दिया था।

मन्दिर की कला आदिकाल से सम्बन्धित है। जहां स्थित श्री मृकुला देवी से सम्बन्धित यह भी किवदन्ती रही है कि सोलवीं शताब्दी के मध्य चन्द्रबाह के कारीगर ने इस प्रतिमा को बनाया था। यह प्रतिमा 35 किलो से अधिक है और दो फुट ऊंची है। जहां हिन्दू इस प्रतिमा की पूजा श्री मृकुला देवी के नाम से करते हैं वहां लाहौल के बौद्ध "दोरजे फांग मों" (बज्र वराही) से मानते हैं।

वर्ष 1973 के अगस्त मास में इस मूर्ति की चोरी की गई थी। चम्बा में स्थित हरिराय मन्दिर से भगवान विष्णु की भव्य प्रतिमा के चुराने के ठीक एक वर्ष बाद इसकी चोरी हुई। पुलिस कई दिनों तक इस प्रतिमा की तलाश करती रही लेकिन एक दिन एक लामा ने उस प्रतिमा को मनाली में व्यास के तट पर पड़े देखा और उसे लाकर पुनः यहां स्थापित कर दिया। यह देवी चमत्कार से ही सम्भव हो पाया था।

उदयपुर पहले चम्बा रियासत का प्रमुख गांव था जिसे बाद में लाहौल-स्पिति जिला बनने पर लाहौल में शामिल कर लिया गया।

तांदी तीर्थ स्थल

तांदी का पवित्र एवं धार्मिक स्थान केलांग से पश्चिमी की ओर 6 किलोमीटर के लगभग समुद्रतल से 305 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। और केलांग-कोकसर मार्ग पर से ऊपर की ओर लगभग एक किलोमीटर। वास्तव में तांदी लाहुल घाटी का एक प्रसिद्ध और प्राचीन गांव माना जाता है। यह स्थान तांदी से दो किनारों से बहती हुई दो नदियों का संगम स्थल भी है। यहां एक बड़े पुल को पार करके केलांग और तांदी गांव को रास्ता चला जाता है।

इस स्थान के नामकरण के पीछे कई मान्यताएं हैं। एक कथा के अनुसार जब पाण्डव हिमालय भ्रमण के लिए अपने अन्तकाल में आए थे तो द्रोपदी थकी-हारी शिथिल होकर यहां गिर पड़ी थी जिससे उसका स्वर्गवास हो गया। उसका दाह संस्कार हिन्दू रीति के अनुसार इन नदियों के संगम पर किया गया था। इसलिए भी इस स्थान को एक तीर्थ का दर्जा प्राप्त है। दूसरी घटना के अनुसार लोगों का यह भी मानना है कि महर्षि वशिष्ट जी मनाली के किनारे गर्मपानी के चश्मों के साथ एक कुटिया में तपस्या किया करते थे। जब एक दिन उनका स्वर्गवास हुआ तो उन्होंने अपने शिष्यों को अपने शरीर का अन्तिम संस्कार इस संगम स्थल पर करने के लिए कहा था। ऋषि

का शरीर भी यहीं जलाया गया और इस स्थान को "तन देही" कह कर पुकारा जाने लगा और बाद में इससे बिगड़ कर इसे बोली के आसान प्रवाह में "तांदी" कहा जाने लगा।

तीसरी धारणा यह भी रही है कि प्राचीन काल में यह स्थान राजा राणा चान्द राम ने खोजा था और इस गांव को उस समय "चान्दी" के नाम से पुकारते थे जो बाद में समय-समय के साथ-साथ "तांदी" बन गया।

इस स्थान का जो महत्वपूर्ण पहलू है वह चन्द्रा और भाग का मिलन है, जिससे यह एक धार्मिक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध स्थल माना जाता है। एक कथानुसार कहा जाता है कि कालान्तर में चन्द्रा ओर भागा का आपसी स्नेह हो गया। चन्द्रा, चांद की पुत्री बताई जाती है और भागा, सूर्य देव का पुत्र। इन दोनों ने स्वर्ग लोक से मृत्युलोक में आकर विवाह करने का निश्चय किया। क्योंकि देवतागण इनके विवाह से सहमत नहीं थे। जब ये दोनों स्वर्गलोक से आए तो उन्होंने बारालाचा पर्वत श्रेणी से अलग-अलग रास्ते ले लिए। अर्थात चन्द्रा हिमखण्डों से जन्मी और प्रकट होने पर एक सुन्दर झील का रूप ले लिया। यह झील आज भी कुन्जम पास से लगभग 7 कि०मी० की दूरी पर "चन्द्रताल" से प्रख्यात है। भागा, बारालाचा पास के दूसरी तरफ से "सूरजदल" नामक झील के रूप में प्रकट होती हुई केलांग की विकट पहाड़ियों में से तांदी पहुंचती है। कहा जाता है कि चन्द्रा स्वभाव से चंचल और तीव्र है जिसने आसानी से अपना रास्ता बना लिया था और तांदी पहुंच कर भागा का इन्तजार करने लग पड़ी। भागा का रास्ता विकट था इसलिए उसे कड़ा संघर्ष करना पड़ा और कुछ देर के बाद वह तांदी पहुंच गया जहां उन दोनों ने विवाह करके एक-दूसरे में समाविष्ट कर लिया। यहां से एक रूप होकर यह नदी चन्द्रभागा बन गई। देव कन्या और देव पुत्र के इस मिलन स्थल को कालान्तर से धार्मिक तीर्थ का दर्जा प्राप्त है और यहां आज भी लोग अस्थि प्रवाह करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में इस नदी को गंगा जैसा पवित्र माना गया है।

तांदी पुल वास्तव में भागा नदी पर है, जहां से कुछ दूर ये दोनों नदियां मिल जाती है। दो प्रेमियों का यह मिलन दृश्य मन को उद्वेलित कर देता है। यहां आप विछोह का दर्द और एक अन्तराल के बाद पुन: मिलन का हर्ष महसूस कर सकते हैं। इस मिलन स्थली के साथ बेली और सफेदे के वृक्षों के मध्य एक-दो हिन्दू और बौद्ध स्मारक बने हैं। लेकिन इसका रख-रखाव कोई नहीं करता है। यहां गन्दगी के ढेर देखकर मन को अघात पहुंचता है। मुख्य सड़क के किनारे कुछ ढाबे और अन्य दूकाने हैं जो राह चलते लोगों को खाना खिलाते हैं और वाहनों की मरम्मत आदि करते हैं। लेकिन उनका ध्यान केवल अपनी दिनचर्या पर ही अधिक है। फिर भी चन्द्रा और भागा का मिलन दृश्य यह सिद्ध करता है कि यह वास्तव में एक पवित्र और धार्मिक स्थान है।

राजा घेपन मन्दिर

राजा घेपन लाहुल का सबसे बड़ा देवता माना जाता है। इस देवता का प्राचीन मन्दिर शिशु गांव में सड़क के साथ बना है। प्राचीन मन्दिर को नया रूप देकर अब नया मन्दिर बनाया गया है। देवता का निशान एक लम्बा शहतीर होता है जिसे कपड़ों से सजाया जाता है। यह गांव केलांग-कोकसर मार्ग पर समुद्रतल से 3100 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। केलांग से यह स्थान 29 किलोमीटर की दूरी पर है। कोकसर से केलांग जाते हुए सबसे पहला गांव शिशु ही आता है।

यहां इस देवता की जो परम्परा रही है उससे ऐसा स्पष्ट होता है कि यह नाग देवता है। इसे नागों का राजा भी माना जाता है। कुल्लू घाटी में जो अठारह नागों की कथा प्रचलित है, ऐसा लगता है कि यह नाग देवता भांदल में से निकल कर लाहुल पहुंच गया हो। लोगों की धारणा भी यही रही है कि प्राचीन समय में यह नाग शिशु गांव में पैदा हुआ था। नामकरण के बारे में एक लाहुली बोली के शब्द से अवश्य इस पर प्रकाश पड़ता है। 'ज्ञेपंग' एक शब्द है जिसका अर्थ 'पुण्य का त्याग' होता है। क्योंकि लाहुल में बोद्ध धर्म प्रचलित है जिनमें "अहिंसा परमों धर्म" का नियम लागू है लेकिन इसके बावजूद यह देवता पशुबलि स्वीकार करता हैं। लोग यहां पशु बलि देते है जिससे हो सकता है कि बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने ज्ञेपंग इसलिए ही राजा के मान को कम करने की दृष्टि से कहा हो और बाद में इस देवता का नाम घेपन हो गया हो।

इस देवता को कुछ लोग मलाणा में वास कर रहे श्री जमलू देवता का छोटा भाई भी मानते हैं। राजा घेपन के लाहुल में आने सम्बन्धी एक अन्य घटना के अनुसार यह कहा जाता है कि लाहुल पर बहुत पहले जब राक्षसों ने अत्याचार फैला रखा था तो इसी घेपन ने अपने बल से इस घाटी में राक्षसों का नाश किया था। लाहुल में जो फसलें आज होती है उनका बीज भी यही देवता यहां लाया है, ऐसा माना जाता है। क्योंकि राक्षस यहां अन्न का प्रवेश नहीं चाहते थे इसलिए जब घेपन यहां अन्न लेकर आया तो राक्षसों ने उसे रोक लिया। उसका घोर युद्ध हुआ। राक्षसों को मारकर भी उसने कुछ अनाज अपनी मुट्ठी में बचा लिया था। यह बीज जौ इत्यादि का था। इसलिए इस घाटी में बहुत कम अनाज होता है। बताया जाता है कि यहां बीज पहुंचाने और राक्षसों को भगाने में श्री जमलू देवता ने बहुत सहायता की थी। इसका प्रमाण यह भी है कि घेपन देवता एक यात्रा में मलाणा भी जाया करता है। यह यात्रा श्री जमलू के साथ मिलन के लिए आयोजित की जाती है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इस देवता का कोई रथ नहीं है केवल एक लम्बा शहतीर ही देवता का निशान माना जाता है। यात्रा के दौरान इस शहतीर को रंग-बिरंगे कपड़ों से सजाया जाता है और चोटि पर चांदी का छतर लगा रहता है।

यह यात्रा अत्यन्त शोभनीय होती है। यात्रा से पूर्व ग्रामवासी अपने-अपने घरों की अच्छी तरह से सफाई करते हैं। शुद्ध होकर देवता महाराज को सजाया जाता है। शहतीर को लोग कन्धों पर उठाते हैं और साथ अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्र होते हैं।

रास्ते में जगह-जगह देवता और लोगों का स्वागत होता है। यह देवता गोशाल गांव अवश्य जाता है। यहां गोशाल के नाग देवता जिसे काणा नाग भी कहते हैं का मन्दिर है जिससे देवता का सम्बन्ध माना जाता है। यहां जाने की बात इस तथ्य की पुष्टि भी करती है कि—घेपन नाग रूप है।

एक लम्बी यात्रा के बाद श्री घेपन मलाणा पहुंचता है। अब मलाणा के जमलू का छोटा भाई होना देवता के नाग रूप को नकार देता है क्योंकि जमलू देवता ऋषि जमदग्नि माने गए हैं। यहां लोग तीन लकड़ी के लम्बे शहतीर उसी तरह काटकर सजाते हैं जिन्हें मन्दिर के साथ एक जगह रखा जाता है। सुबह एक शहतीर स्वयं ही अलग हो जाता है। इसे ही फिर राजा या देवता घेपन का रथ माना जाता है। इसे पुनः सजाया जाता है। एक सिरे पर पगड़ी बांधी जाती है। वापसी यात्रा में अब इसी शहतीर को लोग कन्धों पर ले आते हैं। मन्दिर में आने के बाद प्रांगण में इसे जमीन में गाड़ दिया जाता है और उसकी रोज नियमित रूप से पुजारी पूजा करता है।

कुन्जम देवी

श्री कुन्जम देवी का मन्दिर कुन्जम पास के मध्य लगभग 15055 फुट अर्थात 4590 मीटर की ऊंचाई पर निर्मित किया गया है। ऐसा लगता है कि जब यहां से सड़क का निर्माण हुआ तो इस देवी के मन्दिर का निर्माण भी साथ-साथ किया गया क्योंकि पहले यहां एक पत्थर प्रतिमा और कुछ नुकीले पत्थर ही देवी के चिह्न थे। यहां आस-पास कोई गांव नहीं है। स्पिति घाटी का आखरी गांव लोसर यहां से 19 किलोमीटर है। यह काजा से किलांग की ओर आते हुए रास्ते में पड़ता है। यहां से लाहौल घाटी शुरू हो जाती है। स्पिति घाटी की विशाल नदी इसी पास से निकलती है। ग्राम्फू जो कोकसर गांव के साथ स्थित है वहां से मन्दिर 60 किलोमीटर दूर है। ये दोनों स्थान लाहौल घाटी में है।

इस देवी को बहुत शक्ति शाली माना गया है। काफी चढ़ाई के बाद जब कोई भी यात्री किसी भी वाहन में इस पास पर पहुंचता है तो दूर से ही मन्दिर पर लगे लाल-पीले झण्डे मन को आकर्षक लगते हैं। वाहनों को मन्दिर की परिक्रमा करना आवश्यक माना है। इस आशय को लेकर मुख्य मार्ग पर एक बोर्ड भी लगाया गया है। कहते हैं कि जो वाहन या व्यक्ति इस देवी की यहां आकर परिक्रमा नहीं करते उसके साथ कोई न कोई अप्रिय घटना घट जाती है। वैसे भी इस पास पर पहुंचते और यहां से जाते हुए मौत बहुत करीब रहती है। क्योंकि रास्ता अत्यन्त संकरा और कच्चा है। यहां भ्रमण करते हुए केवल ईश्वर या इन घाटियों में बसे देवी-देवताओं का ही सहारा रहता है।

मन्दिर सिमेंट का बना है। भीतर सामने दीवार में गर्भगृह है जहां काली पत्थर की प्रतिमा स्थापित है। यहां सिक्के और नोटों के ढेर लगे देखे जा सकते हैं। एक मान्यता यह भी है कि जिस व्यक्ति के सिक्के या नोट इस प्रतिमा में चिपक जाते हैं वह

हृदय से धार्मिक व्यक्ति होता है। लोग इस बात को लेकर यहां अपना भाग्य अजमाते हैं। वास्तव में यह श्री दुर्गा माँ का मन्दिर है, 'पास' के नाम पर इसे अब कुन्जम देवी कहते हैं। लाहुली में कुन्जम, किन जोम्म शब्द से बना लगता है। "किन" आईबैक्स को कहते हैं। यानि बर्फ में रहने वाला जानवर और "जोम्म" "एकत्रित होना"। इसलिए इस पूरे शब्द "किनजोम्म" का मतलब होता है "आई बैक्स के इकट्ठे होने का स्थान"। लोगों का कहना है कि बर्फ बारी पर इस पास में कई बर्फ के जानवर एकत्रित हो जाते हैं, इसलिए इस पास का नाम उसी से बिगड़ कर अब कुन्जम बन गया है और दुर्गा भगवती के मन्दिर के लिए भी यही नाम दिया गया है। काजा से यह स्थान 76 कि० मी० दूर है।